UNIVERSITY-SILVERJUBILEE-GRANTHAMĀLĀ

[Vol. 1]

BHĀVAPRAKĀŚANA–EKA SAMĀLOCANĀTMAKA ADHYAYANA

BY

DR. RAM RANG SHARMA

Head of the Sanskrit Department

D. A. V. Degree College, Varanasi

With A Foreword

BY

GAURINATH SASTRI

Vice-Chancellor

Sampurnanand Sanskrit University

VARANASI

1984

विश्वविद्यालय-रजतजयन्ती-ग्रन्थमाला

[प्रथम पुष्प]

भावप्रकाशन—
एक समालोचनात्मक अध्ययन

(A Critical Study of Bhāvaprakāśana)

लेखक एवं सम्पादक

डॉ. रामरङ्ग शर्मा

अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग

डी० ए० वी० डिग्री कालेज, वाराणसी

प्रस्तावनाकार

डॉ० गौरीनाथ शास्त्री

कुलपति,

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

२०४१ विक्रमाब्द | १९०५ शकाब्द | १९८४ खैस्ताब्द

समर्पण

माननीय श्यामलाल यादव

उपसभापति, राज्यसभा

को

सादर समर्पित

FOREWARD

We feel happy to write this Foreward to the present publication in the Silver Jubilee Series of our University. On the eve of the Silver Jubilee Celebrations it was decided to start a new series of our publications in which books written in Hindi would find place. This is a venture which received unstinted approbation.

The present work containing an enlightening dissertation on Śaradatanaya's Bhavaprakāśana, an important and useful work on Sanskrit Dramaturgy, inaugurates this new series. The writer of this work, Dr. Ram Rang Sharma, is noted for the depth of his scholarship in Indian Aesthetics and Dramaturgy.

The importance of the text is admitted by scholars working in the field of Sanskrit Dramaturgy as it enables them to obtain informations relating to the views of not a few of the authors' predecessors. The Nāṭyaśastra of Bharata is unquestionably the most authoritative text on Sanskrit Dramaturgy. And, we all know, the Daśarūpaka is another work on the subject that commands authority and respect, though it must be remembered that the intervening period runs into several centuries. The paucity of authoritative works on Sanskrit Dramaturgy and the profuseness of references to earlier authors and citations of their views are facts that have lent special interest and usefulness to the work of Śāradatanaya.

We hope, this present endeavour on the part of our Publication Department will usher in an era of inspiration for those scholars who desire to enrich the National Language by transmitting their knowledge acquired from a painstaking study of the cardinal texts of the classical language.

Gaurinath Sastri

उपोद्घातः

❀ ❀ ❀

अथायम्प्रस्तूयते शारदातनयस्य कृतेर्भावप्रकाशनस्य विषये स्वकीयभाव-सम्भारसञ्चयः। यद्यपि भारतीयवाङ्मयसमुपासकः सर्वोऽपि सुधीसमाजः शारदातनयेत्यनुपमामुपमां क्रोडीकरोति परन्तु तेष्वनुपमोऽयं शारदातनयेत्याख्यां दधानो भावप्रकाशनाभिधस्य महनीयग्रन्थस्य कर्ता। लोकः स्वाभिमतसिद्धये किं किं दुष्करं कर्म कर्तुं प्रसरत्पदो न दृश्यते। हंहो! एषा एव प्रवृत्तिः सुधीसमाजं गवेषणापथि प्रवर्तयति। कः कालिदासः, कदा कुत्र जनिमलभत, कस्तस्य देशः, कौ पितरौ, काश्च तस्य कृतय एवमादिविषयजातं गवेषयन् न क्वापि सुखं शेते गवेषणापथरतः साम्प्रतिको विद्वान्।

प्राचीनविदुषामेषा परम्परा यत्ते स्वकीयपरिचयादिविषये सर्वथा निःस्पृहाः सन्तो मौनमाकलयन्ति स्म, यतो हि कस्तूरिकाऽऽमोदस्य प्रचाराय कोऽपि श्रमः करणीयो न भवति, एतादृशेष्वेव विद्वत्तल्लजेषु सरस्वतीवरदपुत्रेषु शारदातनयस्याप्यन्यतमं स्थानं वर्वर्ति। शारदातनयस्यान्यतमा कृतिः समुपलभ्यते 'भावप्रकाशनम्' इति, अस्याः पर्यालोचनेन प्रतीयते यदयं सुकृती काश्मीरभिजनः खिष्टाब्दस्य त्रयोविंशतिशताब्द्याममुष्यजीवनस्य मध्यकाल इति।

आमूलचूलं भारतीयवाङ्मयं परिशील्य ततो लब्धज्ञानशेवधिरयं महापुरुषः स्वकीयं ग्रन्थरत्नं प्राणैषीत्। मतमतान्तराणामालोचनप्रसङ्गे महामतिरयं भोज-व्यास-वासुकि-नारद-रुद्रटाचार्य-मारुति-भरत-सदाशिव-मम्मट-अभिनवगुप्त-कोहल-सुबन्धु-सिंह-भूपाल-प्रभृतीनां सादरं नामोल्लेखं विहितवान्, सहैव एकविंशत्युत्तरग्रन्थकृतां कृतीनां प्रासङ्गिकैः समुद्धरणैः स्वकीयग्रन्थस्य कलेवरं स्फीतञ्चकार।

अर्वाचीनग्रन्थकृत्सु सिंहभूपालो 'रसार्णवसुधाकरे' अमुष्य मतं प्रमाणत्वेन निर्दिष्टवान्, सिंहभूपालस्य जीवनसमयः १३२० ई० प्रायो वर्तते, अतो भोज-भूपालयोर्मध्यकालिकोऽयं शारदातनयो नूनं त्रयोदश्यां शताब्द्यां भासमान आसीदिति कालविदां सम्मतं मतम्।

आचार्यभरतस्य नाट्यशास्त्राम्भोधेरवगाहनानन्तरं यदि कुत्रचिदेकत्र नाट्यविषयैः सम्पन्ना क्वापि तद्विषयिणी सामग्रीसमुपलभ्यते तर्हि तद् एकमेव ग्रन्थरत्नं भूतले चकास्ति 'भावप्रकाशनम्' नाम।

'गायकवाड ओरियण्टल सीरीज क्रम-सं० ४५, १९३० खिष्टाब्दे' प्रकाशिते संस्करणे तदीयेन सम्पादकेन ऐतिहासिकीं विस्तृतां भूमिकां विलिख्य ग्रन्थस्यास्योप-

योगिता चरमां सीमां गमिता, अतएव निश्चीयते यदमुष्य ग्रन्थस्य नाट्यविषयकग्रन्थेषु महत्त्वपूर्णं स्थानमस्तीति ।

दशसु अधिकारेषु विभक्तोऽयं ग्रन्थः परिवर्ति-नाट्यविषयक-ग्रन्थमालासु सुमेरुरिव विभ्राजमानः प्रथमाधिकारे भावविषयस्य प्रतिपादनाद् 'भावप्रकाशनम्' इति स्वकीयमभिधानं सार्थकतां गमयति । ग्रन्थेऽस्मिन् सर्वत्र नाट्यविषयिणी चर्चा प्रसरत्पदा सती कमपि भावगौरवमभिवर्धयन्त्यपि सप्तमाधिकारे—"सृष्टिकथनं, क्षेत्रज्ञस्य गर्भाशयप्रवेशः, जरायुजशरीरवर्णनं, स्वरेभ्यो रोगोत्पत्तिः, ग्रहादिदशजातयः" एवमादि-विषयाणां सम्यग्निवेशनेनास्य विदुषः प्रज्ञायाः निस्सीमत्वं व्यज्यते ।

भावप्रकाशनस्यानुशीलनेन विज्ञायते यत् सुधीवर्य्यस्य शारदातनयस्य दृष्ट्या नाट्यशास्त्रं प्राचीनार्वाचीनभेदेने द्विधा विभक्तमासीत्, तत्र प्राचीनं नाट्यशास्त्रं द्वादशसहस्रश्लोकात्मकम् आधुनिकन्तु षट्सहस्रश्लोकसम्मितम् । तद् यथा—

एवं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः ।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य सङ्ग्रहः ॥
भरतैर्नामतस्तेषां प्रख्यातो भरताह्वयः ।

भा० प्र०—पृ० २८७

प्राचीननाट्यशास्त्रस्य रचयिता 'शारदातनयः' वृद्धभरतनाम्ना ख्यातः, आधुनिकनाट्यशास्त्रस्य कर्ता केवलं 'भरत' नाम्ना प्रसिद्धिं गत इति, भावप्रकाशनस्य ३६ पृष्ठोक्तेनोद्धरणेन प्रमाणतां याति ।

शारदादेशवासिना शारदातनयेन श्रीमता रामरङ्गशर्मणा स्थानेऽमुष्य शारदा-तनयस्य कृतिः पुरा शोधविषयीकृता, ग्रन्थ-ग्रन्थिविश्लेषपटुना शर्मणा शोधावसरे प्रपञ्चितेन भावप्रकाशेन परवर्ती पाठकवर्गः किमपि शर्म नूनं लप्स्यतीति नो द्रढीयान् विश्वासः । शोधप्रबन्धोऽयं महन्महत्वमावहतीति कृत्वा सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयाधि-कारिभिः प्रकाशनाय स्वीकृत इति नः प्रमोदस्थानम् । तथापीदमस्तु—

शारदातनयस्यैषा कृतिर्भावप्रकाशनम् ।
कृतीनां तोषपोषाय कल्पतां कल्पवृक्षवत् ॥

डॉ० ब्रह्मानन्दत्रिपाठी

निवेदन

आचार्य शारदातनय के 'भावप्रकाशन' के प्रति मेरी अध्ययन प्रवृत्ति सर्व प्रथम सन् १९६९ ई० में पितृकल्प गुरुवर्य डॉ० जगदीश चन्द्र 'शिरोमणि' के साहित्यक सम्पर्क में जागृत हुई, जब मैं नित्यानन्द वेद विद्यालय, वाराणसी की स्नातकोत्तर कक्षा (साहित्याचार्य) का नियमित छात्र था। संस्कृत साहित्य के प्रति मेरी स्वाभाविक अभिरुचि ने प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ की ओर मुझे बार-बार प्रेरित किया। समय-समय पर पं० महादेवशास्त्री (गोलोकवासी पूज्यपाद महेश्वरानन्द जी महाराज), पं० महादेव उपाध्याय, पं० मुकुन्दशास्त्री खिस्ते, पं० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते आदि साहित्य के मूर्द्धन्य विद्वानों के काव्यशास्त्रीय प्रसंगों में मेरी जिज्ञासु वृत्ति को अत्यधिक बल मिलता रहा।

वस्तुतः इस ग्रन्थ के काव्यशास्त्रीय आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शोध का भाव तो मेरे मन में सन् १९६२ ई० में ही प्रतिष्ठित हो गया था जब मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की एम० ए० (संस्कृत) कक्षा में अध्ययन रत था। उन दिनों पं० कान्तानाथ तैलंग, पं० बलदेव उपाध्याय तथा डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा जैसे उदार गुरुजनों द्वारा मुझे जो बहुमूल्य प्रोत्साहन मिला वह मेरे जीवन में अविस्मरणीय रहेगा। पंडितराज राजेश्वरशास्त्री द्रविड़ की प्रेरणा के फलस्वरूप 'भावप्रकाशन' को प्राचीन राजशास्त्र के मूल्यवान् ग्रन्थ के रूप में जब वाराणसेय संस्कृत विश्व-विद्यालय के सम्बद्ध विभाग ने शास्त्री कक्षा के पाठ्यक्रम में स्थान दिया तो इस ग्रन्थ के विषय की विविधता ने मेरी पूर्व प्रवृत्ति को और भी सम्पुष्ट कर दिया।

विषय की गुरुता तथा कार्य-दुःसाध्यता का बोध मुझे उस समय हुआ जब मैं अनुसन्धान कार्य के निमित्त किसी ऐसे दिशा निर्देशक बिद्वान् का सम्पर्क चाहने लगा जो नवीनतम शोधप्रणाली के अनुरूप 'भावप्रकाशन' के काव्यशास्त्रीय आलोचनात्मक अध्ययन में सहायक हो। यह एक ऐसा प्रश्न था जिसने मुझे कुछ दिन उलझाये रखा। यह दूसरी बात है कि इस समय का उपयोग मैंने हिन्दी साहित्य के अध्ययन में किया और तद्विषयक स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। मेरे सौभाग्य से कुछ दिन बाद श्रद्धेय डॉ० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य जी का काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत-पालि-विभागाध्यक्ष रूप में आगमन हुआ। मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि जब मैं सी० एम० ऐंग्लो बंगाली कालेज, वाराणसी में संस्कृत लेक्चरर (प्रवक्ता) के रूप में कार्य कर रहा था तो इस महाविद्यालय के तत्कालीन प्रधानाचार्य पं० अहिभूषण भट्टाचार्य जी मुझे डाक्टर साहब के पास ले गये और उन्होंने मेरे शोध-कार्य के विषय

में आप से कहा। इस वात्सल्यपूर्ण सम्पर्क ने मेरे हृदय में आशा का संचार कर दिया कि अब मेरा शोधकार्य सुसाध्य है। अपनी कार्य व्यस्तता के पश्चात् भी डाक्टर भट्टाचार्य जी ने पूरे मनोयोग के साथ मेरे कर्तव्य का निर्देश किया। उसी के फलस्वरूप यह शोध-ग्रन्थ पी-एच० डी० हेतु भारत के मूर्धन्य विद्वान् शिक्षाजगत् के विख्यात मनीषी आचार्यवर डॉ० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य जी की सेवा में प्रस्तुत करने में मैं सफल हो सका हूँ।

इस शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में मुझे अनेक ख्याति-लब्ध विद्वानों तथा उनकी कृतियों से बहुमूल्य सहयोग मिला है, ऐसे सभी ग्रन्थकारों के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ।

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय वाराणसी, के कुलपति आचार्यप्रवर, पितृकल्प डॉ० गौरीनाथशास्त्री जी के प्रति मैं किन शब्दों में आभार व्यक्त करूँ, मेरी समझ में नहीं आ रहा है, क्योंकि इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सम्पूर्ण श्रेय आपको ही है। आपने विद्वत्तापूर्ण प्राक्कथन लिखकर प्रस्तुत ग्रन्थ को गौरवान्वित किया है। अपने सहयोगी लघु भ्राता डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी के प्रति मैं चिर-स्थिर स्नेह का संकल्प करता हूँ, जिन्होंने उपोद्घात लिखने के साथ ही साथ सम्पूर्ण ग्रन्थ का संशोधन कर भली भाँति अपना कर्तव्य निभाया है।

अन्त में ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को पूरी लगन तथा आवश्यक श्रम एवं सावधानी के साथ मुद्रित करने वाले सहयोगी बन्धुओं का भी मैं आभार स्वीकार करता हूँ। सतर्कता के बाद भी मुद्रण सम्बन्धी जो त्रुटियाँ रह गयी हैं उनके लिये मैं विशेष रूप से अपने सहृदय पाठकों से आलोच्य ग्रन्थ के रचयिता शारदातनय के ही शब्दों में क्षमा याचना हेतु निवेदन करता हूँ—

'सद्भिस्तत् क्षम्यतामत्र को लोके न प्रमाद्यति'।

चैत्र रामनवमी
२०४१ वैक्रमाब्दः

विदुषां वशंवदः
रामरङ्ग शर्मा

अवतरणिका

ग्रन्थकार

'भावप्रकाशन' ग्रन्थ के रचयिता आचार्य शारदातनय के विषय में आजतक जो भी विचार किया गया है उसका आधार अन्तःसाक्ष्य ही है। सौभाग्यवश साहित्य जगत् की इस महान् विभूति ने अपनी इस रचना में ऐसी पर्याप्त सामग्री उपस्थित कर दी है जिसके सहारे इनकी कुल-परम्परा, गुरुपरम्परा, साम्प्रदायिक एवं धार्मिक विश्वासों तथा रचनात्मक कृतियों को समझ सकना सम्भव हो सका है। इस विषय में प्रस्तुत ग्रन्थ से अधिक जानकारी का अन्यत्र सुतरां अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। आचार्य प्रवर ने 'भावप्रकाशन' की अवतरणिका के श्लोकों में ही उपर्युक्त तथ्यों पर प्रकाश डाला है[1]।

कुल-परिचय

इस विवेच्य ग्रन्थ के अनुसार शारदातनय का जन्म[2] काश्यप गोत्रीय एक विप्रवंश में हुआ था। ग्रन्थकार के कथनानुसार इनके प्रपितामह का नाम लक्ष्मण था जो अपनी धार्मिक प्रवृत्ति के लिये प्रसिद्ध थे। इन्होंने भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिये तीस यज्ञों का अनुष्ठान किया। इन्होंने वेदों पर 'वेद-भूषण' नामक एक टीका भी लिखी थी। निश्चय ही यह कृत्य, वेदवित् आचार्य प्रवर शारदातनय के प्रपितामह का वैदुष्य प्रकट करता है। लक्ष्मण के स्वनामधन्य पुत्र तथा ग्रन्थकार के पितामह का नाम कृष्ण था जो अपने पिता के ही समान वेद-वेदांगों के ज्ञान में पारंगत थे। वाराणसी में आकर आपने भूत-भावन भगवान् भवानीपति की आराधना की, जिसके

---

१. भावप्रकाशन, प्रथम अधिकार, पृ० १ एवं २।

२. तत्र लक्ष्मणनामासीद् विप्रः काश्यपवंशजः।
त्रिंशता क्रतुभिर्विष्णुं तोषयामास वेदवित् ॥
वेदानां भाष्यमकरोन्नाम्ना यो वेदभूषणम्।
तस्य श्रीकृष्णनामासीत् पुत्रः कृष्ण इवापरः ॥
वेदानधीत्य निखिलान् शास्त्राण्यप्यखिलानि च।
स पुत्रार्थी महादेवं वाराणस्यामतोषयत् ॥
तस्यासीद् भट्टगोपालनामा सूनुः सुलोचनः।
अष्टादशसु विद्यासु बहुशः स कृतश्रमः ॥
उपास्य शारदां देवीं पुत्रं लेभे गुणोत्तरम्।
तमाह्वयत् पिता प्रीतः शारदातनयाख्यया ॥
भा० प्र०—प्रथम अधि०, पृ० १ पं० १४ से पृ० २ पं० ५ तक।

फलस्वरूप आपको भट्टगोपाल नामक पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। ये ही भट्टगोपाल हमारे आलोच्य ग्रन्थकार के पिता थे। श्री भट्टगोपाल भी अष्टादश विद्याओं में निष्णात थे। इन्होंने कठिन तपस्या द्वारा भगवती शारदा को प्रसन्न किया एवं वरदान-रूप में प्राप्त हुए शारदा के महान् उपासक अपने पुत्र का तदनुरूप शारदातनय नाम रख दिया।

गुरु-परिचय

शारदातनय ने अपनी गुरु-परम्परा में दिवाकर नामक एक विद्वान् का नामोल्लेख किया है[1]। आपके कथनानुसार श्री दिवाकर नाट्यशास्त्र की विविध विधाओं में विचक्षण थे। आप स्वयं एक सार्वजनिक नाट्यशाला के अधिकारी भी थे। शारदातनय ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि श्री दिवाकर ब्राह्मण ने ही इन्हें नाट्यवेद की शिक्षा दी थी। इनके सम्बन्ध में इससे अधिक परिचयात्मक विवरण अन्यत्र भी उपलब्ध नहीं है। ऐतिहासिकों का अनुमान है कि ये दिवाकर वे ही रहे होंगे जिन्हें पूर्ण-सरस्वती ने 'मेघ-सन्देश' की टीका विद्युल्लता में अनेक बार उद्धृत किया है। इन उद्धरणों से अनुमान लगाया जा सकता है कि दिवाकर ने कोई नाटयशास्त्रीय ग्रन्थ शारदातनय की ही शैली में लिखा हो जिसके उद्धरण विद्युल्लता में दृष्टिगोचर होते हैं। श्रीवाणी-विलास संस्कृत सीरीज, श्रीरङ्गम् द्वारा प्रकाशित विद्युल्लता के पृष्ठ २४, ३०, ३३, ७२, ८३, ९५ एवं १३९ आदि में उद्धृत श्लोकों के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ में दिवाकर के श्लोकों का परिचय नहीं मिलता है।

धर्म एवं सम्प्रदाय

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि शारदातनय को एक ऐसी कुलपरम्परा प्राप्त थी जिसमें विष्णु, शिव तथा सरस्वती की उपासना वैदिक रीति के अनुरूप प्रचलित थी। यह एक ऐसी स्थिति कही जा सकती है जिसमें साम्प्रदायिक भेद-भाव का कोई महत्त्व न था। प्रपितामह लक्ष्मण ने जहाँ विष्णु के लिये यज्ञों का अनुष्ठान किया वहीं पितामह कृष्ण ने वाराणासी में आकर भगवान् शंकर की आराधना की तथा पूज्य पिता भट्टगोपाल ने शारदा के वरदान रूप में शारदातनय को प्राप्त किया। इतना होते हुए भी 'भावप्रकाशन' के वर्ण्य विषय में प्रस्तुत किये गये संगीत के [2]उत्पत्ति-विषयक ३६ तत्त्वों तथा सृष्टि के मूलतत्त्व रूप में परमात्मा,

---

१. नाटयशालापतिः कश्चिद् दिवाकर इति द्विजः।

भा० प्र० –प्रथम अधि० पृ० २ पं० १४।

२. तस्माद् गेयसमुत्पत्तिः सङ्क्षेपेणात्र कथ्यते।
इह तत्त्वानि षट्त्रिंशच्छिवः शक्तिः सदाशिवः॥

भा० प्र०—स० अधि० पृ० १८१ पं० १८-१९।

जीव एवं प्रकृति के कार्यो के अनुसार शारदातनय की प्रवृत्ति काश्मीरी शैवों के प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की ओर दिखायी देती है। वस्तुतः अभिनवगुप्त ने प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के सिद्धान्तों का सर्वाधिक प्रचार-प्रसार किया। शारदातनय ने भी इसी दर्शन का अनुसरण करते हुए सामाजिकों द्वारा प्राप्त की जाने वाली रसानुभूति का स्वरूप उपस्थित किया है। इस सम्बन्ध में शैवागम सम्बन्धी कुछ प्राचीन ग्रन्थों का भी उल्लेख (भावप्रकाशन पृ० ५३ में) किया गया है। विषयोपस्थापन करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रत्यभिज्ञादर्शन में निर्दिष्ट राग, विद्या, कला आदि तत्त्वों की परिभाषाएँ भी उपस्थित की गयी हैं। इन तथ्यों से शारदातनय को प्रत्यभिज्ञादर्शन का समर्थक मानना समीचीन प्रतीत होता है।

निवास-स्थान

आलोच्य ग्रन्थ में शारदातनय ने अपने निवास-स्थान का परिचय देते हुए जो संकेत किये हैं उनके अनुसार आपके प्रपितामह लक्ष्मण[1] माठरपूज्य या माठर-पूजा नामक ग्राम के निवासी थे। यह एक हजार ब्राह्मणों की बस्ती थी। आर्यावर्त्त के अन्तःपाती मेरूत्तर जनपद के दक्षिण में यह ग्राम अवस्थित था। भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते हुए कुछ विद्वानों ने इसे वर्तमान मेरठ ही स्वीकार करने का आग्रह किया[2]।

शारदातनय के निवास-स्थान के विषय में प्रस्तुत ग्रन्थ की मान्यता के विपरीत यद्यपि किसी ठोस आधार का अभाव है, परन्तु इस सम्बन्ध में एक विचारणीय बात यह है कि आज तक 'भावप्रकाशन' की जितनी पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हुई हैं उनका प्राप्ति स्थान दक्षिण भारत ही रहा है और ये सभी दक्षिण भारतीय लिपियों में ही लिखी गयी हैं। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह अनुमान सर्वथा युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि शारदातनय का निवास-स्थान कहीं दक्षिण भारत ही रहा होगा। यदि माठरपूज्य का सम्बन्ध प्राचीन माद्रपूशि ग्राम से माना जाये तो इन्हें दक्षिण भारतीय मानने में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती। वस्तुतः कतिपय दाक्षिणात्य ब्राह्मणों के उपनाम का उद्भव उस ग्राम से ही हुआ। जहाँ तक मेरूत्तर का सम्बन्ध है उसे वर्तमान ग्राम उत्तर-मेरु का रूप कहा जा सकता है। यह आधुनिक मद्रास के चिंगलेपुर जिले से २० मील की दूरी पर है।

---

१. आर्यावर्ताऽऽह्वये देशे स्फीतो जनपदो महान्।
मेरूत्तर इति ख्यातस्तस्य दक्षिणभागतः॥
ग्रामो माठरपूजाख्यो द्विजसाहस्रसम्मितः।

भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १, पं० ११-१३।

२. Journal of the Andhra Historical Research Socity,

—Vol. II. 132.

काल

भावप्रकाशन के लेखक शारदातनय के जीवन-काल को निश्चित करने के लिये विद्वानों ने पर्याप्त छानबीन की है। वस्तुतः लेखक ने अपनी कृति में कहीं भी सम-सामयिक घटना-क्रम अथवा किसी विशेष घटना का ऐसा कोई उल्लेख नहीं किया है जो उनके जीवन-काल को निर्धारित करने में सहायक हो सके। ऐसी स्थिति में शारदातनय द्वारा 'भावप्रकाशन' में दिये गये विविध उद्धरणों एवं पूर्वाचार्यों तथा उनकी कृतियों के आधार पर जहाँ इन्हें उन सभी का परवर्ती मानकर चलना पड़ता है वहीं अन्य आचार्यों द्वारा अपनी कृतियों में उद्धृत किये गये शारदातनय के उद्धरणों के अनुरूप इन्हें उद्धर्त्ता लेखकों का पूर्ववर्त्ती मानकर शारदातनय के समय को दोनों सीमाओं के बीच स्थिर करना पड़ता है। इन्होंने भोज के 'शृङ्गारप्रकाश' तथा मम्मट के 'काव्यप्रकाश' से अनेक उद्धरण इस आलोच्य ग्रन्थ में प्रस्तुत किये हैं। भोज का समय ११वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध तथा मम्मट का समय ११वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध स्वीकार किया गया है। अतः शारदातनय को ११वीं शताब्दी के बाद का ही माना जा सकता है।

'भावप्रकाशन' में[1] सोमेश्वर नामक आचार्य का उल्लेख भी किया गया है। यद्यपि इस नाम के चार आचार्यों का पता चलता है जिनमें दो का सम्बन्ध संगीतशास्त्र से रहा है, इनका समय १२वीं शताब्दी के उपरान्त ही स्थिर किया गया है। शारदातनय इन्हीं सोमेश्वर नामक संगीत के आचार्यों से सम्बन्धित माने जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में शारदातनय के काल को १२५० ई० के बाद नहीं माना जा सकता। इस प्रकार इनका समय ११७५ ई० से लेकर १२५० ई० के बीच ही स्वीकार करना युक्ति-संगत प्रतीत होता है।

कुछ विद्वानों का यह कथन भी विचारणीय है कि मम्मट के काव्यप्रकाश पर एक टीका लिखने वाले भट्टगोपाल ही शारदातनय के पिता थे। वस्तुतः भट्टगोपाल ने मम्मट के किसी भी परवर्ती आचार्य को उद्धृत नहीं किया है। साथ ही कुमार-स्वामी जैसे अन्य लेखकों ने १५वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भट्टगोपाल को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि भट्टगोपाल का समय मम्मट के पश्चात् ही रहा होगा। इस दृष्टि से विचार करने पर शारदातनय का समय १२५० ई० ही निर्धारित मानना समीचीन प्रतीत होता है।

ग्रन्थकार की कृतियाँ

'भावप्रकाशन' ग्रन्थ में शारदातनय ने इस ग्रन्थ के अतिरिक्त संगीत-शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले एक 'शारदीय' नामक ग्रन्थ का प्रस्तुत ग्रन्थ के सप्तम

---

१. इतः परं विशेषास्तु भोजसोमेश्वरादिभिः।

भा० प्र०—स० अधि० पृ० १९४, पं० ६।

अधिकार में नामोल्लेख किया है और संगीत-शास्त्र-विषयक सैद्धान्तिक विवेचन की विस्तृत जानकारी के लिये उपर्युक्त ग्रन्थ के अवलोकन का आग्रह भी किया है[1]। इसके अनुसार स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने अपने इस शारदीय नामक ग्रन्थ में संगीत के भेदोपभेदों पर विस्तृत विचार किया होगा। दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ अद्यावधि अनुपलब्ध है। अतः उपलब्ध कृति के रूप में 'भावप्रकाशनम्' से ही सन्तोष करना पड़ता है।

आलोच्य ग्रन्थ की उपलब्धि

सर्वप्रथम 'भावप्रकाशन' ग्रन्थ के अस्तित्व का बोध विद्वानों को परवर्ती ग्रन्थकारों के उद्धरणों से हुआ। सन् १८८५ ई० में रङ्गनाथ की 'विक्रमोर्वशीय' तथा सन् १९०० ई० में वासुदेवकृत 'कर्पूरमञ्जरी' की टीकाओं में 'भावप्रकाशन' से लिये गये उद्धरण दृष्टिगोचर हुए। तदुपरान्त कुमारस्वामी कृत 'रत्नापण' एवं चतुर-मल्लिनाथकृत 'कलानिधि' से ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार के सम्बन्ध में विद्वानों को पूर्वापेक्षया अधिक जानकारी प्राप्त हुई। इसके बाद भी सन् १८९३ ई० तक इस ग्रन्थ की कोई पाण्डुलिपि नहीं मिल सकी। सौभाग्यवश कुछ ही दिनों बाद मद्रास राजकीय प्राच्य हस्तलिखित पुस्तकालय की एक अक्षरानुक्रमिक सूची में 'भावप्रकाशन' की एक हस्तलिखित प्रति की सूचना मिली। सन् १९१८ ई० को उपर्युक्त पुस्तकालय की विस्तृत पुस्तक-सूची (भाग ८वाँ पृ० ८७३७) में इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि से उद्धृत किये गये कुछ सन्दर्भ उपलब्ध हुए। लोगों को इस ग्रन्थ के नाट्याध्याय का विशेष ज्ञान 'शिंगभूपाल' कृत 'रसार्णवसुधाकर' एवं गोपेन्द्र तिप्प्य भूपालकृत 'कामधेनु' नामक अलंकार ग्रन्थों से हुआ। बाद में इस ग्रन्थ की अनेक प्रतियाँ सर्वप्रथम मद्रास के अनुसन्धाताओं को मिलीं। बड़ौदा के प्राच्यविद्या मन्दिर के पुस्तकालय में दक्षिण से आयी हुई इस ग्रन्थ की एक प्रति दृष्टिगोचर हुई। भावप्रकाशन का सर्वप्रथम प्रकाशन सन् १९३० ई० में गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज की संख्या ४५ के रूप में हुआ। इसके अनन्तर सन् १९६८ ई० में इस ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण भी उपर्युक्त संस्था के सत्प्रयास से पाठकों के सम्मुख आया। मैंने इसी द्वितीय संस्करण की प्रति के आधार पर ही अपना शोध-कार्य सम्पन्न किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का वैशिष्ट्य

शारदातनय का 'भावप्रकाशन' आचार्य भरत की साम्प्रदायिक परम्परा का परिणाम है। इतना होते हुए भी ग्रन्थकार ने कोहल, मातृगुप्त, सुबन्धु, द्रौहिणी,

---

१. व्याख्याता भरतादीनां मतेनेति विरम्यते।
मयापि शारदीयाख्ये प्रबन्धे सुष्ठु दर्शितम्॥
सङ्गीतं तस्य भेदाश्च तत्रैवालोक्यतां बुधैः।
भा० प्र०—स० अधि० पृ० १९४, पं० ७-९।

हर्ष आदि आचार्यों की विविध मान्यताओं को महत्त्वपूर्ण स्थलों पर प्रस्तुत करते हुए विषय के व्यापक स्वरूप के साथ न्याय करने का सफल प्रयास किया है। जहाँ तक विवेच्य विषय से सम्बद्ध ग्रन्थकार की विशिष्ट स्थिति का सम्बन्ध है, उसे प्रारम्भ से अन्त तक तत्-तत् प्रसंगों में व्याप्त रूप से देखा जा सकता है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में दिये गये प्रकरणों के क्रम से शारदातनय की विशिष्ट मान्यताओं तथा विवेचनात्मक विशेषताओं को इस प्रकार देखा जा सकता है—

भावगत विशेषताएँ

जैसा कि ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है, शारदातनय ने रस विवेचन की परम्परागत प्राथमिक स्थिति के बदले[1] भाव विवेचन की स्थिति को अपनाकर रस-आधार रूप में भाव के सर्वाधिक महत्त्व का संकेत किया है। इन्होंने भाव-विवेचन क्रम में भी पूर्वाचार्यों की अपेक्षा विवेचना की विशिष्ट सरणि अपनायी है जो इस प्रकार है—

(क) भावविवेचन के आधारतत्त्व—इन्होंने भावविवेचन क्रम में ऐसे बारह[2] आधारों का सर्वप्रथम उल्लेख कर दिया है जो भाव-विषयक विवेचन के मार्ग-दर्शक सूत्र कहे जा सकते हैं। इन आधारों में भाव विषयक समस्त आन्तरिक तथा बाह्य स्थितियों को व्यापक रूप से आत्मसात् किया गया है। विवेचना की यह पद्धति ग्रन्थकार के विवेचन-क्रम की मौलिकता को सूचित करती है।

(ख) निरुक्ति पद्धति—भाव-विवेचन में भाव-सामान्य से लेकर भाव-भेद के प्रत्येक स्वरूप का प्रकृति-प्रत्यय-परक तथा व्युत्पत्ति-मूलक विवेचन जैसा प्रस्तुत ग्रन्थ में देखने को मिला है वैसा अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। विवेचन का यह क्रम ग्रन्थकार के भाव-विषयक विवेचन को महत्त्व देता है।

(ग) उद्दीपन विभावों की स्वतन्त्र उद्भावना—शैलीगत उपर्युक्त विशेषताओं के साथ ही साथ शारदातनय ने विविध प्रसंगों में अपनी मौलिक उद्भावनाओं का

---

१. भावप्रकाशनं नाम प्रबन्धमकरोत् तदा।
एतस्मिन् प्रथमं भावस्तस्य भेदास्ततः परम्॥
भा० प्र०—अधि० पृ० २ पं० २२-२३।

२. तदवान्तरभेदाश्च तत्तत्कार्येषु कौशलम्।
तत्साध्योऽर्थस्तथा तेषामुपकार्योपकारिता॥
रसोपादानता तेषां चर-स्थिरविभागतः।
तद्दर्शनानि तद्दृष्टिर्दृष्टिधर्माः पृथग्विधाः॥
परस्परस्य सामर्थ्यं साहचर्यात् क्वचित् क्वचित्।
इति भागतया भावाः द्वादशैते ततो रसः॥
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ३ पं० १-६।

भी परिचय दिया है। ऐसे स्थलों पर इन्होंने विवेच्य विषय की परम्परागत शृङ्खला में नवीन कड़ी जोड़ दी है। विभाव-वर्णन के प्रसंग[1] में आठ उद्दीपन विभावों का इन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों से सर्वथा स्वतन्त्र रूप में उल्लेख किया है।

(घ) अनुभाव-वर्णन की आधारभूत दृष्टि—अनुभाव-भेदों का निरूपण करते समय शारदातनय ने अनुभावों के वर्गीकरण के आधारभूत तत्त्वों का पूरा ध्यान रखा है। इन्होंने[2] मन, वाणी, शरीर एवं इन्द्रियों के आधार पर चार प्रकार के अनुभावों का विश्लेषणात्मक वर्णन किया है जो क्रमशः (१) मनआरम्भानुभाव, (२) वागारम्भानुभाव, (३) गात्रारम्भानुभाव तथा (४) बुद्ध्यारम्भानुभाव रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। शारदातनय ने अनुभावों का वर्गीकरण करते समय इनके कारणों तथा उपयोगों का भी पूरा ध्यान रखा है। नायिकाओं के भाव, हाव आदि का २० अलंकारों तथा नायक के शोभा आदि आठ गुणों का, मन तथा गात्रारम्भानुभावों मे इसी वर्गीकरण के आधार पर समुचित रूप में सन्नियोजन हो सका है। ग्रन्थकार की भाव-भेद विषयक प्रस्तुत विशिष्टता अपनी शैलीगत विशेषता के साथ ही साथ सैद्धान्तिक समन्वय तथा सन्नियोजन के महत्त्व को भी सूचित करती है।

(ङ) बुद्ध्यारम्भानुभाव रूप में रीति और वृत्ति—शारदातनय ने रीति और वृत्ति रूप में पूर्वाचार्यों के चार संख्यागत भेदों के वर्णन के साथ ही साथ[3] सौराष्ट्री एवं द्राविड़ी का भी उल्लेख किया है। इस प्रसंग में मिश्र नामक एक नवीन वृत्ति की भी चर्चा की है। इस प्रकार विवेच्य विषय से सम्बद्ध समस्त स्वीकृतियों को समन्वित रूप में उपस्थित करते हुए आपने विवेचन-क्रम में आग्रह-विहीन सर्वाङ्गीण व्यापकता का परिचय कराया है।

(च) व्यभिचारीभाव-मूलक विशेषता—शारदातनय ने व्यभिचारीभावों की परम्परागत संख्या को स्वीकार करते हुए भी उनकी रस-रूपता का स्पष्ट विरोध किया है। शान्तरस की रसत्व सिद्धि के विरोध में उपस्थित किये गये अन्य कारणों के साथ ही 'शम' एवं 'निर्वेद' नामक व्यभिचारीभावों की रस-रूपता का बाधित

---

१. ललिता ललिताभासाः स्थिराश्चित्राः खरा इति।
रूक्षाश्च निन्दिताश्चैव विकृताश्चेति च क्रमात्॥
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ४ पं० १२-१३।

२. अनुभावाश्चतुर्धा स्यान्मनोवाक्कायबुद्धिभिः॥
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ६ पं० १३।

३. रीतिर्वचनविन्यासक्रमः साऽपि चतुर्विधा।
तत्र वैदर्भपाञ्चाललाटगौडविभागतः॥
सौराष्ट्री द्राविडी चेति रीतिद्वयमुदाहृतम्।
भा० प्र०— प्र० अधि० पृ० ११ पं० १४-१६।

होना भी एक कारण माना गया है। वास्तव में जहाँ कहीं अपनी विशेष स्थिति के कारण कोई व्यभिचारीभाव रस-रूपता प्राप्त कर लेता है वहाँ व्यभिचारी भी स्थायीभाव के स्वीकृति आठ भेदों में ही अन्तर्भुक्त कर लिया गया है।

(छ) भावनिरूपण में अभिनय-परक दृष्टि—अनुभाव आदि भाव-भेदों का निरूपण करते समय शारदातनय की दृष्टि उन अभिनय-परक प्रक्रियाओं की ओर भी रही है जिनके सहारे अभिनेता अपनी आन्तरिक अथवा बाह्य स्थितियों के आधार पर अपने मन में सामाजिक भाव-सम्पोषण आदि का कार्य सम्पन्न करता है। इस प्रकार अभिनय-प्रक्रिया की रसात्मक सफलता का ध्यान रखकर ग्रन्थकार ने भाव के विविध रूपों का परिचयात्मक वर्णन प्रस्तुत किया है।

रसगत विशेषताएँ

भावविवेचन के समान रस-विवेचन की प्रक्रिया में भी ग्रन्थकार ने अपनी विशेष दृष्टि से काम लिया है। शारदातनय की रस-विवेचन-परक कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(क) रसविवेचन के आधार तत्त्व—आपने सर्वप्रथम रस-विषयक ऐसे २० आधारों का उल्लेख किया है[१] जो रस-विवेचन की समस्त प्रक्रिया के प्रेरक तत्त्व हैं। रस-सामान्य से लेकर रस भेद के स्वरूपों का विवेचन करते समय इन्हीं आधारभूत तत्त्वों के अनुरूप विश्लेषणात्मक वर्णन किया गया है।

(ख) रस निरुक्ति—'भावप्रकाशन' में ग्रन्थकार ने प्रत्येक रस की निरुक्ति शब्द-शास्त्रीय आधारों पर प्रस्तुत की है। ऐसे स्थलों पर प्रत्येक रस की नाम-परक स्थिति का प्रकृति-प्रत्यय-मूलक निरीक्षण-परीक्षण करते समय तद्विषयक लोक-प्रसिद्धि एवं परम्परागत स्वीकृतियों का भी ध्यान रखा गया है। इस प्रकार सम्बद्ध रस के व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ के साथ सर्व-स्वीकृत अर्थों का भी युक्ति-संगत सामञ्जस्य दिखाया गया है।

(ग) रस विषयक तुलनात्मक दृष्टि—शारदातनय ने रस के विविध प्रकारों पर विचार करते समय रसों की परस्पर सापेक्ष्य स्थिति के निरूपण के तुलनात्मक पद्धति अपनायी है। इसी के अनुरूप रसों में प्राधान्य तथा अप्रधान्य रूपों का निरूपण किया गया है। वस्तुतः अपने श्रृङ्गाररस की चर्चा प्रसंग में इसे मूलरस

---

१. तद्भेदा भेदभेदाश्च तेषां जन्म च नाम च।
जनकत्वं च जन्यत्वं तेषामन्योन्यतः पृथक्॥
....
इति विंशतिरुद्दिष्टाः प्रकारा रसगामिनः॥

भा० प्र०—पृ० ३ पं० ७-१४।

की संज्ञा देते हुए उन समस्त कारणों का भी स्पष्ट उल्लेख किया है जो शृङ्गाररस को मूल रस प्रमाणित करने में सहायक हैं।

(घ) रसानुभूति में अहंकार की स्थिति—'भावप्रकाशन' के रस-विवेचन-प्रसंग में[1] अहंकार को रस-निष्पत्ति के आधार-भूत आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। विद्वान् विचारक के अनुसार अहंकार के अभाव में रसानुभूति हो ही नहीं सकती। शान्तरस की रस रूपता के विरुद्ध उपस्थित किये गये विविध कारणों में अहंकार की शून्यता को एक मुख्य कारण बताया गया है। 'शम' तथा 'निर्वेद' नामक भाव अनुभूति के एक ऐसे स्तर को सूचित करते हैं जहाँ अहंकार शेष नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में 'शम' अथवा 'निर्वेद' को अनुभूति-परक आह्लाद-जनकता प्राप्त नहीं हो पाती। इस मान्यता में शैवों के प्रत्यभिज्ञादर्शन का स्पष्ट प्रभाव है।

(ङ) शान्तरस-विषयक मान्यता—शारदातनय ने नाट्यरस[2] की दृष्टि से शान्तरस को रस रूप में स्वीकार नहीं किया। अपनी इस मान्यता के समर्थन में लेखक ने अन्य नाट्योपयोगी तत्त्वों की विषमता-परक स्थिति का उल्लेख करने के साथ ही साथ अहंकार के अभावमय रूप को भी कारण बताया है।

(च) रस की अभिव्यक्ति—काव्य एवं रस के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करते समय रस की वाच्यता एवं व्यंग्यता-मूलक परम्परा-प्राप्त परस्पर विरोधी मान्यताओं की भी ग्रन्थकार ने पूरी तरह छानबीन की है। ऐसे स्थलों पर ग्रन्थकार की एक विशेषता यह रही है कि वे समस्त मान्यताओं का परिचयात्मक निरूपण करने के साथ-साथ प्रत्येक सन्दर्भ के युक्ति-संगत तथ्यों के बीच सामञ्जस्य एवं समन्वय से काम लेते हैं। रस-निष्पत्ति-विषयक चर्चा-क्रम में योगमाला[3] आदि ग्रन्थ तथा पद्मभू, नारद आचार्यों का ऐतिहासिक महत्त्व दिखाया गया है।

(छ) रसाश्रय एवं अन्य तथ्य—ग्रन्थकार ने रस-विषयक-विवेचन में रसाश्रय पर विचार करते समय सामाजिक की महत्त्वपूर्ण विशेष स्थिति को सूचित किया है

---

१. बुद्धिचित्ताहङ्कृतयः तस्य त्रिगुणसम्भवाः।
सर्वेषामपि जीवानां सर्वव्यापारहेतवः॥
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ७ पं० २३-२४।

२. अस्तीति सत्तामात्रेण प्रायः शान्तो विभाव्यते।
यतो न भावोऽभिनयो न शक्यो नाट्यकर्मणि॥
शमे स्थायिनि तत्र स्युर्भावा हर्षादयः कथम्॥
भा० प्र० प्र० अधि० पृ० १३६ पं० ९-११।

३. कथिता योगमालायां संहितायां विवस्वते।
भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १४५ पं० १५।

और साथ[1] ही देवता, वर्ण, गति, दृष्टि आदि का भी इस रूप में वर्णन किया है जिसक सन्दर्भक्रम के बीच पूर्ण सामञ्जस्य रहा है।

शब्दार्थ-सम्बन्ध-विषयक विशेषताएँ

'भावप्रकाशन' के आचार्य ने कवि तथा सहृदय दोनों के लिये शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का सम्यक् ज्ञान आवश्यक बताया है। इसे एक ऐसे तथ्य-रूप में स्वीकार किया गया है जिससे अनभिज्ञ रहकर उपयुक्त शब्दों के चयन एवं प्रयोग तथा उनके आधार पर प्राप्त होने वाली आह्लाद पूर्ण रसानुभूति नहीं हो पाती। इस तथ्य को ध्यान में रखकर शारदातनय ने इस विषय का विस्तृत विवेचन किया है। विवेचन क्रम में इन्होंने अपने पूर्वाचार्यों की सारणियों का अनुसरण करते हुए तीन मतों का विश्लेषण किया है, जो इस प्रकार हैं—

प्रथम मत—आपने शब्दार्थ-सम्बन्ध-विषयक भोज के मत को सर्वप्रथम उपस्थित किया है। इस मत के अनुसार शब्द और अर्थ परस्पर बारह प्रकार से सम्बद्ध होते हैं, जिन्हें निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है[2]—

(क) वृत्ति, विवक्षा, तात्पर्य, प्रविभाग

(ख) व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय, एकार्थीभाव

(ग) दोषाभाव, गुणोपपादन, अलंकारयोग, रसावियोग।

शब्दार्थ-सम्बन्ध के उपर्युक्त बारह प्रकारों का विवेचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक वर्णन करते समय शारदातनय ने भोजदेव के 'शृङ्गारप्रकाश' को ही आधाररूप में अपनाया है। तुलनात्मक विवेचन से लेकर उदाहरणों तक 'शृङ्गार-प्रकाश' की ही विवेचना-पद्धति का इस मत के प्रतिपादन में स्पष्ट उल्लेख है।

द्वितीय मत—शब्दार्थ-सम्बन्ध-विषयक इस क्रम में द्वितीय मत के रूप में अभिनवगुप्त के विचारों का प्रतिपादन किया गया है। इस मत में शब्द और अर्थ छः प्रकार से सम्बद्ध होते हैं। इसे क्रमानुसार निम्नलिखित रूप प्रस्तुत किया गया है[3]।

---

१. अधिदैवतमेतेषां भरतादिभिरुच्यते।
... ...
निर्णीतानि यथाशास्त्रं दर्शितानि यथार्थतः॥
भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ६८ और ६९।

२. द्वादशधा सम्बन्धः शब्दस्यार्थस्य यः स साहित्यम्।
त्रिस्कन्धः स चतुर्भिस्तनुभिः स्याच्चतुश्चतुर्भिश्च॥
....
रसावियोग इत्येते सम्बन्धाः कथिता बुधैः॥
भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १४५ पं० ७-१२।

३. षोढा विभागो भवति तत्तदर्थवशादपि।
स वाचको लाक्षणिको व्यञ्जको गमकोऽपि च॥
प्रत्यायकद्योतकाख्याविति षोढा विभिद्यते।
भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १५५ पं० २-४।

(क) अर्थ—वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य, गम्य, प्रत्याय्य, द्योत्य

(ख) शब्द—वाचक, लक्षक, व्यंजक, गमक, प्रत्याय्यक, द्योतक

(ग) शक्ति—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, गति प्रतीति, द्युति

इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्यगत शब्द से वाच्यादि छः प्रकार के अर्थों की अभिव्यक्ति होती है। अर्थ के इन्हों प्रकारों के आधार पर शब्द के भी वाचकादि छः प्रकार होते हैं। तदनुरूप ही प्रत्येक वर्ग के शब्द से सम्बद्ध वर्ग के अर्थ की अभिव्यक्ति में अभिधादि की पृथक्-पृथक् शक्ति कार्य करती है।

तृतीयमत—'भावप्रकाशन' में शब्दार्थ-सम्बन्ध-विषयक तृतीय मत का उल्लेख आचार्य मम्मट के 'काव्यप्रकाश' के अनुसार किया गया है। विवेचन-क्रम में सर्वत्र काव्यप्रकाश की मान्यताओं तथा विवेचना-पद्धतियों को यथावत् प्रस्तुत किया गया है और ग्रन्थकार ने इस तथ्य को स्वयं स्वीकार भी किया है। इस मत के अनुसार शब्द और अर्थ परस्पर तीन प्रकार से सम्बद्ध होते हैं, जिन्हें क्रमानुसार इस प्रकार देखा जा सकता है[1]।

(क) अर्थ—वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य

(ख) शब्द—वाचक, लाक्षणिक, व्यंजक

(ग) वृत्ति—अभिधा लक्षणा, व्यंजना

तात्पर्य-शक्ति

शारदातनय ने काव्य एवं सहृदय के बीच रसोद्बोधक प्रक्रिया की नियामक शक्ति के रूप में तात्पर्य शक्ति को स्वीकार किया है। यह शक्ति सामाजिकों के मन में रसोद्बोध कराने की इच्छा-शक्ति का ही रूप है। यह वह इच्छा-शक्ति है जो प्रत्येक वर्ग के अर्थ का नियमन करती है। इसी के प्रभाव से शब्द किसी विशेष अर्थरूप का बोध कराते हुए वाचकादि रूपों में अभिहित होता है।

शब्दार्थ-सम्बन्ध-विषयक उपर्युक्त विवेचन में शारदातनय की मौलिक विशिष्टता का बोध उनके समन्वयात्मक व्यापक दृष्टिकोण के साथ ही साथ वक्ता की अभिप्रायनिष्ठ इच्छा-शक्ति की स्वीकृति के रूप में हो पाता है। पूर्वाचार्यों के विविध मतों का परिचयात्मक तथा विवेचनात्मक वर्णन करने में ग्रन्थकार का उद्देश्य अर्थ के प्रकार तथा विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति में प्रयुक्त शब्द की अर्थपरक प्रकृति और तद्विषयक शक्ति को प्रस्तुत करना मात्र रहा है। तात्पर्य-शक्ति तो वक्ता (कवि) की

---

१. शब्दस्त्रिधा वाचकश्च तथा लाक्षणिकोऽपि च।
व्यञ्जकश्च तदर्थश्च त्रिधा वाच्यादिभेदतः॥

भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १६० पं० १४-१५।

इच्छा के अनुरूप अर्थ-विशेष को अभिव्यक्त करने का नियामक आधार होती है। वक्ता की इच्छा-शक्ति पर विशेष बल देकर शारदातनय ने भाषा शास्त्रीय वैज्ञानिक मान्यताओं के नवीनतम सिद्धान्त को प्रस्तुत कर दिया है। इस सम्बन्ध में विद्वान् आचार्य ने भाव तथा रस एवं सहृदय के बीच विद्यमान सम्बन्धों को भाव्य-भावक, प्रतिपाद्य-प्रतिपादक तथा भोज्य-भोजकादि रूपों में उपस्थित करते हुए तद्विषयक परम्परागत मान्यताओं को यथोचित महत्त्व प्रदान किया है। शब्दार्थ-सम्बन्ध-विषयक निरूपण करते समय शारदातनय की दृष्टि स्फोटवाद की ओर भी रही है।

नाट्य-विमर्श-विषयक विशिष्टताएँ

सामाजिक के मन में रसास्वाद के उद्बोधक काव्य-रूपों की चर्चा करते हुए शारदातनय ने दृश्य-काव्यरूप में नाट्य-चर्चा प्रस्तुत की है। इनके मतानुसार दृश्य-काव्यों की संख्या ३० है[१]। काव्य विद्या के उपर्युक्त प्रकारों को आलोच्य ग्रन्थ-कार ने दो वर्गों में विभक्त किया है जो (क) नाट्य और (ख) नृत्य रूप में कहे गये हैं।

(क) नाट्य—आचार्य शारदातनय ने भरत के दस रूपकों को नाट्य वर्ग में स्वीकार किया है। इन नाट्यवर्गीय रूपकों को रसाश्रित माना गया है, क्योंकि रसास्वाद के उद्बोधन की वास्तविक क्षमता दृश्य काव्य के इन्हीं रूपों में पायी जाती है। रसोद्बोधन की दृष्टि से ही इस वर्ग के काव्यरूपों को मुख्यता प्रदान की गयी है।

(ख) नृत्य—दृश्य काव्य के इस द्वितीय वर्ग में उपरूपक[२] कहे जाने वाले २० प्रकारों को गणना की गयी है। इस वर्ग के काव्य रूपों में रसोद्बोधन की क्षमता नहीं रहती। यही कारण है इन्हें ग्रन्थकार ने भावाश्रित कोटि में रखा है। इस वर्ग के काव्यरूपों के गौण माने जाने का भी यही आधार है।

वस्तुतः रूपक-संज्ञक नाट्य-वर्गीय दृश्य-काव्यरूपों की १० संख्या प्रायः भरत तथा धनंजय आदि की कृतियों में भी एक जैसी है। जहाँ तक नृत्यवर्ग में ग्रन्थकार द्वारा परिगणित २० काव्यरूपों का सम्बन्ध है इसे ग्रन्थकार की विशिष्ट देन ही

---

१. नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
... .
त्रिंशद्रूपकभेदाश्च प्रकाश्यन्तेऽत्र लक्षणैः॥
भा० प्र०—अष्टम अधि० पृ० २२१।

२. ते नृत्यभेदाः प्रायेण सङ्ख्यया विंशतिर्मताः।
भा० प्र०—नवम० अधि० पृ० २५५।

माना जा सकता है, क्योंकि किसी भी पूर्ववर्ती आचार्य ने उपरूपक कहे जाने वाले इस वर्ग के २० प्रकारों का क्रमिक उल्लेख नहीं किया है।

नृत्त

ग्रन्थकार ने नृत्त को नाट्य तथा नृत्य-वर्गीय दोनों काव्य रूपों का सहायक बताया है। नृत्त का परिचय देते हुए इसे एक विशेष प्रकार का शारीरिक स्पन्दन बताया गया है जिसमें अंग-विक्षेप की आवश्यकता नहीं रहती। यह नृत्त-संज्ञक सहायक रूप दो वर्गों में विभक्त किया गया है जिन्हें क्रमशः लास्य तथा ताण्डव की संज्ञा दी गयी है। शारदातनय ने नृत्त-विवेचन-क्रम में लास्य तथा ताण्डव के विशिष्ट स्वरूपों का परिचयात्मक वर्णन करने के साथ ही साथ उनके भेदोपभेदों तथा प्रभाव-परक गुणों का भी विस्तृत विवेचन किया है। दृश्य काव्य के सहायक तत्त्वों में नृत्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थकार की तद् विषयक विशिष्टता कही जा सकती है।

नाटक विषयक विशेषता

'भावप्रकाशन' में नाटक वर्गीय दस रूपकों के बीच नाटक की स्थिति को सर्वाधिक महत्त्वशाली बताया गया है। इस सम्बन्ध में विद्वान् आचार्य ने नाटक की प्रधानता के कारणों पर विचार करते हुए इसे रस का प्रधान स्रोत माना है, क्योंकि यह समस्त आवश्यक अंगों से युक्त रहता है। शारदातनय के मत से नाटक वही पूर्ण माना जाता है[1] जिसमें पाँच अर्थ प्रकृतियाँ, पाँच अवस्थाएँ, चौंसठ अंग, चार वृत्तियाँ, पाँच सन्धियाँ, इक्कीस सन्ध्यन्तर, छत्तीस भूषण तथा नब्बे संगीतांग विद्यमान रहते हैं। ग्रन्थकार ने इस विषय में ६४ अलंकारों के एक नवीन समूह का भी उल्लेख किया है जिसमें ५४ अलंकारों का विश्लेपण भी किया है। अलंकारों के इस समूह में भरत के ३६ भूषणों को भी समाविष्ट कर लिया है, किन्तु शेष अलंकारों के मूल स्रोत की उपलब्धि अन्यत्र अद्यावधि कहीं भी प्राप्त नहीं हुई है। इन्हें शारदादनय की मौलिक उद्भावना ही कहा जा सकता है।

नाटक के स्वरूप तथा अंगों पर विचार करते समय ग्रन्थकार ने वृद्धभरत तथा भरत का अनुसरण करते हुए भी कोहल तथा मातृगुप्त के ऐसे विचारों को निर्भ्रान्त भाव से प्रस्तुत किया है जिनका भरत एवं धनञ्जय के महत्त्वपूर्ण अंशों से साम्य नहीं रहता।

नाटक का वर्गीकरण करते समय आचार्य सुबन्धु के विचारों का यहाँ स्पष्ट उल्लेख किया है[2]। इसी मत के अनुसार नाटक को पूर्ण, प्रशान्त, भास्वर, ललित तथा

---

१. सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते।
भा० प्र०—अष्टम अधि० पृ० २२१ पं० १५।

२. सुबन्धुर्नाटकस्यापि लक्षणं प्राह पञ्चधा।
पूर्णं चैव प्रशान्तं च भास्वरं ललितं तथा॥
समग्रमिति विज्ञेया नाटके पञ्च जातयः।
भा० प्र०—अ० अधि० पृ० २३८, पं० १५-१७।

समग्र नामक पाँच भेदों में विभक्त किया है। शारदातनय ने पूर्ण आदि प्रत्येक नाटक-भेद के उदाहरण-रूप में पृथक्-पृथक् नाट्य-कृतियों का भी उल्लेख किया है और प्रत्येक उदाहरण के बीच उन आधारभूत कारणों का सामञ्जस्य भी दिखलाया है, जो तत्-तत् नाटक भेदों के लिये आवश्यक बताये गये हैं।

ग्रन्थकार ने पूर्व रङ्ग तथा इसके २२ अंग और कथावस्तु का वर्णन भरत के 'नाट्यशास्त्र' तथा धनञ्जय के 'दशरूपक' के ही क्रम से किया है। इस सम्बन्ध में 'नाद्यन्ते सूत्रधारः' वाक्य की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने समन्वयात्मक दृष्टि से काम लिया है[1]। इस विवेचना के अनुसार 'नान्द्यन्ते' पद में तत्पुरुष समास की स्थिति के अनुसार नान्दी के अनन्तर सूत्रधार के प्रवेश की सैद्धान्तिक मान्यता प्राप्त होती है। इस पद में बहुव्रीहि समास की स्थिति स्वीकार करने पर सूत्रधार के प्रवेश कर लेने के पश्चात् उसी के द्वारा नान्दीपाठ किये जाने का अभिप्राय प्रकट होता। विवेचन की उपर्युक्त दोनों पद्धतियों द्वारा शारदातनय ने सुप्रसिद्ध नाटक कृतियों के बीच विद्यमान सूत्रधार के प्रवेश से सम्बद्ध उभयविध रूपों में सामञ्जस्य प्रस्तुत किया है। विवेचन की यह पद्धति शारदातनय की तद्विषयक मान्यता को महत्त्व देती है।

संगीत-विवेचन-परक विशेषताएँ

शारदातनय ने संगीत और वाद्य को नाट्याभिनय के उपकारक तत्त्व रूप में स्वीकार करते हुए इन्हें भारतीय संगीत का उद्गम माना है अपने यहाँ संगीत-विषयक शास्त्रीय विषयों का गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है[2]। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में नृत्त की अङ्गाश्रित तथा संगीत को वाचिक अभिनय के प्रक्रियात्मक रूप में ग्रहण करते हुए विचार किया गया है। भारतीय संगीत के उद्गम पर विचार करते हुए सृष्टि-वर्णन-प्रसंग में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की सैद्धान्तिक मान्यताओं का स्पष्ट परिचय कराया गया है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार की महत्त्वपूर्ण विशिष्ट दृष्टि का साक्षात्कार

---

१. अथ नान्द्यन्तशब्दोऽत्र षष्ठीतत्पुरुषोऽपि वा।

भा० प्र०—स० अधि० पृ० २००, पं० १०।

२. नृत्तं गीतं च वाद्यं च नाटकाद्युपकारकम्।
गेयं प्राणाः प्रयोगस्य सर्वं वा गेयमुच्यते॥
गेयसाध्यं हि धर्मार्थकाममोक्षचतुष्टयम्।
तस्माद् गेयसमुत्पत्तिः सङ्क्षेपेणात्र कथ्यते॥

भा० प्र०—स० अधि० पृ० १८१, पं० १५-१८।

स्वरोत्पत्ति-विषयक विवेचन-क्रम में होता है। इस सम्बन्ध में लेखक ने दो मतों का उल्लेख किया है[1]। यथा—१. नाडिज-मत और २. धातुज-मत।

नाडिज-मत

यह एक स्वरोत्पत्ति-विषयक परम्परा-प्राप्त सिद्धान्त है, जिसके अनुसार संगीत के मूलभूत सप्तस्वरों की उत्पत्ति २२ श्रुतियों के साथ २२ नाड़ियों से मानी गयी है। इस मत का उल्लेख संगीत मकरन्द तथा 'संगीतरत्नाकर' में भी उपलब्ध है। इसी मत का प्रतिपादन 'भावप्रकाशन' में किया गया है।

धातुज-मत

इस मत के अनुसार सप्तस्वरों की उत्पत्ति त्वगादि सप्त धातुओं से ही मानी गयी है। ये सप्त धातु नाभि-स्थान से प्रारम्भ होने वाली २२ धमनियों से सम्बद्ध हैं। जब प्राण आदि पञ्च-वायु मन द्वारा नियन्त्रित स्थिति में आकर नाड़ियों के माध्यम से धातुओं में अग्नि को उद्दीप्त करते हैं तब धातुओं के साथ अग्नि के संयोग की सिद्धि होती है। अग्नि एवं धातुओं के इसी संयोग से नाद की उत्पत्ति मानी जाती है। यही नाद संगीत में स्वरों के नाम से प्रसिद्ध है। धातु एवं धमनियों की विभिन्न स्थितियों के कारण स्वरों के विभिन्न स्थानों एवं स्वरों से सम्बद्ध श्रुतियों की संख्या भी अनेक-रूपता प्राप्त कर लेती है। शारदातनय द्वारा प्रस्तुत स्वरोत्पत्ति-विषयक धातुज-सिद्धान्त का अद्यावधि उल्लेख अन्य किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। अतः स्वरोत्पत्ति-विषयक धातुज-सिद्धान्त ग्रन्थकार की निजी उद्भावना कही जा सकती है।

अभिनयपरक दृष्टि

नाट्य-विषयक सफलता का अभिनय की प्रक्रियात्मक स्थिति से सीधा सम्बन्ध है। अतः ग्रन्थकार ने नाट्य-विषयक विवेचन-क्रम में वाद्य-यन्त्रों तथा रङ्गमञ्च आदि अभिनय के सहयोगी अंगों पर व्यावहारिक तथा शास्त्र-सम्मत विवेचन प्रस्तुत किया है।

समन्वयपरक विशिष्टता

शारदातनय ने पूर्वाचार्यों तथा विशिष्ट ग्रन्थकारों के महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक अंशों के बीच समन्वयात्मक दृष्टि से काम लिया है। इस समन्वय को निम्नलिखित तीन रूपों में देखा जा सकता है—

---

१. स्वर्यमाणतया तत्तत्स्थानेषु मरुदाहतेः।
स्वरसंज्ञां लभन्ते ते तत्तन्नामपुरस्कृताः॥
अन्ये धातुभ्य उत्पन्नाः स्वरा इत्येव जानते।
भा० प्र०—स० अधि० पृ० १८६, पं० ४-६।

प्रथम रूप—ग्रन्थकार ने 'भावप्रकाशन' में ऐसे-ऐसे आचार्यों के नामों का उल्लेख किया है जो विभिन्न सिद्धान्तों के लिये प्रसिद्ध हैं। प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में शारदातनय इन विद्वान् आचार्यों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। इनमें कतिपय ऐसे आचार्य हैं जिनके ग्रन्थों का अद्यावधि कोई परिचय प्राप्त नहीं हो सका है। सदाशिव तथा नारद आदि ऐसे ही आचार्य हैं जिनके नामों का उल्लेख उनके विख्यात सिद्धान्तों के क्रम में कृतज्ञता-पूर्वक किया गया है।

द्वितीय रूप—द्वितीय कोटि में उन विद्वानों की गणना की गयी है जिनके सैद्धान्तिक स्वरूपों का ज्ञान उनके अन्यत्र लब्ध उद्धरणों से होता है। यह कहना कठिन है कि इस वर्ग के विद्वानों की मूल रचनाओं को शारदातनय ने स्वयं देखा था या दूसरों द्वारा उद्धृत अंशों के आधार पर ही अपनी मान्यताएँ स्थिर की हैं। इस वर्ग के विद्वानों में कोहल, मातृगुप्त, हर्ष, वृद्धभरत तथा सुबन्धु आदि का नाम उल्लेखनीय है।

तृतीय रूप—तृतीय श्रेणी में हमारे आलोच्य ग्रन्थकार ने उन विद्वान् ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है जो ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार सुविदित हैं और जिनकी प्रामाणिक कृतियाँ आज भी सुलभ हैं। इस वर्ग में भरत, आनन्दवर्धन, रुद्रट, धनञ्जय, धनिक, अभिनवगुप्त, भोज एवं मम्मट आदि हैं जिनका स्मरण तथा अनुसरण शारदातनय ने विविध स्थलों पर किया है। ऐसा करते समय कहीं तो ग्रन्थ के मूलरूप को ही अपरिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया गया है और कहीं-कहीं सैद्धान्तिक स्वरूप की अर्थ-परक अनुकृति की गयी है।

सहयोगी ग्रन्थ तथा आचार्य

जहाँ तक ग्रन्थों का सम्बन्ध है, 'भावप्रकाशन' के रचयिता ने इन ग्रन्थों से विशेष सहयोग लिया है—१—नाट्यशास्त्र, २. शृङ्गारप्रकाश, ३. सरस्वतीकण्ठाभरण, ४. दशरूपक, ५. अवलोक (दशरूपक-टीका), ६. अभिनवभारती (नाट्यशास्त्र की टीका), ७. काव्यप्रकाश।

आचार्य शारदातनय की स्वीकृतियों के अनुसार आचार्य अभिनवगुप्त के विचारों से ग्रन्थकार को—१. संगीत-विज्ञान, २. शब्दार्थ-सम्बन्ध और ३. शृङ्गार-रस-विवेचन में विशेष सहयोग प्राप्त हुआ है। इसी तरह नाटक के वर्गीकरण में सुबन्धु एवं २० उपरूकों में त्रोटक आदि विवेचन में हर्ष की सैद्धान्तिक मान्यताओं से सहयोग मिला है। जहाँ तक आचार्य रुद्रट का सम्बन्ध है इनका सहयोग शारदातनय को नायिकाओं की भेद संख्या ३८४ तथा गणिका एवं उसके प्रेमी के बीच स्थित प्रेम की प्रकृति के सम्बन्ध में उपलब्ध हुआ है। इससे स्पष्ट है कि 'भावप्रकाशन' के

रचयिता ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का एक सुस्पष्ट समन्वयात्मक रूप पाठकों के सम्मुख रखने का सफल प्रयास किया है।

ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की समाप्ति परक आख्यान में सम-सामयिक राजाओं की नाट्यविषयक अभिरुचि को जागृत, विकसित तथा प्रवृद्ध करने की दृष्टि से एक प्रेरणा-दायक सन्देश दिया है।

ग्रन्थ में शैलीगत शिथिलता, छन्दगत विषमता तथा व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियाँ विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। वस्तुतः विवेचन की शास्त्रीय पद्धति के सहारे विषयगत बहुरूपता को एक साथ उपस्थित करने के प्रयास में शैलीगत शिथिलता आ गयी है, जो सर्वथा स्वाभाविक है। जहाँ कहीं छन्दविषयक विपरीतता दृष्टिगोचर होती है, वहाँ भी विषयगत महत्त्वपूर्ण अंश की समाप्ति ही कारण हो सकती है। जहाँ तक व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियों का सम्बन्ध है उसके लिये ग्रन्थकार (भावप्रकाशन पृ० २५५ में) स्वयं क्षमा याचना करता है। इसी प्रकार विषयगत पुनरावृत्ति के सम्बन्ध में भी ग्रन्थकार का कथन है कि यह विषय की गहनता तथा भरत के शिष्यों की एक बड़ी परम्परा के मत-वैपरीत्य का ही कारण है, जिसे स्वाभाविक कहा जा सकता है।

आलोच्यग्रन्थ के प्रति गवेषक की दृष्टि

'भावप्रकाशन' विषयक चर्चा के प्रस्तुत प्रसंग में यह उपयुक्त प्रतीत होता है कि उन आधारभूत तथ्यों का उल्लेख किया जाये जिनके फलस्वरूप इस ग्रन्थ की ओर मेरी प्रवृत्ति रही है। विशेष प्रवृत्ति के निम्ननिखित कारण हैं।

रसविषयक व्यापक दृष्टि

आलोच्य ग्रन्थ रससम्प्रदाय के मूल रूप से लेकर उसके विकासमान व्याव-हारिक रूपों के समस्त परिवर्तन, परिवर्द्धन तथा संशोधनों के प्रामाणिक तथ्यों पर दृष्टि रखते हुए सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से शारदातनय का प्रयास अपने आप में अद्वितीय ही है। इन्होंने आचार्य भरत के पूर्ववर्ती आचार्यों की रस-विषयक स्वीकृतियों को वृद्धभरत के 'बृहन्नाट्यशास्त्र' का उल्लेख करते हुए प्रस्तुत किया है। इस प्रकार वर्त्तमान नाट्यशास्त्र के रचयिता आचार्य भरत के प्रति जहाँ लेखक का आदरपूर्ण भावना का संरक्षण एवं निर्वाह होता है वहीं रस-सम्प्रदाय-विषयक पूर्वपरम्परा के प्रामाणिक अस्तित्व का भी संकेत मिलता है। इसी शैली ने ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत किये गये विषयक-विवेचनक्रम में विषयानुरूप नवीन स्वीकृतियों को भी परम्परागत स्वरूप के साथ संयुक्त कर दिया है।

ग्रन्थकार ने आचार्य भरत द्वारा परिनिष्ठित रूप में प्रस्तुत किये गये रस सम्प्रदाय के ऐतिहासिक विकास क्रम पर भी सम्यक् ध्यान दिया है। इसीलिये इस

सम्प्रदाय के बीच अपने समय तक जो भी संशोधन मूलक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किये गये दृष्टिगोचर होते हैं उन्हें विशेष स्थलों पर उचित महत्त्व के साथ इन्होंने उपस्थित किया है। धनञ्जय, भोज, अभिनवगुप्त, कोहल, मातृगुप्त, सुबन्धु, द्रौहिणी और हर्ष जैसे भरत के परवर्ती विद्वानों का विविध प्रसंगों में उल्लेख उपर्युक्त भावना को सम्पुष्ट करता है। भरत के रससंप्रदाय का व्यापक स्वरूप अपने ऐतिहासिक विकासक्रम के साथ जिस प्रकार इस ग्रन्थ में सुलभ है, वैसा अन्यत्र नहीं है।

रसविषयक स्वतन्त्र दृष्टि और रङ्गमञ्च

ग्रन्थ में नाट्यरस को ध्यान में रखकर ही रसविषयक मान्यताओं पर विचार किया गया है। काव्य के नाट्यरूप की रसपरक सफलता पूर्णतया अभिनय की कलात्मक निपुणता एवं अनुकरणगर्भ स्वाभाविकता पर आश्रित है। यह एक ऐसा तथ्य है जो रङ्गमञ्च की प्रभावपूर्ण स्थिति को प्रमाणित करता है। ग्रन्थकार ने प्रस्तुत ग्रन्थ में रङ्गमंच-विज्ञान तथा उसके व्यावहारिक पहलुओं को सम्यक् महत्त्व प्रदान करते हुए नाट्यविषयक समस्त तत्त्वों तथा रसानुभूति के सहायक अंगों का विश्लेषण किया है। विविध भावों का रस के साथ जो अनुभूतिपरक सम्बन्ध प्रतिष्ठित किया गया है उसमें भी रङ्गमंच की विशेष स्थितियों का ध्यान रखा गया है। यह विवेचन का एक ऐसा आधार है जो इस विषय के अन्य विचारकों की अपेक्षा प्रस्तुत ग्रन्थकार को विशेष रूप से व्यावहारिक दृष्टि-सम्पन्न सिद्ध करता है। रङ्गमंच-विज्ञान की दृष्टि से ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत किये गये रस-विषयक तत्त्वों के प्रति जागृत हुई कुतूहल वृत्ति भी इस ग्रन्थ की ओर प्रवृत्त होने का एक प्रमुख कारण है।

लोकानुग्राहिणी दृष्टि

काव्यशास्त्र के सैद्धान्तिक तथा शास्त्रीय तत्त्वों पर विचार करते समय भी ग्रन्थकार की दृष्टि लोकरुचि एवं सामान्यवर्ग की रसग्राहिणी क्षमता की ओर निरन्तर उन्मुख रही है। यही कारण है इस ग्रन्थ में शकार, आभीर आदि सात जातियों तथा पाण्ड्य, केरल आदि ६४ जनपदों एवं उनकी १८ भाषाओं और सात समाजों के साथ-साथ विभिन्न उप-भाषाओं की चर्चा भी की गयी है। ग्रन्थकार इस बात से पूर्णतया अवगत है कि भारतवर्ष के विविध अंचलों, प्रसिद्ध जनपदों तथा जाति एवं समाज की आचार-पद्धतियों, रंजनकारी प्रथाओं की विशेष स्थितियाँ और भाषा-प्रकृतियाँ पृथक्-पृथक् हैं। कोई भी संवाद-गर्भ एक भाषात्मक स्वरूप अथवा वेश-भूषा-परक शारीरिक साज-सज्जा का विशेष प्रकार सबके लिये समान रूप से रसानुभूति जनक नहीं हो सकता है। यही कारण है कि वह नाट्य-रचना में प्रवृत्त कलाकारों की कथावस्तु एवं अपने लक्ष्य के अनुरूप विविध अंचलों तथा आवश्यक

अंगों की जन-जीवन-निष्ठ स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने पर बल देता है। लोक-जीवन परक ग्रन्थकार की इस विशेष दृष्टि ने भी इस ग्रन्थ के वर्ण्य विषय की ओर जिज्ञासु रूप में लोगों को आकृष्ट किया है।

शैलीगत संकेतात्मक दृष्टि

वास्तव में ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के प्रारम्भिक मंगल श्लोकों में ही नाट्यरसपरक दृष्टि का स्पष्ट संकेत कर दिया है। गजवदन गणेश का सर्वप्रथम स्तवन करते हुए उसके स्वरूप की संगीतगर्भ स्थिति का प्रथम श्लोक में ही निरूपण किया गया है। इसी तरह द्वितीय श्लोक में वेणुवादनरत श्रीकृष्ण को वाद्यनिष्ठ स्थिति का एवं तृतीय श्लोक में अम्बिकेश्वर महेश्वर के नृत्य परक स्वरूप का स्मरण कराया गया है। सामाजिकों के आह्लादजनक नाट्यरस के उपयोगी संगीत, वाद्य एवं नृत्य संज्ञक तत्त्वों की महत्त्वपूर्ण अवस्था का इन माङ्गलिक वाक्यों से संकेत उपलब्ध होता है। इस सन्दर्भ में रसगत के आश्रयभूत सामाजिकों की विशिष्ट अवस्था की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है। इस तथ्य ने भी ग्रन्थ के मांगलिक श्लोकों पर ध्यान देने के साथ ही साथ ग्रन्थ के वर्ण्य विषय की मीमांसा के प्रति सहज भाव से विद्वानों को उन्मुख किया है।

अन्य कारण

ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार की भावगत, रसगत, शब्दार्थनिष्ठ तथा नाट्य-शास्त्रीय जिन विशिष्ट स्थितियों का इस ग्रन्थ में विवेचन किया गया है। उनका समन्वित प्रभाव भी एक मुख्यकारण है जिसने हमें इस कार्य में प्रवृत्त किया है। आलोच्य ग्रन्थ के प्रथम बिन्दु से लेकर अन्तिम परिधि तक ग्रन्थकार स्वयं स्रष्टारूप में अगणित समस्याओं को प्रस्तुत करता है और उनका समाधान भी आचार्य की तरह करता हुआ सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। ग्रन्थकार की इस शैली एवं विषयनिष्ठ स्थिति ने भी इस ग्रन्थ के आलोड़न की ओर मुझे सतत प्रवृत्त रखा है।

भाववत विश्लेषण प्रसंगों में ग्रन्थकार ने जहाँ बाह्य-व्यापार-निष्ठ रस के विविध सहायक तथ्यों पर विचार किया है वहीं मनोगत भावों के आन्तरिक स्वरूपों का विवेचन भी पूर्णतया मनोवैज्ञानिक रूपों में प्रस्तुत किया है जो आधुनिक मनो-विज्ञान की नवीनतम उपलब्धियों के सर्वथा अनुरूप है। इसी तरह संगीत-विषयक चर्चा-प्रसंग में स्वरोत्पत्ति पर विचार करते समय आयुर्वेद-शास्त्र की मान्यताओं के अनुरूप धातुज-सिद्धान्त का निरूपण किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रति विशेष प्रवृत्ति के अनेक कारणों में ये भी कतिपय कारण रहे हैं।

विषय-सूची

चतुर्थ भाग : नाट्य प्रकरण

विषय	पृष्ठ

चित्र-सूची

सारिणी

प्रथम भाग

भाव प्रकरण

भाव प्रकरण

उपस्थापन

काव्यानन्द के सन्दर्भ में भाव को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है; क्योंकि इसके उद्‌बोधन के पश्चात् ही काव्यशास्त्र के अन्य साधनों में गति आती है। भावजगत् की व्यापकता का ही परिणाम है कि इसकी विभिन्न स्थितियाँ अपनी लौकिक तथा काव्यात्मक अनुभूतियों के अनुसार दो रूपों में उपलब्ध होती हैं। भाव के अनुभूतिगम्य इन दो रूपों में महान् अन्तर है। यदि भाव की लौकिक स्थिति पर विचार किया जाय, तो उसके सुखात्मक एवं दुःखात्मक ये दो प्रकार के प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। जिन पदार्थों में जीव प्रेय का बोध करता है, उनमें उसकी हठात् प्रवृत्ति होने लगती है। ऐसे स्थलों को प्राप्त करने के लोभ में जीवात्मा का ललकना स्वाभाविक है। सुख की उपलब्धियों के उपकरणों, व्यापारों तथा व्यक्तियों के सामीप्य को प्राप्त करने की विकलता का यही आधार है। इसके विपरीत दुःखात्मक भाव होते हैं, जो अनिष्ट की स्थिति उत्पन्न करते हैं, जिसे पाकर, अपनाकर या जिसकी सम्भावना-मात्र से ही चित्त को कष्ट पहुँचने की आशंका रहती है, उसे मानव अपने से हटाना चाहता है या उससे स्वयं दूर भागता है। लौकिक जीवन में राग, द्वेष, शत्रुता, मित्रता आदि परस्पर विरोधी स्थितियों को उत्पन्न करनेवाले ये भाव ही होते हैं।

जहाँ तक काव्यात्मक-भाव का सम्बन्ध है, उसमें लौकिक भाव की तरह त्याज्य एवं अग्राह्य प्रभाव वाले पथार्थों का पूर्णतया अभाव रहता है; क्योंकि दुःखात्मक वर्ग की लौकिक सीमा में उपस्थित होनेवाले त्याज्य अंश भी काव्य की भाव-भूमि में उपस्थित होकर ग्राह्य, प्रेय एवं अभीष्टरूप ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार लौकिक भाव से काव्यगत भाव की भिन्नता सुस्पष्ट ही है। दोनों किसी भी परिस्थिति में एक नहीं हो सकते। दोनों की अपनी-अपनी अनुभूतिमूलक विशेषताएँ और अपने-अपने प्रभाव की सीमाएँ हैं। इसमें एक बद्ध-हृदय की अवस्था में अनुभवगम्य होता है, तो दूसरा हृदय का साधन एवं साध्य बन जाता है। एक देश-काल सापेक्ष है, तो दूसरा उनसे पूर्णतया निरपेक्ष बना रहता है। एक सुखात्मक और दुःखात्मक द्वन्द्वों में जकड़ा रहता है, तो दूसरा निर्द्वन्द्व स्थिति में पहुँचकर निर्विशिष्ट सुख की अनुभूति करता है। यही कारण है कि लौकिकभाव का सम्बन्ध स्थूल से है, जो विशेष परिस्थिति एवं कारणों को लेकर संघटित होता है; किन्तु परिस्थिति के बदलते ही वह अपना रूप तथा प्रभाव भी बदल देता है। आशा को निराशा में,

हँसी को रुदन में तथा हर्ष को विषाद में बदलते उसे देर नहीं लगती। उषा और निशा की तरह, अन्धकार और प्रकाश की तरह परस्पर विरोधी लौकिक स्थितियों का क्रम प्राकृतिक रूप-व्यापारों की तरह अपरिहार्य ज्ञात होता है। इसके विपरीत काव्यगत भाव की स्थिति पूर्णतया, सूक्ष्मतया सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक अनुभूतियों को जागृत करनेवाली होती है। यह उस निर्विशिष्ट आनन्द का कारण है, जहाँ स्थूल के सुख-दुःखात्मक द्वन्द्व की तरह किसी परस्पर विरोधी अनुभूति का अस्तित्व ही नहीं रहता।

शारदातनय की भाव-विषयक मान्यता

शारदातनय ने भाव के लक्षण की चर्चा के प्रसंग में सर्वप्रथम भाव शब्द की व्युत्पत्तिमूलक स्थिति को ध्यान में रखते हुए उसे भावन, भूति एवं भावित करने वाला स्वीकार किया है[१]। इसी लक्षण को ध्यान में रखते हुए हमारे विद्वान् आचार्य ने भाव के तीन स्वरूपों का भी उल्लेख किया है, जिनके अनुसार भाव को पदार्थ तथा क्रियासत्ता अर्थात् क्रियात्मक अस्तित्व एवं मानस-विकार कहा गया है[२]।

भाव-विवेचन के सम्बन्ध में यदि हम संस्कृत-वाङ्मय की परम्परागत स्थिति पर विचार करें तो सर्वप्रथम हमें आचार्य भरत का नाम लेना होगा। आचार्य भरत (४०० ईसवी पूर्व) ने रस-सम्बन्धी चर्चा के प्रारम्भ में भाव पर भी अपना विचार व्यक्त किया है। अपनी रचना नाट्यशास्त्र में भरत ने भाव की विस्तृत व्याख्या की है। इतना अवश्य है कि भरत की भाव-सम्बन्धी चर्चा का मुख्य लक्ष्य नाट्य-प्रदर्शन है। आपने भाव के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया है कि विभाव, अनुभावादिकों को भाव क्यों कहा जाता है? क्या ये 'भावयन्ति' अर्थात् परिव्याप्त होने के कारण भाव कहे जाते हैं? उत्तर में स्पष्ट करते हुए कहा गया है—ये भाव इसलिए कहे जाते हैं; क्योंकि ये अनुभावों के वाचिक, सात्त्विक, आङ्गिक तथा आहार्य प्रदर्शन द्वारा नाटक के अर्थ को 'भावयन्ति' अर्थात् व्यञ्जित करते हैं। भाव का अर्थ कारण है; क्योंकि भावित, वासित तथा कृत आदि शब्द उसके समानार्थक हैं। यह भाव शब्द णिजन्त 'भू' धातु के 'भावना' मूल से व्युत्पन्न होकर परिव्याप्त अर्थ को व्यक्त करता हैं। इस प्रकार जब विभाव तथा अनुभाव का अर्थ दर्शकों के मन में परिव्याप्त कर दिया जाता है, तो उसे भाव के नाम से पुकारा जाता है।

---

१. भावः स्याद्भावनं भूतिरथ भावयतीति वा।
-(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ३, पं० २२)।

२. पदार्थो वा क्रियासत्ता विकारो मानसोऽथवा।
-(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ४, पं० १)।

भरत द्वारा प्रस्तुत की गयी उपर्युक्त चर्चा के आधार पर भाव को मानसिक अवस्थाओं का वाचक माना जा सकता है। विभाव, अनुभाव तथा संचारिभावों की स्थापना भी भाव के ही मौलिक आधार पर की जाती है।

आगे चलकर १० वीं शती में भाव शब्द का एक और विशिष्ट अर्थ विकसित हुआ दृष्टिगोचर होता है, जिसे हम धनञ्जय (१०वीं शती) की भावविषयक मान्यताओ में स्पष्टरूप से पाते हैं। धनञ्जय ने आश्रय की सुख-दुःखादिक भाव-स्थितियों के ज्ञापन को भाव माना है। धनञ्जय की उल्लिखित मान्यता भी नाट्य-शास्त्र की परम्परा में है। सरस्वती के वरद पुत्र आचार्य मम्मट (१२वीं शती) ने रसध्वनि तथा भावध्वनि का अलग-अलग विवेचन किया है। देवादि-विषयक रति आदिक स्थायिभावों की वर्णना एवं व्यभिचारिभावों की स्वतन्त्र अभिव्यञ्जना में भावध्वनि को स्वीकार किया जाता है। आगे चलकर १४वीं शती में आचार्य विश्वनाथ ने भी इसी तथ्य को और स्पष्टता के साथ उपस्थित करते हुए कहा है कि जब संचारियों का वर्णन किसी स्थायी का सहायक न होकर स्वतन्त्र तथा प्रधान होता है तब देवादि-विषयक रति तथा उद्‌बुद्ध-मात्र स्थायिभाव का वर्णन भाव ही कहलाता है। ११वीं शती में अभिनवगुप्त ने 'भाव' शब्द को स्पष्ट करते हुए इससे विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति को ही विवक्षित बताया है। इन्होंने भाव के दो कारण अर्थात् साधन माने हैं। नटगत भाव, अभिनय के माध्यम से भावन या उत्पादन में निमित्त बनते हैं।

वस्तुतः अभिनवगुप्त ने भरत की 'भावयन्तीति भावाः' इस उक्ति में प्रयुक्त 'भावयन्ति' इस पद के दो अर्थ किये हैं—प्रथम 'कुर्वन्ति' एवं द्वितीय 'व्याप्नुवन्ति'। यहाँ अभिनवगुप्त का कथन है कि वाचिक, सात्त्विक एवं आङ्गिक आदि अभिनयों से सम्बद्ध काव्यार्थभावन करनेवाली चित्तवृत्ति-विशेष ही भाव है। अभिनवगुप्त की स्पष्ट घोषणा है कि 'भू' धातु से णिच् प्रत्यय लगने पर 'भू' धातु का वही अर्थ है, जो 'कृ' धातु का होता है। इस प्रकार 'भावन' शब्द को 'करना' शब्द का पर्याय मान लिया जाता है। इसी आधार पर 'भावित' तथा 'कृत' शब्दों में भी कोई भेद नहीं रह जाता। आगे चलकर तो यह भी सुझाया गया है कि 'भावित' पद न केवल 'कृत' अर्थ का प्रतिपादन करता है; अपितु व्याप्त अर्थ का बोध करानेवाला होता है। इस समस्त विवेचन का अभिप्राय यह है कि 'भावयन्ति' पद के अर्थ 'कुर्वन्ति' तथा 'व्याप्नुवन्ति' दोनों ही सम्भव हैं।

जहाँ तक 'व्याप्नुवन्ति' पद का सम्बन्ध है—इसे स्पष्ट करने के लिये अभिनव-गुप्त ने भाव को कस्तूरी-गन्ध के समान मानते हुए कहा है कि कस्तूरी की गन्ध न तो

स्वयं को आधारान्तरित करती है और न ही अपने समान दूसरा गुण ही उत्पन्न करती है। कस्तूरी द्रव्य केवल इतना ही ज्ञान उत्पन्न कराता है कि आधारान्तरित वस्तु में भी वही गुण है, जो स्वयं कस्तूरी में। आधारान्तरित वस्तु में यह गन्ध तभी तक रहती है, जब तक उसका कस्तूरी के साथ सम्बन्ध है। यही बात यहाँ भी चरितार्थ होती है। वे ही वचिकादि अभिनय, जो वस्तुतः अनुकार्य में थे, अभिनय-वेला में भी पहले तो असाधारण से प्रतीत होते हैं; परन्तु बाद में साधारणीकरण के प्रभाव से अपना नियत देश, काल आदि छोड़कर सामाजिकों को व्याप्त कर लेते हैं।

भाव-निरुक्ति

शारदातनय ने 'भावनं', 'भूतिः', तथा 'भावयन्तीति' का उल्लेख करते हुए कुछ ही शब्दों में सब कुछ कह दिया है। चाहे भावन-व्यापार में 'कृ' धातु के सम्पादनत्व का समावेश करें अथवा 'व्याप्नुवन्ति' के अनुसार उसके व्यापन-व्यापार को महत्त्व प्रदान करें, इसके सम्पादन का साधन या तो कोई पदार्थ होगा अथवा कोई व्यापार या कोई मानसिक विकार ही होगा। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने 'भावन' को पदार्थ से, 'भूतिः' को क्रिया से और 'भावयन्ति' को मानसिक विकार से जोड़कर भावपद को व्यापार पदार्थ तथा मानसिक विकार-रूप में स्वीकार किया है। शारदातनय की इस मान्यता का परम्परागत मान्यताओं से कोई विरोध नहीं है; अपितु यह कहा जा सकता है कि आपने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के भाव-विषयक विचारों को ऐसे रूप में उपस्थित किया है, जो बोध-गम्यता की दृष्टि से सूत्रवत् अल्पाक्षरत्व में भी बह्वर्थ-बोधकत्व की शक्ति से परिपूर्ण है।

भाव की व्यापकता

शारदातनय ने भाव को व्यापक अर्थ में लिया है। जैसा कि ग्रन्थ के नामकरण में प्रयुक्त 'भाव' पद से ही स्पष्ट हो जाता है कि हमारे विद्वान् विवेचक को भावशब्द का व्यापक अर्थ ही ग्राह्य है; क्योंकि वह भाव-विवेचन के प्रसंग में रसानुभूति के समस्त अवयवों का सांगोपांग विवेचन करता है। इतना ही नहीं; अपितु नृत्त, नृत्य, लास्य और ताण्डव जैसे आङ्गिक भावगर्भित कार्यव्यापारों की सूक्ष्म विवेचना में पूरे सहयोग से प्रवृत्त होते हुए संगीत के भी ताल-स्वरों की समस्त लहरियों के साथ-साथ लहराता दिखलायी देता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तर्वृत्ति को आह्लादित-रूप में जागृत करनेवाली समस्त परिस्थितियों, आन्तरिक प्रवृत्तियों तथा इन्द्रिय-ग्राह्य क्रिया-विशेषों के महत्त्वपूर्ण योगदान की ओर भी उसकी दृष्टि है। यही कारण है कि 'भावप्रकाशन' में प्रयुक्त

भावपद का कार्य-क्षेत्र साहित्य की विवेचना-सारणियों में प्राप्त होने वाले सीमित दृष्टिकोण की अपेक्षा कहीं व्यापक अभिप्राय रखता है।

इस सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि शारदातनय ने अनुभूति के उस मूल आधार को ही भाव-रूप में अपनाया है, जो स्थूल साधनों तथा आन्तरिक एवं बाह्य कार्यक्रम के प्रभाव-पूर्ण परिवेश का सम्पर्क पाकर मानस-जगत् को उल्लसित कर देता है। उल्लास की स्थिति में पहुँचा हुआ यह भावात्मक प्रभाव सहृदय को भौतिक जगत् की स्थूल एवं ऐन्द्रिक-स्थितियों से ऊपर उठाकर उस स्तर पर पहुँचादेता है।

शारदातनय परम्परागत विचारों की प्रचलित सारणियों से भी अपरिचित नहीं हैं। इन्होंने रस-निष्पत्ति के कारण-रूप में स्वीकार किये गये साधनभूत सम्पूर्ण अंगों का सम्यक् महत्त्व स्वीकार किया है। इसीलिये इन्होंने विभावानुभावादिकों के भेदोपभेदों तथा प्रत्येक की सापेक्ष स्थितियों का भी समुचितरूप से विवेचन किया है। रसानुभूति के साधनरूप में स्वीकार किये जानेवाले विभावादिक अंग भी भाव के ही अन्तर्गत ग्रहण किये गये हैं। वस्तुतः अनुभूति के प्रथम बिन्दु से लेकर आध्यात्मिक स्तर की मुक्तावस्था तक जो भी अवस्थाएँ अनुभवगम्य होतीं हैं, उन्हें शारदातनय ने भाव की ही व्यापक परिधि के बीच रखकर विचार किया है। इस प्रकार 'भावप्रकाशन' में प्रयुक्त 'भाव' पद अनुभूति क्षेत्र का वह अगाध सागर है, जिसमें रस-निष्पत्ति के साधन-रूप तथा मानवीय चित्तवृत्तियों में आह्लादक हलचल उत्पन्न करनेवाले समस्त अंग उसी गम्भीर जलनिधि की लोल-लहरों के समान कल्लोल करते हुए दिखलायी देते हैं। इनके अनुसार भावना-भूमि की इस हलचल में उल्लास एवं विलासमय मनोहारीस्वरूप के साथ ही साथ गर्जन-तर्जन के ताण्डवमय स्वरूप का भीषण घोष भी विद्यमान है। इसलिए भावचर्चा के प्रस्तुत प्रसंग में विभावादियों के साथ जो सम्बन्ध इस ग्रन्थ में वर्णित है, उस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

भाव-भेद

शारदातनय ने भाव के पाँच भेदों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—

(क) विभाव,

(ख) अनुभाव,

(ग) स्थायिभाव,

(घ) व्यभिचारिभाव,

(ङ) सात्त्विकभाव[1]।

---

१. विभावाश्चानुभावाश्च स्थायिनो व्यभिचारिणः।
सात्त्विकाश्चेति कथ्यन्ते भावभेदाश्च पञ्चधा॥
-(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ४, पं० २-३)।

विद्वान् विवेचक ने इस प्रसंग में भाव-भेदों का परिचयात्मक उल्लेख करते हुए विभाव को अर्थ का भावित करनेवाला साधन बतलाया है। अर्थ को भावित करने से शारदातनय का तात्पर्य अनुभूतिगत स्थिति को जागृत तथा उद्दीप्त करने से है। वस्तुतः सुप्तावस्था में विद्यमान रहनेवाले आन्तरिक भावों को जबतक जागृत तथा उद्दीप्त होने की अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं प्राप्त होतीं तबतक, आह्लादमयी अलौकिक स्थिति तक नहीं पहुँच पाते। भरत आदि प्राचीन आचार्यों ने तथा तदनुसारी परवर्त्ती विचारकों ने भी इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए सुप्तावस्था की भावात्मक सत्ता को जागृत तथा उद्दीप्त करनेवाले तत्त्व को विभाव नाम से अभिहित किया है। शारदातनय ने भी इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए विभाव को अर्थ का भावक बताया है[१]।

भाव-भेद के प्रस्तुत सन्दर्भ में उल्लिखित विभाव के विषय में शारदातनय द्वारा प्रस्तुत किये गये विस्तृत विवेचन का मूल्यांकन आगे चलकर विभाव के विशेष प्रकरण में उपस्थित किया जायगा। यहाँ प्रसंग के अनुसार भाव के दूसरे भेदों की भी परिचयात्मक चर्चा आवश्यक प्रतीत होती है। इन भेदों के विषय में भी शारदातनय द्वारा उपस्थापित किये गये विस्तृत विवेचन को तो विशेष शीर्षकों के अन्तर्गत ही दिखाया गया है; किन्तु यहाँ संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

शारदातनय ने अनुभाव का परिचय देते हुए उसे भावित अर्थ की अनुभूति कहा है[२]। वास्तव में विभाव द्वारा जागृत एवं उद्दीप्त अर्थ जिस अवस्था में अनुभवगम्य हो पाता है, वही अनुभावरूप में शारदातनय को मान्य है। जैसा कि आगे चलकर शारदातनय ने स्पष्ट कर दिया है कि भावित अर्थ की अनुभूति आङ्गिक अर्थात् कायिक, वाचिक एवं सात्त्विक और आहार्य रूप-विशेषों तथा व्यापार-विशेषों द्वारा लपलब्ध होती है। ऐसे विशेषरूपवाले व्यापार ही अनुभाव-रूप में स्वीकार किये जाते हैं। शारदातनय का अभिप्राय विभावित अर्थ की अनुभूति से उपर्युक्त ही है।

अनुभाव के बाद शारदातनय ने स्थायिभाव का उल्लेख किया है और उसे चित्त में चिरकाल से स्थित रहनेवाला एवं अनुबन्धियों (विभावादिकों) के सम्बन्ध से वर्द्धित होकर रस-रूप ग्रहण करनेवाले भाव के रूप में स्वीकार किया है[३]। इस

---

१. अर्थान् विभावयन्तीति विभावाः परिकीर्त्तिताः।

-(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ४, पं० ४)।

२. विभावितार्थानुभूतिरनुभाव इति स्मृतः।

-(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ४, पं० ५)।

३. अवस्थिताश्चिरं चित्ते सम्बन्धाच्चानुबन्धिभिः।
वर्धिता ये रसात्मानः ते स्मृताः स्थायिनो बुधैः॥

—(भा० प्र०—अधि० पृ० ४, पं० ६-७)।

प्रकार शारदातनय ने स्थायिभाव का वह स्वरूप बताया है, जो चित्त में चिरकाल से रहता है और अनुबन्धियों के सम्बन्ध से रस-रूप ग्रहण कर लेता है। इस वर्णन से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि स्थायिभाव ही रस-रूपत्व ग्रहण करते हैं; परन्तु जबतक इन्हें विभावादिक अनुबन्धियों का सम्बन्ध प्राप्त नहीं होता, तबतक ये किसी प्रकार भी रस-रूपत्व नहीं प्राप्त कर सकते। वस्तुतः स्थायिभाव से तात्पर्य चित्त में विद्यमान रहनेवाले भावों को उस चिरकालीन रूप से है, जो अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों के अनुसार रस-रूपत्व ग्रहण कर कभी तो आह्लादिक स्थिति में पहुँच जाते हैं और कभी चित्त में ही अपने मूल स्तर पर पड़े रह जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्थायिभाव सदा रस-रूप ही नहीं ग्रहण कर पाता; क्योंकि इसके लिये विभावादिक अनुबन्धियों के सम्बन्ध की आवश्यकता रहती है।

यह सम्बन्ध यदि प्राप्त न हो सके तो स्थायिभाव में भी रसरूपत्व के दर्शन नहीं होंगे। यह कहा गया है कि प्रत्येक रस में स्थायिभाव की वह चिरकालीन मूलसत्ता अवश्य विद्यमान रहती है, जिसने अनुबन्धियों के सम्बन्ध से आह्लादक स्थिति में पहुँचकर रसरूपता ग्रहण की है। इतना पूर्णरूप से स्पष्ट है कि प्रत्येक स्थायिभाव को रस नहीं कहा जा सकता; क्योंकि रसरूपत्व ग्रहण करने के लिये विभावादि अनुबन्धितों का सहयोग आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

शारदातनय ने स्थायिभाव के पश्चात् व्यभिचारी भाव को भाव के चतुर्थ भेद के रूप में वर्णित किया है। व्यभिचारी ऐसे भाव हैं, जिनकी उत्पत्ति अनिश्चयात्मक स्थितिवाली है। अपनी प्रकृति के अनुसार ये रस-निष्पत्ति में स्थायिभाव के साथ-साथ संचरित होते हैं। उत्पत्ति-विषयक इनकी अवस्थिति तथा रसनिष्पत्ति में इनका बार-बार संचरित होना ही इनके व्यभिचारी कहे जाने का कारण है[१]।

व्यभिचारी भावों की चर्चा के पश्चात् भाव के अन्तिम भेद-रूप में शारदातनय ने सात्त्विक भावों का उल्लेख किया है। यहाँ सात्त्विक भावों को स्वीय तथा अस्वीय (परकीय) भेद से प्राप्त होनेवाले सात्त्विक विकार के रूप में स्वीकार किया है[२]।

---

१. अनवस्थितजन्मानो भूयोभूयः स्वभावतः।
स्थायिना रसनिष्पत्तौ चरन्तो व्यभिचारिणः॥
—(भा० प्र०— प्र० अधि० पृ० ४, पं० ८-९)।

२. सत्त्वजा ये विकाराः स्युः स्वीयस्वीयाविभागतः।
त एव सात्त्विका भावा इति विद्वद्भिरुच्यते॥
—(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ४, पं० १०-११)।

सात्त्विक भावों की प्रस्तुत चर्चा के प्रसंग में हमारे विद्वान् आचार्य ने अनेक सात्त्विकों का उल्लेख किया है, जिनपर आगे चलकर विभावादि अन्य भाव-भेदों के गुणों तथा प्रभावों एवं उनके विविध भेदोपभेदों का वर्णन करते समय विचार किया जायगा।

भावभेदों की कार्यकारणता

शारदातनय ने भाव के पाँच उपर्युक्त भेदों का वर्णन करने के साथ ही साथ उनके कार्यकारण-भाव जैसे पारस्परिक सम्बन्ध का भी वर्णन किया है। विद्वान् आचार्य ने इस प्रसंग में विभाव को अनुभाव का कारण तथा अनुभाव को विभाव का कार्य कहा है[1]। विभाव और अनुभाव के बीच की कारण-कार्यपरक इस दशा को शारदातनय ने व्यावहारिक बताया है। वस्तुतः चित्त में चिरकाल तक स्थित रहने वाला मूलभाव जब विभाव के सम्बन्ध से जागृत तथा उद्दीप्त होता है, तो उसकी स्वाभाविक, आन्तरिक तथा बाह्य प्रतिक्रिया भी पैदा होती है। यही प्रतिक्रिया अनुभावरूप में जागृत तथा उद्दीप्त हुए मूलभाव की अवस्था को व्यक्त करती है। जागृत तथा उद्दीप्त होने वाले मूलभाव की इस अवस्था को अनुभवगम्य बनानेवाला अनुभाव ही होता है। इस प्रकार अनुभाव वास्तव में विभाव के साथ मूलभाव के सम्पर्क का परिणाम व्यञ्जित करता है। यदि विभाव का सम्बन्ध चित्त के चिरकालीन मूलभाव से न हो पाये, तो अनुभाव का अस्तित्व ही सामने नहीं आ सकता।

इस प्रकार अनुभाव की स्थिति विभाव के प्रभाव की सूचना देनेवाले उपकरण के रूप में ही रहती है। यही कारण है कि विभाव के अभाव में अनुभाव का स्वतः अभाव रहा करता है, किन्तु यह बात सत्य है कि अनुभाव के ही स्वरूप से विभाव के सम्बन्ध का प्रभाव ज्ञात होना सम्भव है। इसी को ध्यान में रखकर ही सम्भवतः विभाव और अनुभाव में कार्य-कारण-सत्ता स्वीकार की गयी है। अनुभाव-रूपी कार्य के पहले विभाव-सम्बन्ध की निश्चित सत्ता विद्यमान रहती है। फलतः विभाव-सम्बन्ध के प्रभाव के बिना अनुभाव-रूप में परिलक्षित होनेवाली दशा उत्पन्न ही नहीं हो सकती। इस प्रकार विभाव ही अनुभाव का कारण सिद्ध होता है और यह कार्य-कारणभाव संस्कृत वाङ्मय की शास्त्रीय मान्यताओं के अनुरूप है।

शारदातनय ने इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि हृदय में स्थित मूलभाव विभाव द्वारा पोषित होता है और अनुभाव द्वारा अनुभावित तथा

---

१. विभावः कारणं कार्यमनुभावः प्रकीर्त्तितः।

—(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १३, पं० ११)।

व्यञ्जित[1] रसोदय में बहुत से दूसरे अनुभाव दिखलायी देते हैं, जो भिन्न-भिन्न रसों के उत्कर्ष का कारण कहे जाते हैं। इस प्रसंग में शारदातनय ने भिन्न-भिन्न रसों के अनुरूप अनुभूत होनेवाले तथा दृष्टिगोचर होनेवाले विभिन्न-जातीय अनुभावों का भी पृथक्-पृथक् विवेचन किया है, जिनका वर्णन अनुभाव शीर्षक के अन्तर्गत आगे चलकर किया जायेगा।

यहाँ शारदातनय का कहना है कि परिस्थितिविशेष में विभाव भी अनुभाव का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं और इसी प्रकार अनुभाव को भी विभाव का स्वरूप प्राप्त हो जाता है। ये दोनों कभी-कभी व्यभिचारी भाव की स्थिति में पहुच जाते हैं। इसी प्रकार कभी-कभी व्यभिचारी भाव भी विभाव तथा अनुभाव की दशा प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार इनमें पारस्परिक उपकार्य एवं उपकारी की अवस्था रसभेद के कारण ही उपस्थित होती है। इनके इस चंचल रूप को आनुषङ्गिक कहा गया है[2]।

भावविवेचन-सम्बन्धी १२ तथ्य

भाव-विवेचन के सम्पूर्ण प्रसंग को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि शारदातनय ने बारह ऐसे तथ्यों को भाव-चर्चा के आधारभूत प्रेरक-रूप में अपनाया है, जिनकी घोषणा ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कर दी गयी है[3]। इनमें सर्वप्रथम भाव-सामान्य का निरूपण किया गया है। ऐसा करते समय आपने परिचयात्मक रूप में 'भाव' पद की अर्थ-प्रकृति को पारिभाषिक अवस्था के अनुरूप उपस्थित किया है। यह एक ऐसा तथ्यभूत आधार है, जिसे शैली-क्रमानुसार भावभेद के विभावादि प्रत्येक तत्त्व का विवेचन करते समय भी ग्रहण किया गया है। भाव-सामान्य-निरूपण के उपरान्त उसके विभावादि प्रकारों का उल्लेख किया गया है, जिसे शारदातनय ने भावभेद कहकर व्यक्त किया है। प्रत्येक भेद का सामान्य निरूपण करते हुए उसके पृथक्-पृथक् उपभेदों का वर्णन किया गया है। स्मरणीय है कि भाव, भावभेद

---

१. ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत्।
भावो हृदि स्थितो येन व्यज्यते चानुभाव्यते ॥
(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १३, पं० १३-१४)।

२. विभावोऽप्यनुभावः स्यादनुभावो विभाववत्।
तौ पुनश्चारिणः स्यातां ते च तौ स्युः परस्परम् ॥
रसभेदवशादेवमुपकार्योपकारिता।
चरस्थिरविभागत्वमानुषङ्गिकमीरितम् ॥
(भा० प्र० अधि पृ० २७, पं० १-४)।

३. भावप्रकाशन—प्र० अधि० पृ० २, पं० २३ से पृष्ठ ३, पं० ६।

तथा उनके अवान्तर भेदों का परिचयात्मक स्थिति का निर्वचन करते समय प्रकृति प्रत्ययपरक व्युत्पत्तिमूलक अर्थ-प्रकृति का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है, जिससे तद्विषयक लोक-प्रचलित मान्यताओं का पूर्ण सामञ्जस्य हो जाता है। भावों की रसविषयक स्थिति के अनुरूप उनके सन्निवेश तथा प्रयोजन की भी विवेचना की गयी है। प्रसंग के अनुसार भावों के उपकार्योपकारि-भाव की चर्चा करते हुए उनकी कार्यकारणता-परक स्थिति को भी व्यक्त किया गया है। शारदातनय ने भावों की रसोपादानता का विवेचन करने के साथ ही साथ अनुभूतभाव की बोधगम्यतापरक अवस्था का भी निरूपण किया है, जिसे भाव-दर्शन पद द्वारा व्यक्त किया गया है। इस सन्दर्भ में भावों की विविध दृष्टियों तथा उनके विविध धर्मों की भी स्पष्ट व्याख्या की गयी है। प्रत्येक भाव के ऐसे प्रभाव की भी चर्चा की गयी है, जो भावों के पारस्परिक सामर्थ्य को व्यक्त करता है। इसी क्रम में भावों के साहचर्यमूलक सामर्थ्य को भी भाव-निरूपण के अन्तिम प्रेरक-सूत्ररूप में निरूपित किया गया है।

(क) विभाव प्रकरण

उपस्थापन

शारदातनय ने विभावों को रसानुभूति का वह तत्त्व बताया है, जो कार्यों को भावित करता है। वस्तुतः विभाव को भावभेद के रूप में स्वीकार करनेवाले शारदातनय ने कहीं-कहीं भावपद से भी विभाव अर्थ की अभिव्यक्ति की है, जो सन्दर्भगत विशेष स्थिति के आधार पर ही बोधगम्य होता है। जब रसनिष्पत्ति के सहायकरूप में स्वीकृत विभावादि सभी तत्त्व भाव के रूप में ही गृहीत हैं, तो किसी एक तत्त्व को भी भावशब्द द्वारा व्यक्त करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं रह जाती। इतना अवश्य है कि ऐसे स्थलों पर भावशब्द द्वारा लेखक रस-निष्पत्ति के सहायकरूप जिस तत्त्व को व्यक्त करना चाहता है, उसे सन्दर्भ के ही अनुसार समझ सकना सम्भव है। सन्दर्भ का सहारा लिये बिना बोधगम्यता अस्पष्ट ही रह जाती है। जहाँ तक भाव शब्द से विभाव-तत्त्व की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, शारदातनय ने विभाव-वर्णन के प्रसंग में भावशब्द का उपयोग करते हुए भी उसी स्थल के सामीप्य में विभाव पद का उल्लेख किया है, जिससे अर्थग्रहण करने में किसी प्रकार की अस्पष्टता नहीं रह जाती। अपने समर्थन में हम यहाँ शारदातनय की दो पंक्तियों का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं—

ललिता ललिताभासा भावाः श्रृङ्गारहास्ययोः।
स्थिराश्चित्रा विभावा ये ते वीराद्भुतयोः क्रमात्[1] ॥

---

१. भावप्रकाशन—प्र० अधि० पृ० ४, पं० १५-१६।

उपर्युक्त उद्धरण की प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त 'भावाः' पद 'विभावाः' के अर्थ को ही व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त है। इसीलिये वर्णन के उसी सातत्य में दूसरी पंक्ति का 'विभावाः' पद भी उपस्थित किया गया है। स्पष्टतः प्रथम पंक्ति में शृङ्गार और हास्य के क्रमशः ललित तथा ललिताभासमय विभावों का उल्लेख है, जो यह प्रकट करता है कि शृङ्गार के विभाव ललित तथा हास्य के ललिताभास होते हैं। इसी सन्दर्भ में दूसरी पंक्ति में 'विभावाः' पद का भी प्रयोग किया गया है। इसमें वीर तथा अद्‌भुत रस के लिये क्रमशः स्थिर तथा चित्र विभावों का उल्लेख है। तात्पर्य यह है कि वीररस के विभाव स्थिर तथा अद्‌भुत के चित्रमय होते हैं। द्वितीय पंक्ति में प्रयुक्त विभावपद अपने पूर्व परामर्शी संकेत द्वारा भावपद के विभाव अर्थ को सूचित करने के लिये यथेष्ट है। अभिप्राय यह है कि शारदातनय ने विभाव अर्थ की अभिव्यक्ति में जहाँ भावपद का भी प्रयोग किया है वहाँ वह अपने व्यापक अर्थ से हटकर विभाव के विशेष अर्थ का ही बोध कराता है।

विभाव-निरुक्ति

रस-निष्पत्ति के साधन-भूत विभाव तत्त्व की चर्चा करते हुए शारदातनय ने अपने ढंग से विभाव शब्द की उपसर्गगत विशेष स्थिति को ध्यान में रखते हुए भी विचार किया है। यहाँ विज्ञानार्थ को विभाव कहते हुए विज्ञान को विभावित कहा गया है। वस्तुतः भावशब्द के पूर्ववर्ती 'वि' उपसर्ग के विशिष्ट अर्थ को विद्वान् आचार्य ने विज्ञानार्थरूप में स्वीकार किया है; किन्तु इस प्रकार 'वि' उपसर्ग के विशिष्ट अर्थ से अस्पष्टता की स्थिति बनी रहती है। उसी तरह विज्ञानार्थ शब्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ की अस्पष्टता भी यथावत् विद्यमान रह जाती है। इसीलिये विज्ञान के स्वरूप को विभावित पद द्वारा अभिव्यक्त करने का शारदातनय ने पुनः प्रयत्न किया है। विभावित पद का विभाव पद के साथ अर्थ-मूलक साम्य तो है ही, रचनात्मक साम्य भी रहता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए उपसर्ग 'वि' के अर्थ को विज्ञान तथा विज्ञान के अर्थ को विभावित तक पहुँचाया गया है। इस सन्दर्भ में हमारे आलोच्य ग्रन्थकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वाचिक तथा आङ्गिक अभिनयानुसार बहुत से अर्थ विभावित होते हैं। इसीलिये इस प्रकार के अर्थ को विभावपद की संज्ञा दी गयी है।[1] इसी प्रकार वाक्, अंग तथा सत्त्वाभिनय जिससे विभावित होते हैं, उसे भी नाट्य तत्त्वज्ञों द्वारा विभाव पद के

---

१. विज्ञानार्थो विभावः स्याद् विज्ञानं च विभावितम्।
बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः॥
अनेन यस्मात् तेनायं विभाव इति संज्ञितः।
(भाव० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३८, पं० १०-१३)।

माध्यम से व्यक्त किया जाता है[1]। इस प्रकार विभाव तत्त्व वाचिक, आङ्गिक तथा सत्त्वाभिनय का कारण सिद्ध होता है; क्योंकि इसी से इन सभी के अभिनय-प्रदर्शन में सहयोग प्राप्त होता है। विभाव पद की तथाकथित कारणरूपता को ध्यान में रखते हुए ही शारदातनय ने निमित्त, कारण, हेतु तथा विभावना को विभाव पद का पर्यायवाची माना है[२]।

विभावगुण

विद्वान् आचार्य ने इस आलोच्य ग्रन्थ में विभावों की संख्या-मूलक परिगणना से पहले उनके विविध गुणों का वर्णन किया है, जो भिन्न-भिन्न रूपों में विविध रसों की निष्पत्ति के सहायक-भूत तत्त्व होते हैं। जैसा कि उद्धृत स्थल से भी स्पष्ट है—शृङ्गार रस की निष्पत्ति में विभाव का स्वरूप ललित रहा करता है अर्थात् विभाव के ललितरूप से ही शृङ्गाररस की निष्पत्ति हुआ करती है। यहाँ यह भी कहना अप्रासङ्गिक न होगा कि विभावों के भिन्न-भिन्न गुण हुआ करते हैं, जो अपने-अपने प्रभाव के अनुरूप भिन्न-भिन्न रसों की निष्पत्ति में सहायता पहुँचाते हैं, जिन्हें उद्दीपन कहा गया है। इनकी संख्या इस प्रकार है—ललित, ललिताभास, स्थिर, चित्र, खर, रूक्ष तथा विकृत एवं निन्दित। उनका क्रमशः शृङ्गार हास्य, वीर, अद्भुत, रौद्र, करुण तथा भयानक एवं बीभत्सरस की निष्पत्ति में योगदान करता है। इस प्रसंग में शारदातनय ने विभाव सम्बन्धी गुणों का भी पृथक्-पृथक् परिचयात्मक वर्णन दिया है। अपने ऐसे विभावों को ललित बताया है जो तत्तत् इन्द्रिय-ग्राह्य होते हुए मन में आह्लाद उत्पन्न करनेवाले रहा करते हैं[3]। ऐसे ही इन्द्रिय-ग्राह्य आह्लादजनक ललित-विभाव शृङ्गार रस को जागृत तथा उद्दीप्त करने वाले होते हैं।

इसी प्रकार हास को जागृत तथा उद्दीप्त करनेवाले विभाव, ललिताभास नामक विभाव के रूप में स्वीकार किये गये हैं, जो सूचित, श्रुत, दृष्ट एवं स्मृत होकर

---

१. वागङ्गसत्त्वाभिनयो येनैव च विभाव्यते।
स भावो नाट्यतत्त्वज्ञैर्विभाव इति दर्शितः॥
(भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३८, पं० ६-७)

२. निमित्तं कारणं हेतुर्विभावश्च विभावना।
इत्थं विभावपर्यायाः कथ्यन्ते भावकोविदैः॥
(भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४ पं २१-२२)।

३. ये मनोह्लादजननास्तत्तदिन्द्रियगोचराः।
ललितास्ते विभावाः स्युः शृङ्गारोत्कर्षहेतवः॥
(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ४, पं० २१-१२)।

हास्य रस की निष्पत्ति में सहायता पहुँचाते हैं[१]। शारदातनय ने ललिताभास के प्रस्तुत प्रसंग में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इन विभावों का प्रभाव सूचित, श्रुत आदि कार्य व्यापारों के बाद ही प्रत्यक्ष होता है।

वीर रस की निष्पत्ति में सहायक होनेवाले विभाव को 'स्थिर' की संज्ञा देते हुए शारदातनय ने उसे श्रुत, दृष्ट, स्मृत तथा ध्यात रूप में स्थैर्य का कारण बताया है[२]। यहाँ स्थिर-गुण-युक्त विभाव को शारदातनय ने श्रुत, दृष्ट, स्मृत तथा ध्यात-रूप में ही स्थिरता का कारण माना है। इससे स्पष्ट है कि स्थिर-गुण वाले विभावों में ये गुण दृष्ट आदि के पश्चात् आते हैं।

हृदय में वैचित्र्य अर्थात् कुतूहलवृत्ति को जागृत करनेवाले अनुभूयमान भावों को 'चित्र' विभावों की संज्ञा दी गयी है और उन्हें अद्भुत रस की निष्पत्ति में सहायक कहा गया है[३]। शारदातनय ने अद्भुत रस के विभावरूप में जहाँ चित्र का उल्लेख किया है, उसका अभिप्राय यह है कि इस वर्ग के विभाव चित्रगुणवाले होते हैं; क्योंकि इनके माध्यम से हृदय में वैचित्र्य की अनुभूति होती है। इनके चित्र कहे जाने का भी सम्भवतः यही आधार है।

करुण रस की निष्पत्ति में सहायता पहुँचानेवाले विभाव को 'रूक्ष' की संज्ञा दी गयी है। इन्हें रूक्ष कहने का कारण यह है कि ऐसे विभाव चक्षुरिन्द्रियगम्य होने के साथ ही साथ अर्थात् दृष्टिगोचर होते ही नेत्रों को क्लेश पहुँचाते हैं[४]। इसलिये इन्हें रूक्ष कहा गया है। वास्तव में करुणरस की निष्पत्ति के लिये नेत्रों को कष्ट पहुँचानेवाले विभाव ही सर्वाधिक सहायक सिद्ध होते हैं। इस मूल तथ्य को आलोच्य ग्रन्थ के प्रणेता ने 'रूक्ष' पद से व्यक्त किया है।

---

१. संसूचिताः श्रुता दृष्टाः स्मृता ये हासकारिणः।
ते भावा ललिताभासा हास्यसम्पत्प्रकाशकाः ॥
(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ५, पं० १-२)।

२. श्रुता दृष्टाः स्मृता ध्याता भवन्ति स्थैर्यहेतवः।
ते स्थिरा इति विज्ञेयाः वीराख्यरसपोषकाः ॥
(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ५, पं० ३-४)।

३. सदानुभूयमाना ये हृदि वैचित्र्यकारिणः।
भावाश्चित्रा इति ज्ञेयास्तेऽद्भुतैश्वर्यभावकाः ॥
(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ५, पं० ५-६)।

४. स्वगोचरैश्च विषयैः क्लिश्यन्तेऽक्षाणि तत्क्षणात्।
ते रूक्षा इति कथ्यन्ते करुणोत्पत्तिकारकाः ॥
(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ५, पं० ७-८)।

रौद्र रस के उत्कर्ष को बढ़ानेवाले विभावों को 'खर' कहा गया है। इनके विषय में ऐसा कहे जाने का कारण शारदातनय ने यह बताया है कि ऐसे विभाव ग्रहण-मात्र से ही मन को कातर कर देने में समर्थ होते हैं[1]। यहाँ मन को कातर कर देने की क्षमता 'खर' गुण में अभिहित है। इस वर्ग के विभाव कातरता उत्पन्न करने में इतने अधिक प्रभावशाली होते हैं कि उनके ग्रहणमात्र से ही मन द्रवित हो उठता है।

बीभत्स रस को जागृत तथा उद्दीप्त करनेवाले विभाव 'निन्दित' जातीय वाले बताये गये हैं। इनकी निन्दनीयता के दो कारणों का भी उल्लेख किया गया है। पहला कारण यह है कि ऐसे विभावों को देखने पर आंखें शीघ्र बन्द हो जाती हैं और दूसरा कारण यह है कि इनके लिये चित्त में किसी प्रकार की स्पृहा नहीं रहा करती[2]। वस्तुतः स्पृहणीय का निन्दनीय से स्वाभाविक विरोध रहता है। जिसे देखते ही आँख बन्द कर लेनी पड़े, उसके लिये मन में स्पृहा कैसी ? यह स्थिति ही इस वर्ग के विभावों को निन्दित कहे जाने का मुख्य कारण है।

भयानक रस के विभावों को 'विकृत' की संज्ञा दी गयी है। इस वर्ग के विभावोंमें ऐसे विषयों का ग्रहण किया गया है, जो इन्द्रियों के सम्पर्क से मन के भीतर विकृति को उत्पन्न करते हैं[3]। शारदातनय ने विकृत पद द्वारा जिस विशेष गुण का संकेत किया है, उसका बिम्बग्राह्य विवेचन करने के बदले उसे मन में विकृति उत्पन्न करनेवाला मात्र कहकर किनारा किया गया है। वास्तव में लोक-व्यापार की सामान्य शब्दावली में विकृत एवं विकृति पद का अर्थ भयानक रस के लिये अपेक्षित विकार की तुलना में कहीं व्यापक अर्थ में किया जाता है। इसलिये प्रस्तुत रस में सहायक-भूत मानसिक विकारों को अनुभवगम्यरूप की अभिव्यक्ति के लिये 'विकृति' के विशेष रूप का भी उल्लेख अपेक्षित होता है; किन्तु शारदातनय ने प्रस्तुत प्रसंग में विकृति पद का ग्रहण विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये ही किया है।

---

१. गृहीतमात्रा मनसः कातरोत्पादनक्षमाः।
ये भावास्ते खराः ख्याता रौद्रोत्कर्षविवर्धनाः॥
(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ५, पं० ९-१०।

२. अक्षीणि द्राङ्निमीलन्ति येभ्यो न स्पृहयन्ति च।
ते भावा निन्दिताख्याः स्युर्बीभत्सोल्लासकारकाः॥
(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ५, प० ११-१२।

३. विषयास्त्विन्द्रियैः स्पृष्टा विकृतिं जनयन्ति ये।
ते भावा विकृताः ख्याता भयानकविभावकाः॥
(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ५, पं० १३-१४।

आलम्बन विभाव

इस प्रसंग में इन्होंने रस के आधारभूत आलम्बन भावों का भी पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। ये आलम्बनभाव भिन्न-भिन्न रसों में विभिन्न गुणवाले भिन्न-भिन्न पात्रों के रूप में पाये जाते हैं और अपनी-अपनी विशेष स्थितियों में रस-सिद्धि को पूर्ण करते हैं। रस की अनुभूति के लिये इन आलम्बन-विभावों को रस का आधार-रूप माना जाता है। इनके अभाव में रस कभी अनुभव सिद्ध नहीं हो सकते; क्योंकि रसकी अनुभवसिद्धि तो इन्हीं पर आश्रित है[1]। शारदातनय ने सबसे पहले शृङ्गार के आलम्बन-विभाव का उल्लेख किया है और ऐसे आलम्बन-विभावों को मधुर, सुकुमार एवं रूप-यौवनशाली तन्वङ्गी तथा तरुण आदि के रूप में बताया है[2]। यहाँ तन्वङ्गी एवं तरुण आदि को मधुर, सुकुमार तथा रूप-यौवनशाली दशा में शृङ्गार का आलम्बन विभाव बताया गया है।

शृङ्गार के ही समान हास्य के आलम्बन विभाव का भी यहाँ उल्लेख किया गया है। व्यङ्ग्य, विकृताकार एवं दूसरे की चेष्टा का अनुकरण करनेवाले हास्य के आलम्बन-विभाव कहे गये हैं[3]।

शृङ्गार एवं हास्य के आलम्बन-विभावों की चर्चा के पश्चात् शारदातनय ने वीर के आलम्बन-विभावों की भी चर्चा की है। यहाँ त्यागी, शक्ति-सम्पन्न, शूर, वीर तथा शस्त्रास्त्र से क्षत-विक्षत रूप से अलंकृत होनेवाले को वीर रस के आलम्बन-रूप में बताया गया है[4]। वीर रस के आलम्बन विभाव के विशेष गुणों की बाह्य स्थितियों पर विचार करने के बाद अद्भुत रस के आलम्बन विभावों की चर्चा की गयी है। यहाँ त्यागी, शक्ति-सम्पन्न, शूर, वीर एवं विक्रमशाली तथा शस्त्रास्त्र से

---

१. अत्रैवालम्बना भावाः कथ्यन्ते रसभूमयः।
अनुद्दिष्टा अपि यथा रसानुभवसिद्धये ॥
(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ५, पं० १५-१६)।

२. मधुराः सुकुमाराश्च रूपयौवनशालिनः।
शृङ्गारालम्बना भावास्तन्वङ्ग्यस्तरुणादयः ॥
(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ५, पं० १७-१८)।

३. व्यङ्ग्याश्च विकृताकाराः परचेष्टानुकारिणः।
हास्यस्यालम्बना भावाः प्रायेण कुहकादयः ॥
(भा० प्र०—अधि० पृ० ५, पं १९-२०)।

४. त्यागिनः सत्त्वसम्पन्नाः शूरा वीराः सविक्रमाः।
वीरस्यालम्बना भावाः शस्त्रास्त्रक्षतिशोभिनः ॥
(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ५, पं० २१-२२)।

क्षत-विक्षत रूप से अलंकृत होनेवाले को वीर रस के आलम्बन रूप में बताया गया है। वीर रस के आलम्बन विभाव के विशेष गुणों की बाह्य स्थितियों पर विचार करने के बाद अद्भुत रस के आलम्बन-विभावों की चर्चा की गयी है।

विचित्र आकृति तथा विचित्र वेशवालों, विचित्र आचार तथा विचित्र विभ्रमवालों एवं माया की लीला में विलास करने वालों को अद्भुत रस का आलम्बन भाव कहा गया है[१]। जहाँ तक रौद्र रस के आलम्बन विभावों का सम्बन्ध है, शारदातनय ने उनकी रूप एवं गुण-परक विशेष स्थितियों का भी उल्लेख किया है। अनेक बाहुवाले, अनेक मुखवाले, भयंकर दन्त तथा सफेद अंग वाले क्रूर अद्भुत तथा शठ आदि रौद्र रस के आलम्बन-भाव होते हैं[२]। करुण रस के आलम्बन विभावों की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए शारदातनय ने कृश, विषण्ण (उदास), मलिन, रोगी तथा दुःखी एवं दरिद्रता से कुचले हुए विशेष पात्रों को करुण रस का आलम्बन कहा है[३]। इसी प्रकार बीभत्स रस के आलम्बन विभावों का भी विद्वान् आचार्य ने यथावत् उल्लेख किया है। इनका कथन है कि निन्दित आकृति तथा वेशवाले निन्द्य आचार तथा रुग्ण अंग वाले और पिशाच आदि बीभत्स रस के आलम्बन विभाव होते हैं[४]। अन्त में भयानक रस के आलम्बन-विभावों का भी उल्लेख यहाँ विद्यमान है। भयानक आलम्बन वे होते हैं जो महान् जंगल में प्रविष्ट और महान् संग्राम में प्रवृत्त रहनेवाले गुरु एवं राजा के प्रति अपराधी हुआ करते हैं[५]।

---

१. विचित्राकृतिवेषांश्च विचित्राचारविभ्रमाः।
अद्भुतालम्बना भावा मायालीलाविलासिनः॥
(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ६, पं १-२)।

२. बहुबाहा बहुमुखा भीमदंष्ट्राः सिताङ्गकाः।
रौद्रस्यालम्बना भावाः क्रूराद्भुतशठादयः॥
(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ६, पं० ३-४)।

३. कृशा विषण्णमलिना रोगिणो दुःखिनस्तथा।
करुणालम्बना भावा दारिद्र्योपहताश्च ये॥
(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ६, पं० ५-६)।

४. निन्दिताकृतिवेषाश्च निन्द्याचाराङ्गरोगिणः।
बीभत्सालम्बना भावास्ते पिशाचादयोऽपि च॥
(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ६, पं० ७-८)।

५. महारण्यप्रविष्टाश्च महासङ्ग्रामचारिणः।
भयानकालम्बनाः स्युर्गुरुराजापराधिनः॥
(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ६, पं० ९-१०)।

आलम्बनगत स्थिति या रस

विभिन्न रसों के आलम्बन विभावों का उल्लेख करते समय शारदातनय की दृष्टि पात्रों की बाह्य एवं आन्तरिक आकृतियों तथा प्रवृत्तियों की ओर वही है। प्रत्येक रस के प्रसंग में इन्होंने सर्व-प्रथम ध्यान रस-विशेष के लिये उपयुक्त आलम्बनभूत पात्र के बाह्य रूप की ओर दिया है। वस्तुतः आकार-प्रकार एवं रूप-रंग आदि का प्रभाव सद्यः हुआ करता है। इसलिये हृदय पर पड़ने वाले इस प्रभाव को ध्यान में रखकर शारदातनय ने सब से पूर्व आलम्बन-गत पात्र के रूप का उल्लेख किया है; किन्तु रसानुभूति की अन्तःसंवेद्य अलौकिक स्थिति तक पहुँचने के लिये पात्र के बाह्य रूप को ही निर्णायक नहीं माना जा सकता; क्योंकि जीवन में चाक्षुष रूप से सर्वथा विपरीत गुण तथा आचरण दशा भी पायी जाती है। अतः रस के अनुरूप पात्र के रूप में उसी भाव को सम्पुष्ट करनेवाले आचार-व्यवहारगत गुण भी होने चाहिए। जहाँ उपयुक्त रूप तथा अपेक्षित गुण दोनों ही किसी पात्र-विशेष में प्राप्त होते हैं, वहीं वह विशेष पात्र आलम्बन-विभाव की स्थिति में स्वीकार किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में बाह्य वातावरण तथा परिस्थिति को भी शारदातनय ने उचित महत्त्व प्रदान किया है। महारण्य-प्रवेश जैसी विशेषताओं को परिस्थिति तथा वातावरण के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में कालभेद-कृत प्रभाव को भी यदि ध्यान में रखकर निष्कर्ष को उपस्थित किया गया रहता तो विचारक की मान्यताओं को और अधिक बल प्राप्त होता। हमें ऐसा लगता है कि आलोच्य ग्रन्थ के रचयिता का ध्यान इस ओर नहीं गया।

आलम्बन विभाव के गुणरूप में ललित आदि जिन विशिष्टताओं का उल्लेख किया गया है, वे आलम्बन-विभाव के रूप में स्थायिभावों की रसात्मकता को यथायोग्य पुष्ट किया करती है। वस्तुतः स्थायिभावों की रसात्मकता को पुष्ट करने में ही विभावानुभावादिक भावों की चरम सफलता है। ये भाव, जिनमें विभाव का उल्लेख सबसे पहले किया गया है, जितनी मात्रा में रस को सम्पुष्ट करते हैं, उसी के अनुपात से उनकी उपयोगिता तथा महत्ता भी स्वीकार की जा सकती है। विविध रसों के आलम्बन-विभावों की चर्चा के अवसर पर शारदातनय ने जिन-जिन विशेष गुणों का उल्लेख किया है, वे रस के संपोषक तत्त्वरूप में ही महत्त्वपूर्ण माने गये हैं[1]।

---

१. ललिताद्या विभावास्ते भावेष्वालम्बनेष्वमी।
पुष्णन्ति स्थायिनो भावान् यथायोगं रसात्मनः॥
(भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ६, पं० ११-१२)।

विभाव के सम्बन्ध में शारदातनय ने अपनी मान्यता को उपस्थित करते हुए यथार्थ जीवन की ओर विशेष ध्यान दिया है। कोई ऐसी मान्यता, जो लोक-व्यवहार में दृष्टिगोचर होनेवाली यथार्थ स्थिति की उपेक्षा करके सामने रखी जाती है, निष्कर्षरूप में कभी भी स्वीकार नहीं की जा सकती। जहाँ तक शारदातनय की विभाव-सम्बन्धी मान्यताओं का सम्बन्ध है, उनमें इस प्रकार की कोई भी त्रुटि लक्षित नहीं होती, जैसा कि आलम्बन विभावों की विशेष प्रकृतियों तथा विशेष स्थितियों की चर्चा के प्रसंग में स्पष्ट मिलता है।

उपसंहार

विभाव-सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के आधार पर उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

१—शारदातनय ने विभाव को भाव-सामान्य का ही एक रूप निरूपित किया है। रस-निष्पत्ति में सहायक होनेवाले भाव के विविध रूपों में विभाव का अपना एक महत्त्व है, जिसे विभिन्न स्थितियों द्वारा स्पष्ट किया गया है।

२—विभाव का सामान्य परिचय उपस्थित करते हुए इस पद की व्युत्पत्ति-मूलक स्थिति पर सर्वप्रथम विचार किया गया है। इस प्रसंग में 'वि' उपसर्ग के विशिष्टार्थ का निवेचन विज्ञानार्थकरूप में किया गया है। वस्तुतः बोधगम्यता की दृष्टि से विशिष्ट तथा विज्ञानार्थ को भी अस्पष्ट ही कहा जा सकता है। शारदातनय इस तथ्य से भली-भाँति अवगत है। इसीलिये विभाव के रसपरक महत्त्व को ध्यान में रखकर इन्होंने पारिभाषिक-शैली के माध्यम से परिचयात्मक विश्लेषण उपस्थित किया है।

३—शारदातनय के अनुसार वाक्, अंग तथा सत्त्वाभिनय को विभावित करनेवाला तत्त्व ही विभाव कहलाता है। इस प्रकार अभिनय के उपर्युक्त रूपों को विभाव का कार्य तथा विभाव को उन रूपों का कारण बताया गया है।

४—'भावप्रकाशनम्' में विभाव के उन गुणों का सम्यक् विवेचन किया गया है, जो रस-निष्पत्ति में सहायक तत्त्व होते हैं। भिन्न-भिन्न ललितादि उद्दीपन नामक विभावगुणों का सम्बन्ध शृङ्गार आदि भिन्न-भिन्न रसों के साथ रहता है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही विभाव के तत्तत् गुणों का तत्तत् रसों की निष्पत्ति में महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

५—विभाव के आलम्बन रूप को रस-निष्पत्ति का आधार स्वीकार करते हुए प्रत्येक रसके आलम्बन विभावों पर विचार किया गया है। ऐसे स्थलों पर

विभाव गुणों में निरूपित किये गये विविध गुणों के आलम्बनगत सन्निवेश को भी पूरी तरह ध्यान में रखा है।

६—रसों के आलम्बनों पर विचार करते समय पात्र की बाह्य एवं आन्तरिक स्थितियों के प्रभावों का भी पूरा ध्यान रखा गया है। बाह्य आकृति का सम्बन्ध रूप की स्थूल दशा से रहता है, जो चाक्षुष प्रत्यक्ष कही जा सकती है। आकृति की विशेष प्रकृति, रूप-रंग का बाह्य सौन्दर्य आदि प्रभाव की दृष्टि से सद्यः प्रभावकारी होती है। इसलिये रस-निष्पत्ति के प्रसंग में रूप-सौन्दर्य की इस बाह्य स्थिति को अनुपेक्षणीय कहा जा सकता है। इसीलिये शारदातनय ने आलम्बन के रूप-सौन्दर्य निरूपण पर भी पूरा ध्यान दिया है। इतना होते हुए भी रस-निष्पत्ति की दृष्टि से बाह्य-सौन्दर्य की स्थूल स्थिति को ही पर्याप्त नहीं माना जा सकता। इसके लिये तो रूप सौन्दर्य के अनुरूप आन्तरिक अनुभूति की स्थिति का होना भी आवश्यक है। यही कारण है कि आलम्बन-विषयक चर्चा के प्रस्तुत प्रसंग में आलम्बन की बाह्य एवं आन्तरिक अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म सौन्दर्य को समन्वित दशा को विशेष महत्त्व दिया गया है।

७—रस प्रकरण में प्रत्येक विभाव तथा उसके प्रत्येक गुण का परिचयात्मक वर्णन तथा रसनिष्पत्ति में तत्तत् विभाव एवं गुणों के महत्त्व का पृथक्-पृथक् निरूपण किया गया है।

(ख) अनुभाव-निरूपण

उपस्थापन

शारदातनय ने भावभेदों की चर्चा के सन्दर्भ में भावान्तरों की तरह अनुभाव के भी सामान्य स्वरूप का सर्वप्रथम निरूपण किया है। वस्तुतः हमारे विवेच्य आचार्य की शैली यह है कि सबसे पहले वे विचारणीय विषय का सामान्य परिचय संक्षेप में उपस्थित कर देते हैं और उसके अनन्तर उसके कारणों तथा गुणात्मक विविध स्थितियों पर विचार करने लगते हैं। जहाँ कहीं आवश्यक होता है, वहाँ विषय से सम्बन्ध रखनेवाले मत-मतान्तरों का भी ऐसे स्थलों पर उल्लेख कर देते हैं। मत-मतान्तरों के उल्लेख में शारदातनय ने अपनी ओर से निष्पक्षता दिखाने की चेष्टा की है। इसीलिये किसी विशेष मान्यता के गुण-दोष-मूलक आलोचनात्मक वर्णन का प्रसंग जान-बूझकर नहीं लाया जाता। जहाँ कहीं कुछ ऐसे संकेत रहते भी हैं, वहाँ वे नहीं के बराबर ही दृष्टिगोचर होते हैं। शारदातनय भरत मतानुगामी आचार्य हैं। इसलिये भाव-सम्बन्धी विवेचना करते समय इनकी दृष्टि नाटकीय पहलुओं की ओर अवश्य रहती है। प्रस्तुत सन्दर्भ में हमें अनुभाव-विषयक शारदातनय के वर्णनों की छान-बीन करनी है।

अनुभाव-निरुक्ति

शारदातनय ने अनुभाव के सामान्य स्वरूप का निरूपण पहले किया है और उसे भावित अर्थ की अनुभूति कहा है[1]। वस्तुतः विभाव-सम्बन्ध से जागृत तथा उद्दीप्त भाव की प्रभावपूर्ण आन्तरिक तथा बाह्य प्रतिक्रिया अनिवार्यरूप में सामने आती है। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही जागृत तथा उद्दीप्त भाव की उदीप्तावस्था का अनुभव हो पाता है। इसीलिये विभाव को कारण तथा अनुभाव को कार्यरूप में व्यक्त किया गया है। विभाव के प्रभाव के ठीक बाद ही अनुभाव की स्थिति स्वीकार की जाती है। इसीलिये हमारे विद्वान् आचार्य ने यहाँ विभाव की अनुभूति को अनुभाव कहा है। स्पष्ट है कि अनुभाव का कार्य आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों द्वारा भावित अर्थ की अनुभूति कराना-मात्र है।

अनुभावभेद

शारदातनय ने मन, वाक्, काय तथा बुद्धि को आधार-भूत उपकरण स्वीकार करते हुए अनुभाव के चार प्रकार बताये हैं[2], जिन्हें हम क्रमशः मानसारम्भानुभाव, वागारम्भानुभाव तथा कायिक एवं बौद्धिक अनुभाव कह सकते हैं।

इन्होंने उपर्युक्त अनुभाव-भेदों की पृथक्-पृथक् भी चर्चा की है। मनआरम्भानुभावों की चर्चा सबसे पहले की गयी है और स्त्रियों के ऐसे दस अनुभावों का उल्लेख किया गया है।[3] इसी तरह वागारम्भानुभावों को आलाप-पूर्वक प्रकट करते हुए उनकी संख्या बारह बताई गयी है। लीला आदि दस गात्रारम्भानुभावों को भी स्त्रियों से सम्बन्ध रखने वाला अनुभाव कहा गया है। बुद्ध्यारम्भानुभावों की चर्चा करते समय शारदातनय ने उन्हें रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्ति शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। इस प्रकार रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्ति को भी अनुभाव-क्षेत्र के साथ जोड़ दिया गया है[4]।

शारदातनय ने मन-आरम्भानुभावों की चर्चा के प्रसंग में सबसे पहले मनका विवेचन किया है क्योंकि इस वर्ग के अनुभावों से इसी का निकट सम्बन्ध रहता है।

---

१. भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ३-४, पं० ५।

२. अनुभावश्चतुर्धा स्यान्मनोवाक्कायबुद्धिभिः।
(भा० प्र० प्र० अधि० पृ० ६ पं० १३)।

३. मन आरम्भानुभावा भावाद्या दश योषिताम्।
(भा० प्र० प्र० अधि० पृ० ६ पं० १४)।

४. बुद्ध्यारम्भानुभावाश्च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः।
(भा० प्र० प्र० अधि० पृ० ६ पं० १७)।

इन्होंने मन को सत्त्व-परिणामी द्रव्य कहा है[1] और सत्त्व तथा सात्त्विक का भी संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है। इस प्रसंग में यौवनावस्था की स्त्रियों के बीस सत्त्वज अलंकार कहे गये हैं।[2] इस प्रकार सत्त्व अलंकारों के उल्लेख के साथ-साथ इन्होंने मन का प्रसंग भी उपस्थित किया है।

ईश्वर एवं मुक्तावस्था वाले पुरुषों के मनको संकल्प-रूप बताया गया है जो वहीं सांसारिकों के मनरूप में परिणत होकर उपस्थित होता है[3]। यहाँ अन्य विद्वानों के भी विचारों का संकेत करते हुए शारदातनय ने मन को सत्त्व-रूप बताया है। अभिप्राय यह है कि सत्त्व-परिणामी संकल्प के आधार पर मन की स्थिति भी सत्त्वमयी रहती है[4]। रजःपरिणामी द्रव्य को उन्होंने प्राण कहा है। यही प्राण ईश्वर तथा मुक्तों के भी कार्य-व्यापार का कारण होता है[5]। यही रजःप्ररिणामी द्रव्य सांसारिकों के प्राण-रूपमें विद्यमान रहता है[6]।

शारदातनय ने जहाँ रजःपरिणामी को प्राण कहा है वहीं तमः-परिणामी द्रव्य को वाग्-रूप स्वीकार किया है। यह वाग्-रूप तमःपरिणामी द्रव्य अपने शोभनरूप में ईश्वर तथा मुक्तों से सम्बन्ध रखता है[7]। सांसारिकों में वाक् का रूप शब्दाकारमय होता है अर्थात् वाक् की ही सांसारिक परिणति शब्दाकार में होती है[8]।

---

१. यत्सत्त्वपरिणामि स्याद्द्रव्यं तन्मन उच्यते।
(भा३ प्र० प्र० अधि० पृ० ६ पं० १७)।

२. यौवने सत्त्वजाः स्त्रीणामलङ्कारास्तु विंशतिः।
(भा० प्र० प्र० अधि० पृ० ६ पं० २०)।

३. ईश्वरस्य च मुक्तानां तत्सङ्कल्पो भविष्यति।
(भा० प्र० प्र० अधि० पृ० ६ पं० २४)।

४. तत्सत्त्वपरिणामित्वात् सत्त्वमित्युच्यते बुधैः।
(भा० प्र० प्र० अधि० पृ० ७ पं० २)।

५. यद्रजः परिणामिस्याद् द्रव्यं स प्राण उच्यते।
ईश्वरस्य च मुक्तानां क्रियाहेतुः स ईरितः॥
(भा० प्र० प्र० अधि० पृ० ७ पं० ३-४)।

६. संसारिणां पुनरसौ प्राणाकारेण तिष्ठति।
(भा० प्र० प्र० अधि० पृ० ७ पं० ५)।

७. यत्तमः परिणामि स्याद् द्रव्यं सा वागुदाहृता।
(भा० प्र० प्र० अधि० पृ० ७ पं० ६)।

८. संसारिणां परिणमेच्छब्दाकारेण सा पुनः।
(भा० प्र० प्र० अधि० पृ० ७ पं० ६)।

मुक्त तथा ईश्वरोत्थ वाक् को विद्वानों ने वाणी की संज्ञा दी है और इस प्रकार विद्वानों का उल्लेख करते हुए शारदातनय ने उसी विचार को अपने विचार के रूप में संपुष्ट कर दिया है[1]। यहाँ विद्वान् विवेचक ने वाणी के विभिन्न अधिष्ठातृ-देवों की भी चर्चा की है जो यौगिक मान्यताओं के आधार पर है। मन, प्राण और वाक् तत्तत् रूपों में आत्मा से भी सम्बद्ध होते हैं। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए जीव आदि की विविध स्थितियों का भी उल्लेख किया गया है और कार्य-व्यापार में इनकी कार्य-कारणता भी दिखलायी गयी है। सर्व साक्षी होने के नाते मन को आदित्य-रूप अधिष्ठातृ-देव कहा गया है[2]। इस प्रकार का मन गुणों से अस्पृष्ट रहते हुए सत्त्व कहा गया है और इसी अधिकृत मन के प्रथम स्पन्दन को भाव की संज्ञा दी गयी है[3]। इसी आधार पर मन के विकार का भावत्व प्रकट किया गया है।

स्त्रियों के मन-अनुभाव

स्त्रियों के मन आरम्भानुभावों की संख्या शारदातनय ने दस बतलायी है जो इस प्रकार है—

१--भाव, २—हाव, ३—हेला, ४—शोभा, ५—कान्ति, ६—दीप्ति, ७—प्रागल्भ्य, ८—धैर्य, ९—औदार्य, १०--माधुर्य। विद्वान् आचार्य ने अनुभावों के इन स्वरूपों का भी परिचयात्मक विवरण उपस्थित किया है। इस सन्दर्भ में भाव के विषय में आपका कथन है कि वाक्, अंग, मुख, रस तथा सत्त्वाभिनय से आन्तरिक तथा बाह्य अर्थों को भावित करने से ही यह भाव कहलाता है[4]।

हाव की चर्चा करते समय शारदातनय ने नाक, आँख, भ्रू आदि के बीच विलास की स्थिति उत्पन्न करने वाले तथा ग्रीवा को भी प्रभावित करने वाले तत्त्व को हाव कहा है[5]। ललित अभिनययुक्त तथा नाना रूपों में अभिव्यक्त होकर

---

१. या मुक्तेश्वरवागुत्था सा वाणीत्युच्यते बुधैः।
(भा० प्र० प्र० अधि० पृ० ७ पं० १०)।

२. आदित्यः सर्वसाक्षित्वान्मनो यत्तदधिष्ठितम्।
(भा० प्र० प्र० अधि० पृ० ८ पं० २)।

३. तादृगेव मनः सत्त्वं गुणैरस्पृष्टमुच्यते।
तस्मादविकृताद्यः स्पन्दो भाव उदाहृतः॥
(भा० प्र० प्र० अधि० पृ० ८ पं० ४-५।

४. वाग्भिरङ्गैर्मुखरसैर्यस्सत्त्वाभिनयेन च।
भावयन् बहिरन्तस्स्थानर्थान् भाव उदाहृतः॥
(भा० प्र० प्र० अधि० पृ० ८ पं० ९-१०)।

५. सग्रीवारेचको हावो नासाक्षिभ्रूविलासकृत्।
(भा० प्र० प्र० अधि० पृ० ८ पं० १२)।

शृङ्गार के आकार को सूचित करने वाले हाव को ही हेला कहते हैं।[1] इस प्रकार हाव तथा हेला के बीच अभिनयात्मक स्थिति को लेकर ही अन्तर है ऐसा प्रतीत होता है। शोभा की चर्चा करते हुए शारदातनय ने इसे अंग से सम्बद्ध ऐसा अलंकार माना है जो रूप के उपभोग के उत्कर्ष से प्रकट होता है[2] अर्थात् अंग को अलंकृत कर देने वाला वह प्रभावमय तत्त्व ही शोभा कहा गया है जो रूप के उपभोग की उत्कृष्टतावश ही प्रकट होता है। शोभा को ही कामदेव-मथित सौन्दर्य की दशा में कान्ति की संज्ञा दी गयी है।[3] उपभोग द्वारा देश, काल और गुणादिकों से उद्दीप्त होकर विस्तार प्राप्त करने की दशा में तत्त्व को दीप्ति कहा गया है।[4] इस प्रकार कान्ति और दीप्ति के बीच पूर्वापरीभाव का निरूपण किया गया है। तात्पर्य यह है कि शोभा, कान्ति और दीप्ति में स्थितिगत भेद ही रहता है जो प्रभाव के उत्कर्षापकर्ष के आधार पर ही पारस्परिक अन्तर को प्रकट करता है। इसी प्रभाव के आधार पर प्रत्येक को एक दूसरे से पृथक् किया गया है। माधुर्य का परिचय देते हुए शारदातनय ने उसे ऐसा भाव स्वीकार किया है जो सभी अवस्थाओं में चेष्टाओं को मृदुलता प्रदान करता है।[5] सर्वत्र प्रयोगों में कुछ भी सिद्ध न कर सकने वाले सत्त्व को प्रागल्भ्य कहा गया है।[6] मन को दृढ़ता-पूर्वक अचल रखने वाला तत्त्व धैर्य के नाम से व्यवहृत है।[7] सत्त्वावस्था का अनुगामी प्रश्रय ही औदार्य कहलाता है।[8]

---

१. स एव हावो हेला स्याल्ललिताभिनयात्मिका।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ८ पं० १२।

२. रूपोपभोगतारुण्यैर्योऽलंकारोऽङ्गसंश्रयः।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ८ पं० १५।

३. सा शोभा सैव कान्तिः स्यान्मन्मथाप्यायिताच्छविः।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ८ पं० १५।

४. कान्तिरेवोपभोगेन देशकालयुगादिभिः।
उद्दीप्यमाना विस्तारं याता दीप्तिरिति स्मृता॥
भा० प्र०--प्र० अधि० पृ० ८ पं० १७-१८।

५. सर्वावस्थासु चेष्टानां माधुर्यं मृदुकारिता।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ८ पं० १९।

६. निस्साध्यसत्वं प्रागल्भ्यं प्रयोगेषु च सर्वतः।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ८ पं० २०।

७. मानग्रहो दृढो यस्तु तद्धैर्यमिति कथ्यते।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ८ पं० २१।

८. औदार्यं प्रश्रयः प्रोक्तः सत्त्वावस्थानुगो बुधैः।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ८ पं० २२।

विद्वान् आचार्य ने यहाँ आन्तरिक स्थितियों के प्रभाव-पूर्ण रहस्यमय पठन पर भी विचार किया है। इस व्यवस्था में उन्होंने यौगिक मान्यताओं का भी सहारा लिया है[1]। प्राणमय तथा मनोमय स्वरूपों की चर्चा यौगिक व्यवस्था के आधार पर ही की गयी है। मन आरम्भानुभाव के प्रसंग में मनोमय स्थिति के वर्णन का पर्याप्त महत्त्व हो जाता है। वस्तुतः समस्त कार्य-व्यापारों के संचालक-रूप में शारदातनय ने इसी मनोमय तत्त्व को ग्रहण किया है।[2] इसी आधार पर मन-आरम्भानुभावों के ऊपर गिनाये गये प्रत्येक स्वरूप का प्रभाव बतलाया गया है।

विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है जैसे ऊपर कहे गये इन अनुभावों में शोभा, कान्ति आदि कुछ ऐसे भी रूपगुण हैं जो शारीरिक स्थिति में चक्षुग्राह्य होते हैं, किन्तु स्थल रूप की सीमा में प्रकट होने वाले इन गुणों को गात्रारम्भानुभावों में नहीं गिना जा सकता। यद्यपि इन बाह्य दृष्टगुणों का सम्बन्ध मन के भीतर उत्पन्न होने वाली अनुभूति से ही है, क्योंकि मनोयय तत्त्व ही आन्तरिक अनुभूति के प्रत्येक स्वरूप को संचालित करने वाला है। अतः शारदातनय ने इन गुणों को भी मन के साथ सम्बद्ध करके ही उपस्थित किया है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि गात्र द्वारा अपनी विशेष गति-विधियों के माध्यम से जो व्यापारात्मक रूप प्रकट किये जाते हैं, क्या वे मन के प्रभाव से सर्वथा मुक्त हैं? यदि ऐसी बात होती तो मनोमय तत्त्व को जीवों का कर्म कारयिता कैसे कहा जाता, जैसा कि शारदातनय ने स्वयं स्वीकार किया है। वस्तु-स्थिति यह है कि कारण के अभाव में कार्य कभी सम्भव नहीं होता। अतः गात्रारम्भानुभावों के पीछे भी मनोमय तत्वों ही की कारणता विद्यमान है। ऐसी स्थिति में गात्रारम्भानुभावों को भी मन-आरम्भानुभावों में गिन लेना युक्तिसंगत जैसा प्रतीत होने लगता है, किन्तु शारदातनय के प्रस्तुत वर्गीकरण में आधारमूलक स्थिति इससे भिन्न है। मन-आरम्भानुभावों में इन्होंने केवल ऐसे ही स्वरूपों को ग्रहण किया है जिनका अस्तित्व मानसिक अनुभूतियों के कारण ही प्रकट रहता है। ऐसे अनुभावों में अन्तः तथा बाह्य स्थितियों को प्रभावित करने की अद्भुत क्षमता रहती है। इस प्रभाव की प्रतिक्रिया मानव शरीर के स्थूल रूप पर ही होती है। इसी के फलस्वरूप स्थूल रूप में शोभा, कान्ति आदि विशेष गुणों के दर्शन होने लगते हैं। ऐसे गुणों को हम गात्रारम्भानुभाव

---

१. अधिष्ठातार इत्येषा व्यवस्था योगिभिः कृता।

भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ७ पं० २२।

२. मनोमयस्तु जीवानां कर्मकारयिता भवेत्।

भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ७ पं० २२।

के वर्ग में स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि इनके पीछे शारीरिक अंगों के कार्यव्यापार का कोई हाथ नहीं रहता। जहाँ तक गात्रारम्भानुभावों के रूप में स्वीकार किये जाने वाले तत्वों का सम्बन्ध है, उन्हें मनोमय तत्त्व से अनुप्रेरित तत्त्व स्वीकार करने के बाद भी मन आरम्भानुभावों में ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनका अस्तित्व विभिन्न शारीरिक अंगों द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले व्यापारों में ही सम्भव है। इनकी स्थिति में केवल मन की प्रेरणा का ही आधार नहीं रहता, क्योंकि वे तो शरीर के विविध अंगों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं इसलिये इनके अस्तित्व का आधार हमारा आङ्गिक कार्यव्यापार ही है। स्पष्ट है जिन अनुभावों की सत्ता के पीछे एक मात्र मानसिक अर्थात् आन्तरिक अनुभूति का ही प्रभाव रहता है और शरीराङ्गों के कार्य-व्यापार की सहायता लेने की कोई आवश्यकता नहीं रहती उन्हीं तत्त्वों को शारदा-तनय ने मन-आरम्भानुभावों के अन्तर्गत माना है तथा कथित गात्रारम्भानुभावों के पीछे हमारी मानसिक अनुभूतियों के साथ ही साथ आङ्गिक कार्य-व्यापारों का भी हाथ रहता हैं, अर्थात् मानसिक अनुभूति से अपेक्षित प्रेरणा प्राप्त होने के उपरान्त भी शारीरिक अंगों द्वारा किये जाने वाले कार्य-व्यापारों के बिना जिन अनुभावों का अस्तित्त्व सम्भव ही नहीं केवल उन्हीं अनुभावों को गात्रारम्भानुभावों की संज्ञा दी गयी हैं जो सर्वथा उचित प्रतीत होती है।

मन तथा गात्रारम्भानुभाव में अन्तर

मन-आरम्भानुभावों से गात्रारम्भानुभावों का अन्तर केवल इस बात में है कि प्रथम वर्ग के अनुभावों के अस्तित्त्व में किसी अङ्गिक कार्यव्यापार की आवश्यकता नहीं रहती केवल मन की विशेष स्थिति के प्रभाववश ही ऐसे अनुभावों का स्वरूप सामने आता है। इसके विपरीत गात्रारम्भानुभावों में आङ्गिक कार्यव्यापारों की आवश्यकता होती है। इसलिये प्रथम वर्ग में गिने गये अनुभावों का सम्बन्ध केवल मन-आरम्भानुभावों से ही है जबकि गात्रारम्भानुभावों के अन्तर्गत गिने जाने वाले अनुभावों का सम्बन्ध मन के साथ-साथ अंग-संचालन की विशेष गतिविधियों से भी रहता है। तात्पर्य यह है कि मन-आरम्भानुभाव अपनी बाह्य सत्ता का बोध कराते हुए भी पूर्ण मानसिक ही रहते हैं, किन्तु जहाँ मन की प्रेरणा से शरीर का कोई न कोई विशेष अंग कार्य के लिये तत्पर हो उठता है वहाँ उसके कार्य की प्रतिक्रिया के रूप में शरीर के बाह्य अंग पर ही प्रभाव पड़ता है। इतना होते हुए भी इस दूसरे वर्ग के अनुभावों का प्रथम वर्ग के अनुभावों से पूर्ण विरोध है। इसीलिये दोनों को पृथक्-पृथक् रूप में कहा गया है।

स्त्रियों के दस गात्रारम्भानुभाव

स्त्रियों के मन-आरम्भानुभावों की चर्चा के उपरान्त शारदातनय ने स्त्रियों के ही गात्रारम्भानुभावों का उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि ऐसे अनुभावों को मन-आरम्भानुभावों में नहीं गिना जा सकता। इसी प्रकार स्त्रियों के गात्रारम्भानुभावों की संख्या भी शारदातनय ने दस बतलायी है, जो इस प्रकार हैं—१–लीला, २–विलास, ३–विच्छित्ति, ४–विभ्रम, ५–किलिकिञ्चित, ६–मोट्टायित, ७–कुट्टमित, ८–विब्बोक, ९–ललित, १०–विहृत।[1]

विद्वान् विचारक ने गात्रारम्भानुभावों के इन दस स्वरूपों का भी पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। इस विवेचन से प्रथम वर्ग के अनुभावों से गात्रारम्भानुभावों का पार्थक्य तो स्पष्ट हो ही जाता है साथ ही साथ इनके बीच की पारस्परिक भिन्नताओं का भी बोध हो जाता है।

लीला—इस वर्ग के लीला-नामक अनुभाव का विवेचन करते हुए शारदातनय ने प्रिय के अनुकरण को ही लीला कहा है और उसे पुरुष या स्त्री दोनों के साथ समान रूप में सम्बद्ध बताया है।[2] यहां विद्वान् आचार्य का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि जहाँ प्रिया (नायिका) का अनुकरण पुरुष द्वारा किया गया हो वहाँ भी अनुभाव के स्वरूप को उसी तरह लीला शब्द के माध्यम से व्यवहृत किया जायगा। जैसे पुरुष का अनुकरण करने वाली स्त्री के व्यापार विशेष को लीला शब्द के माध्यम से व्यक्त करने की बात कही गयी है। इस प्रकार लीला-नामक अनुभाव उभय सापेक्ष तत्त्व है जिसका पुरुष और स्त्री के व्यापार-विशेष से एक समान सम्बन्ध रहता है।

विलास—नामक अनुभाव का वर्णन करते हुए शारदातनय का कहना है कि प्रिय के संगम-काल में अंग तथा क्रियादिकों के माध्यम नेत्र, भ्रू, वक्त्र तथा अन्य कर्म की जो विशेषता प्रकट होती है उसी को विलास कहना चाहिए[3]। शारदातनय ने यहां अंग क्रियादिकों में नेत्र, भ्रू, वक्त्र आदि के बीच एक ऐसी विशेषता का संकेत किया है

---

१. लीलाविलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलिकिञ्चितम्।
मोट्टायितंकुट्टमितं विब्बोको ललितं तथा॥
विहृतं चेति विज्ञेयाः शारीरा दश योषिताम्।
(भा प्र० प्र० अधि० पृ० ९ पं० १-३)।

२. प्रियानुकरणं लीला सा स्यात्पुंसः स्त्रिया अपि।
(भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ९ पं० ५)।

३. प्रियसङ्गमकाले तु नेत्रभ्रूवक्त्रकर्मणाम्।
विशेषो यस्य विज्ञेयो विलासोऽङ्गक्रियादिषु॥
(भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ९ पं ६-९)।

जो केवल प्रिय संगम-काल में ही बोधगम्य होने वाली है। इस प्रसंग में पुरुषों की चर्चा न करने से इस विलास-नामक गात्रारम्भानुभाव का सम्बन्ध स्त्री मात्र से ही सिद्ध होता है, अर्थात् स्त्री में ही विलास-नामक अनुभाव की सत्ता शारदातनय को स्वीकार्य है।

विच्छित्ति—नामक अनुभाव का विवेचन करते हुए शारदातनय ने उसे एक ऐसी शोभा बताया है जो माल्यादि द्वारा अपनी साज-सज्जा की थोड़ी उपेक्षा होने पर भी सौन्दर्य की उत्कृष्ट स्थिति को व्यक्त करती है[1]। वस्तुतः शारीरिक साज-सज्जा का शोभा की अभिवृद्धि में अपना महत्त्व रहता है। यद्यपि सौन्दर्य-प्रसाधन का यह बाह्य रूप पूर्णतया कृत्रिम ही रहता है तथापि इसके प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इतना होते हुए भी किसी विशेष अवस्था की मानसिक उत्कृष्टता के कारण न चाहते हुए भी स्त्री इस कार्य की कुछ उपेक्षा कर बैठती है। ऐसे अवसरों पर सौन्दर्य का नैसर्गिक रूप अपनी उत्कृष्टता के साथ झलक उठता है। यही वह शोभा है जिसे हमारे विद्वान् आचार्य ने 'विच्छित्ति' की संज्ञा दी है। यह भी स्त्री-सापेक्ष अनुभाव ही है।

विभ्रम—नामक अनुभाव का वर्णन करते हुए शारदातनय का कहना है कि प्रिय के दर्शन की उत्सुकता के अवसर पर अभिनय आदि के प्रसंग में जहाँ वाणी तथा अंग-विशेष के माध्यम से शरीर में धारण किये जाने वाला आभूषण अपने उपयुक्त स्थान पर धारण करने के बदले शीघ्रतावश अनुपयुक्त अंग में स्त्री द्वारा धारण कर लिया जाता है वहाँ इस व्यापार-विशेष को 'विभ्रम' की संज्ञा दी जाती है[2]। शारदातनय का यहाँ यह अभिप्राय है कि प्रत्येक आभूषण का अपना एक स्थान निर्धारित रहता है। यदि आभूषण अपने स्थान पर धारण किया जाता है तो वह निःसन्देह सौन्दर्य की अभिवृद्धि करता है और इसके विपरीत यदि अपने प्रिय के संगम का औत्सुक्य किसी नायिका को इतना अधिक आतुर कर देता है कि उसे यह भाव ही नहीं रहता है कि वह क्या पहन रही है और कहाँ पहन रही है, तब वह आभूषण अनुपयुक्त स्थान पर धारण कर बैठती है। उसकी इस मानसिक अवस्था को ही 'विभ्रम' कहा गया है।

---

१. स्वल्पोऽप्यनादरन्यासो माल्यादीनां स्वमण्डने।
य: परां जनयेत् शोभां सा विच्छित्तिरुदाहृता॥
(भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ९ पं० ८-९)।

२. वागङ्गसत्त्वाभिनयभूषास्थानविपर्ययः।
त्वरया कल्पितोऽभीष्टदर्शने यः स विभ्रमः॥
भा० प्र०-प्र० अधि पृ० ९ पं० १०-११।

किलिकिञ्चित–शारदातनय ने गात्रारम्भानुभाव की चर्चा करते हुए उसे क्रोध, अभिलाषा आदि स्थितियों का समन्वित परिणाम बताया है[1]। इस प्रकार किलिकिञ्चित अनुभाव में क्रोध, अभिलाषा आदि अनुभूतियों का मिश्रित प्रभाव रहता है। ये स्थितियाँ परस्पर विरोधी कारणों के बीच उपस्थित होने वाली अवस्था को व्यक्त करती हैं, परन्तु जिस परिस्थिति-विशेष में इनका समन्वित प्रभाव प्रकट होता है उसकी चर्चा भी यहाँ अपेक्षित दिखलायी देती है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में शारदातनय ने ऐसा कोई संकेत हमारे सामने नहीं रखा है। वस्तुतः विद्वान् आचार्य को यहाँ अनुभाव की इस प्रसंग प्राप्त अवस्था का संक्षिप्त परिचय मात्र उपस्थित करना ही अभीष्ट है।

मोट्टायित—नामक अनुभाव का वर्णन करते हुए शारदातनय ने अन्य विद्वानों की सम्मतियों का भी अपनी मान्यताओं के समर्थन में उल्लेख किया है। यद्यपि किसी विद्वान् के नाम की चर्चा यहाँ नहीं की गयी है। आपका कथन है कि प्रिय की प्रशंसा, तद्‌विषयक वार्तालाप एवं उससे सम्बद्ध लीला, हेलादि के दर्शन में जो प्रभाव जगता है उसी का परिणाम 'मोट्टायित' नामक अनुभाव के रूप में स्वीकार किया गया है।[2] वस्तुतः प्रिय की चर्चा जहाँ नहीं भी होती वहाँ भी हृदय में एक विशेष प्रकार की अवस्था का जागरण होता है जिसके प्रभाव को हेला, लीलादि के रूप में दिखाई देने पर इस मोट्टायित नामक अनुभाव का रूप व्यक्त होता है।

कुट्टमित—नामक अनुभाव का विवेचन करते हुए शारदातनय ने कहा है कि सुख को उत्पन्न करने वाले अधर तथा केशादि का आनन्द पूर्वक स्पर्श करने से जहाँ नायिका दुःखित हुई जैसी अवस्था का प्रदर्शन करती हुई क्रोध प्रकट करती है वहाँ कुट्टमित नामक अनुभाव माना जाता है[3]। इस प्रकार इस अनुभाव में नायिका के एक ऐसे प्रदर्शन का उल्लेख है जो सर्वथा कृत्रिम होते हुए भी अपना विशेष प्रभाव रखने वाला है।

---

१. क्रोधाभिलाषहर्षादिः सङ्करः किलिकिञ्चितम्।
भा० प्र० पृ० ९ पं० १२।

२. प्रियस्तुतिकथालापलीलाहेलादिदर्शनैः।
तद्‌भावभावनं मोट्टायितमित्युच्यते बुधैः॥
भा० प्र०-पृ० ९ पं० १३-१४।

३. सौख्योपचारैः सानन्दाधरकेशग्रहादिभिः।
दुःखोपचारवत्कुप्येद्बहिः कुट्टमितं तु तत्॥
भा० प्र०-पृ० ९ पं० १५-१६।

से सामन्य रूप में हैं। इस वर्ग के अनुभावों की संख्या आठ बतायी गयी है जो इस प्रकार है—

१—शोभा, २—विलास, ३—माधुर्य, ४—गाम्भीर्य, ५—धैर्य, ६—ललित ७—औदार्य, ८—तेज ।[1]

इन अनुभावों के पृथक्-पृथक् परिचयात्मक वर्णन के उपरान्त इन्हें साधारण-सत्त्व-गात्रारम्भानुभाव बताया गया है ।[2] जैसा कि ऊपर कहा गया है—इस वर्ग के अनुभावों का सम्बन्ध स्त्री पुरुष दोनों से है। यही कारण है कि हमारे विवेच्य आचार्य ने इन्हें साधारण अनुभाव की संज्ञा दी है। इन आठ अनुभावों में शोभा, विलास, माधुर्य और धैर्य तथा औदार्य का विवेचन स्त्री-सुलभ गात्रारम्भानुभावों के पूर्व प्रसंग में भी किया गया है और शेष तीन अनुभाव ऐसे हैं जिनमें से ललित का उल्लेख सात्त्विक विभाव के प्रसंग में भी किया गया है, किन्तु गाम्भीर्य और तेज नामक साधारण गात्रारम्भानुभावों का कहीं उल्लेख नहीं है अस्तु शारदातनय ने इन आठों अनुभावों का परिचयात्मक वर्णन प्रस्तुत प्रसंग में ही उपस्थित कर दिया हैं जो इस प्रकार है—

शोभा—जहाँ स्पर्धा का अधिकार रहता है वहाँ शोभा नामक साधारण अनुभाव स्वीकार किया जाता है ।[3] स्मरणीय है कि स्त्री-सुलभ-गात्रारम्भानुभाव के प्रसंग में शोभा का विवेचन करते हुए उसे रूप के उपभोग में उत्कृष्टता लाने वाला अङ्गात्रित अलंकार कहा गया हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में विवेच्य आचार्य ने स्पर्धा की अवस्था को विशेष महत्त्व देते हुए शोभा नामक अनुभाव का परिचय उपस्थित किया है। स्पष्टता शोभा के मूल रूप में इन दोनों प्रसंगों के बीच किसी प्रकार का वैषम्य नहीं दिखलायी देता, अपितु दोनों ही एक दूसरे के पूरक का कार्य करते हुए प्रतीत होते हैं।

---

१. गात्रारम्भानुभावांस्तानिमान् पश्यन्ति सूरयः ।
शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्यमेव च ॥
ललितौदार्यतेजांसि सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः ।
भा० प्र० पृ० ९ पं० २३-२४ से पृ० १० पं १ ।

२. एते साधारणाः सत्त्वगात्रारम्भानुभावयोः ।
भा० प्र० पृ० १० पं० ११ ।

३. स्पर्धाऽधिक्रियते यत्र सा शोभेति प्रकीर्तिता ।
भा० प्र० पृ० १० प० ३ ।

विलास–विलास नामक साधारण अनुभाव के विषय में यहां शारदातनय ने दो विशेषताओं का उल्लेख किया है।[1] (क) वृषयान, (ख) स्मितालाप। यहां 'वृषयान' से शारदातनय का अभिप्राय वक्रगति से है। तात्पर्य यह है कि विलास में पात्र की गति का ढंग भी बदल जाता है। उसमें एक विशेष प्रकार के गात्रसंचालन की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार मुस्करा कर बात करने की भी दशा अनुभाव के प्रभाव में दिखलाती देती है। स्मितालाप से शारदातनय का तात्पर्य आलाप के इसी रूप से है। गति के साथ इस आलाप का मिश्रित प्रभाव विलास में अनुभूत होता है। अंग-संचालन की विशेष शारीरिक क्रिया के साथ वाग्विषयक विशेष स्थिति का संयोग रहने से ही यह अनुभाव, गात्रारम्भानुभावों के वर्ग में परिगणित है।

शारदातनय ने स्त्री-सुलभ गात्रारम्भानुभावों के सन्दर्भ में विलास नामक अनुभाव की जो चर्चा की है वह प्रिय-संगम-काल की विशेष दशा में स्त्री के शारीरिक व्यापार का परिचय कराता है। तत्कालीन आङ्गिक व्यापारों में नेत्र, भ्रू तथा वक्त्र आदि के बीच एक विशेष अवस्था उत्पन्न हो जाती है। शारदातनय ने इसी रूप-विशेष को वहां विलास की संज्ञा दी है। प्रिय-संगम-कालीन रूप की यह आङ्गिक विशेषता स्त्रियों के गात्र में ही पायी जाती है। इसीलिये विलास की इस विशेष अवस्था का उल्लेख केवल स्त्री-सुलभ गात्रारम्भानुभावों के प्रसंग में किया गया है। प्रस्तुत विवेचन में गति एवं आलाप की जिस विशेषता का वर्णन हमारे आचार्य ने यहाँ उपस्थित किया है उसका सम्बन्ध स्त्री तथा पुरुष दोनों वर्गों से है। विलास को साधारण गात्रारम्भानुभाव की कोटि में इसी आधार पर गिना गया है। स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रसंग की विलास-विषयक उल्लिखित विशेषताएं स्त्री तथा पुरुष दोनों के ही गात्र को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार व्यापक-रूप में यह कहा जा सकता है कि विलास एक ऐसा गात्रारम्भानुभाव है जो स्त्रियों के नेत्र, भ्रू, वक्त्र आदिक आङ्गिक व्यापारों में तो विशेषता उत्पन्न करता ही है, किन्तु साथ ही साथ उनकी गति तथा उनके आलाप को भी एक विशेष दशा में ला देता है। जहां तक पुरुष का सम्बन्ध है—विलास की दशा में उसकी गति एवं आलाप-मात्र ही प्रभावित है।

माधुर्य–माधुर्य का वर्णन करते हुए यहाँ शारदातनय ने तीन प्रकार की विशेषताओं का उल्लेख किया है—(क) चेष्टाविषयक स्पृहणीयता, (ख) आलाप-विषयक स्पृहणीयता, (ग) स्पर्श-विषयक स्पृहणीयता[2]। इनमें चेष्टा-विषयक

---

१. वृषयानं स्मितालापो विलास इति कथ्यते।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० १० पं० ४।

२. माधुर्यं चेष्टितालापस्पर्शानां स्पृहणीयता।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० १० पं० ५।

स्पृहणीयता का क्षेत्र स्पर्श तथा आलाप की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। शारदा-तनय ने चेष्टा के इस व्यापक स्वरूप का कोई विवेचन सामने नहीं रखा, किन्तु स्पर्श तथा आलाप का स्वतन्त्र रूप में अलग उल्लेख कर देने से इतना संकेत अवश्य प्राप्त हो जाता कि इसमें स्पर्श तथा आलाप-विषयक चेष्टा से भिन्न वर्ग की चेष्टा को ही हमारे आचार्य ने 'चेष्टित' शब्द द्वारा व्यक्त किया है। आलाप एवं स्पर्श-विषयक स्पृहणीयता से शारदातनय का अभिप्राय सर्वथा स्पष्ट है।

स्त्री-सुलभ गात्रारम्भानुभावों के सन्दर्भ में माधुर्य नामक गात्रारम्भानुभाव का विवेचन करते हुए शारदातनय ने उसे चेष्टा की समस्त अवस्थाओं में मृदुता उत्पन्न करने वाला बताया है। यह परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत स्थल के विवेचित क्षेत्र की अपेक्षा कहीं व्यापक अर्थ रखने वाला है, किन्तु उसके कतिपय विशेष रूपों को उभय-सापेक्ष रूपमें व्यक्त कर देना ही यहां हमारे विद्वान् आचार्य का अभिप्राय है, ऐसा प्रतीत होता है। दोनों ही प्रसंगों को विवेचन की दृष्टि से हम एक दूसरे का पूरक कह सकते हैं, क्योंकि वैषम्य की कोई अवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती है।

धैर्य– इस गात्रारम्भानुभाव को साधारण अनुभाव के रूप में स्वीकार करते हुए शारदातनय ने इसे शुभ एवं अशुभ दोनों अवस्थाओं के कार्य-व्यापार में विचलित न होने वाला विशेष गुण सिद्ध किया है।[1] वस्तुतः शुभ के प्रसंग में अशुभ की स्थिति तथा कार्यव्यापार के बीच में उपस्थित होने वाली विघ्न-बाधाएं व्यक्ति को अपने लक्ष्य से विचलित कर देने वाली सिद्ध होती हैं, परन्तु ऐसे अवसरों पर भी अविचलित रह जाना ही धैर्य को प्रकट करता है। धैर्य की यही लोक-प्रचलित विशेषता है जो शारदातनय की प्रस्तुत परम्परागत मान्यता के सर्वथा अनुरूप है।

स्त्री-सुलभ गात्रारम्भानुभाव के प्रसंग में भी धैर्य का उल्लेख किया गया है, किन्तु वहां अपने मान पर दृढ़ रहने को ही धैर्य कहा गया है। मान की दशा में स्त्री सुलभ धैर्य का अपना महत्त्व होता है। उस पर दृढ़ रहना उसी प्रकार कठिन होता है जिस प्रकार विरोधी परिस्थितियों में व्यापारगत लक्ष्य पर अचल रहना कठिन होता है। इस प्रकार दोनों स्थलों पर किये गये विवेचनों का परस्पर पूर्ण साम्य विद्यमान है। इतना अवश्य है कि स्त्री के प्रसंग में उसका अपने मान पर अविचल भाव से दृढ़ रहना ही धैर्य कहा गया है, किन्तु साधारण अनुभाव के प्रसंग में शुभ तथा अशुभ अर्थ के बीच व्यवसाय के विषय में अचल रहना ही धैर्य बताया गया है। दूसरे प्रसंग के धैर्य का विवेचित क्षेत्र पूर्व प्रसंग की अपेक्षा व्यापक कहा जा

---

१. शुभेऽशुभेऽर्थे तद्धैर्यं व्यवसायादचालनम्।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० १० प० ६।

सकता है, क्योंकि स्त्री की मान-विषयक दृढ़ता भी प्रस्तुत अर्थ में संगृहीत हो जाती है।

गाम्भीर्य–जहां तक गाम्भीर्य का सम्बन्ध है विद्वान् आचार्य ने इसे ऐसा अविज्ञात भाव कहा है जिसे संकेत द्वारा ही बोधगम्य किया जा सकता है[1]। इस प्रकार शारदातनय के अनुसार गाम्भीर्य का आधार संकेतमय होता है। इसीलिये इसे इङ्गिताकार कहा गया है। वास्तव में गाम्भीर्य को अविज्ञात बताते हुए शारदातनय ने स्पष्ट कर दिया है कि इङ्गित के आकार से अर्थात् संकेत के स्वरूप को देखने से ही वह विज्ञात अर्थात् बोधगम्य हो जाता है, अन्यथा वह संकेत-अभाव की स्थिति से अविज्ञात तत्त्व ही है।

ललित– इस गात्रारम्भानुभाव का वर्णन करते हुए इसे शृङ्गारमयी चेष्टा का आधार बतलाया गया है[2]। वास्तव में ललित को विद्वान् आचार्य ने शृङ्गारमयी चेष्टाओं का कारणभूत मूलतत्त्व स्वीकार किया है। इस प्रकार शृङ्गारिक चेष्टाओं को देखकर ही ललित नामक अनुभाव-तत्त्व का परिज्ञान हो पाता है।

औदार्य–शारदातनय ने औदार्य नामक साधारण भाव को प्रस्तुत प्रसंग में स्मित (मुस्कराहट) युक्त प्रिय के आलाप तथा स्मित के उदार दान को औदार्य बताया है।[3] इसमें उदार दान के साथ आलाप की मधुरता का सन्निवेश किया गया है। जहां तक स्त्री-सुलभ गात्रारम्भानुभाव के प्रसंग में वर्णित औदार्य का सम्बन्ध है, वहां इसे सत्त्वावस्थानुगामी प्रश्रय मात्र कहकर व्यक्त किया गया है। विवेचन के भावक्षेत्र की दृष्टि से पूर्व प्रसंग को अधिक व्यापक कहा जा सकता है, किन्तु वर्णन के दोनों प्रसंगों में पूर्ण साम्य है। व्यापक अर्थ में हम इन्हें एक दूसरे का पूरक भी कह सकते हैं।

तेज–इसी प्रकार तेज नामक साधारण अनुभाव को शारदातनय ने अपमान न सहन कर सकने की विशेष स्थिति के रूप में ही माना है[4]। गाम्भीर्य तथा

---

१. अविज्ञातेङ्गिताकारो भावो गाम्भीर्यमुच्यते।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० १० पं० ७।

२. चेष्टितं यस्य शृङ्गारमयं तल्ललितं भवेत्।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० १० पं० ८।

३. प्रियालापस्मितोदारं दानमौदार्यमुच्यते।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० १० पं० ९।

४. अवमानासहत्वं यत् तत्तेजस्समुदाहृतम्।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० १० पं० १०।

तेज ऐसे अनुभाव हैं जिन्हें पुरुष या स्त्री किसी एक वर्ग तक सीमित नहीं रखा जा सकता, क्योंकि अपमान को न सहन करने का जो भाव पुरुष में विद्यमान है वह स्त्री में भी उसी प्रकार है। अतः इनका सम्बन्ध पुरुष तथा स्त्री दोनों वर्गों के साथ एक रूप में विद्यमान है। इनके साधारण गात्रारम्भानुभाव कहे जाने का भी वही आधार है।

पुरुष-सुलभगात्रारम्भानुभाव—गात्रारम्भानुभावों के प्रस्तुत प्रसंग में शारदातनय ने चार ऐसे अनुभावों का उल्लेख किया है जिनका विवेचन अन्य अनुभावों के विषय में अपनायी गयी शैली के अनुसार आगे चलकर कहीं भी किया गया दिखलायी नहीं देता। वस्तुतः हमारे विद्वान् आचार्य की शैली यही है कि उन्हें जिन विषयों की चर्चा करनी होती है उनकी पहले गणना करके उसके पश्चात् एक-एक का परिचयात्मक वर्णन करते हैं। इससे अनुभाव आदि विषय की विशेषता का परिज्ञान तो हो ही जाता है, साथ ही साथ उनके बीच का पारस्परिक अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है। जहाँ तक इन चार गात्रारम्भानुभावों का सम्बन्ध है उनकी विशेषताओं का परिचयात्मक विवरण हमें प्राप्त नहीं होता। इनसे पूर्व प्रयुक्त 'पौरुषाः' पद यहाँ विशेष महत्त्व पूर्ण है। यदि इन चार अनुभावों की विशेष स्थितियों को समझने की चेष्टा की जाये तो यहाँ प्रयुक्त 'पौरुषाः' पद एक मात्र सहायक सिद्ध होगा। इस प्रसंग की छानबीन करने से पहले इन चारों अनुभावों का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। जो इस प्रकार है—

१—दक्षता, २—शौर्य, ३—उत्साह तथा ४—कुत्सा।[1]

जैसा कि हमने शारदातनय की मान्यताओं का अनुसरण करते हुए पूर्व के प्रसंगों में निवेदन कर दिया है कि इन्होंने गात्रारम्भानुभावों में स्त्री-सुलभ अनुभावों की संख्या दस बतायी है। इसी प्रकार साधारण कहे जाने वाले अनुभावों की संख्या आठ घोषित की गयी है। इससे स्पष्ट है कि कुछ अनुभाव इस प्रकार के हैं जो स्त्रियों के गात्र की विशेष स्थिति से बोधगम्य होते हैं। कुछ ऐसे भी अनुभाव हैं जो स्त्री तथा पुरुष दोनों के गात्रों की स्थितियों को प्रभावित करते हैं। इस विवेचन के उपरान्त ऐसे ही अनुभावों का प्रसंग स्वभाविक रूप में प्राप्त होता है जो केवल पुरुष के गात्र की स्थिति को ही प्रभावित करते हैं। हमारे विचार से तो इन चार अनुभावों का सम्बन्ध पुरुष-सुलभ गात्रारम्भानुभावों से ही है। इस तथ्य को शारदातनय ने यहाँ 'पौरुषाः' पद के प्रयोग से ध्वनित कर दिया है। इनके विशेष विवेचन

---

1. दक्षता शौर्यमुत्साहो नीचे कुत्साऽधिके मुहुः।

भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० १० पं० २।

के अभाव का कारण यही सम्भव है कि स्त्री-सुलभ अनुभावों के वर्णन-प्रसंग में पुरुष से ही सम्बन्ध रखने वाले अनुभावों का विशेष विवरण नहीं दिया गया है, अपितु अनुभाव वर्णन क्रमानुसार उनका उल्लेख-मात्र कर देना ही ग्रन्थकार ने उचित समझा ।

शारदातनय ने स्त्री-सुलभ अनुभावों की संख्या बीस बताकर पुनः शृङ्गार तथा कहीं-कहीं अद्भुत रस में 'क्रीडित' एवं 'केलि' नामक दो और गात्रारम्भानुभावों का उल्लेख किया है।[1] इनका परिचयात्मक वर्णन करते हुए विद्वान् आचार्य ने 'क्रीडित' को बाल्य, यौवन तथा कौमार के साधारण-विहार का रूप बताया है और उसे दयिताश्रित विहार दशा में 'केलि' की संज्ञा दी है।[2] इस प्रकार 'क्रीडित' तथा 'केलि' नामक गात्रारम्भानुभावों में केवल आश्रयगत ही भेद हैं, क्योंकि विहार-व्यापार बाल्य, यौवन तथा कौमार तीनों ही अवस्थाओं में एक जैसा प्रभाव रखने वाला है। 'क्रीडित' के परिचय-प्रसंग में शारदातनय ने इसी तथ्य का उल्लेख किया है। यही विहार-व्यापार दयिता का आश्रय पाकर अपना विशेष महत्त्व दिखाता है इस सूक्ष्म व्यापार को ध्यान में रखकर दयिताश्रित विहार-व्यापार को शारदातनय ने 'केलि' नाम देकर उसे 'क्रीडित' की सामान्य अवस्था से अलग कर दिया है।

द्वादश वागारम्भानुभाव—शारदातनय ने गात्रारम्भानुभावों के उपरान्त अनुभाव-वर्णन-प्रसंग में वागारम्भानुभावों का भी विवेचन किया है। इस वर्ग के अनुभावों की संख्या बारह है, जो इस प्रकार है :—

१–आलाप, २–प्रलाप, ३–विलाप, ४–अनुलाप, ५–संलाप, ६–अपलाप, ७–सन्देश, ८–अतिदेश, ९–निदेश, १०–उपदेश, ११–अपदेश, १२–व्यपदेश ।[3]

---

१. भावास्तु विंशतिस्स्त्रैणाः शृङ्गारे क्वचिदद्भुते ।
क्रीडितं केलिरित्येतौ गात्रारम्भावुदाहृतौ ॥

भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० १०, पं० १५-१६ ।

२. बाल्ययौवनकौमारसाधारणविहारभाक् ।
विशेषः क्रीडितं केलिः तदेव दयिताश्रयम् ॥

भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० १०, पं० १७-१८ ।

३. वागारम्भा इमे तेषामालापः प्रथमो भवेत् ।
प्रलापश्च विलापोऽनुलापः संलाप एव च ॥
अपलापश्च सन्देशोऽतिदेशश्चाष्टमस्स्मृतः ।
निर्देश उपदेशश्चापदेशो व्यपदेशकः ॥

भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० १० पं० २०-२३ ।

शारदातनय ने गात्रारम्भानुभावों का पृथक्-पृथक् विवेचन करते समय कुछ अनुभावों में अपनी उस परम्परागत शैली का पूर्णतः परित्याग कर दिया है जिसमें प्रत्येक अनुभाव की विशेष दशा का वर्णन किया जाता रहा है। इसके विपरीत अनुभावों के प्रस्तुत प्रसंग में प्रत्येक का अलग-अलग वाक्य-मूलक उदाहरण ही उपस्थित कर दिया है। पाठक एवं विचारक पर ही उदाहरण के आधार पर प्राप्त अनुभाव की विशेषता को समझने का दायित्व छोड़ दिया गया है। इस प्रकार वागारम्भानुभावों में आलाप अनुभाव को प्रथम अनुभाव कहते हुए शारदातनय ने कहा है-—'इदं वो भाग्यम्' इत्यादि वाक्य ही आलाप माने जाते हैं।[1] हमारा विश्वास है कि विद्वान् आचार्य ने ऐसे उदाहरणों में स्वरचित वाक्यावली का ही उपयोग किया है, क्योंकि हमें इनके मूलरूप कहीं अन्यत्र सुलभ नहीं हो सके। स्वरचित वाक्यों के माध्यम से इन अनुभावों का परिचय दिया जाना भी अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता। आलाप के ही समान प्रलाप नामक अनुभाव का परिचय कराने के लिये शारदातनय ने उदाहरण रूप में दूसरा वाक्य प्रस्तुत किया है। यहाँ उनका कहना है कि—'क्व यास्यामि गतिः का' इत्यादि कथन को प्रलाप कहा जाता है।[2] 'प्रलाप' के पश्चात् 'विलाप' नामक अनुभाव-वर्णन में कहा गया है —'अपने दुःख को व्यक्त करने के लिये जिस वाक्य का उपयोग किया जाता है वही विलाप है।[3] 'अनुलाप' नामक अनुभाव की चर्चा करते हुए शारदातनय ने कहा है—बहुत रूपों में कहा जाने वाला वाक्य अनुलाप होता है।[4] उक्ति-प्रत्युक्तिमय वाक्य ही संलाप हैं।[5] पूर्व प्रतिपादित विषय को अन्यथा कहते हुए प्रस्तुत करना अपलाप है।[6] अपनी

१. इदं वो भाग्यमित्यादि वाक्यमालाप इष्यते।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० १० पं० २४।

२. प्रलापः स्यात् क्व यास्यामि गतिः केत्यादिवद्वचः।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ११ पं० १।

३. विलापः स्यादात्मदुःखोद्भावनातत्परं वचः।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ११ पं० २।

४. बहुशोऽभिहितं वाक्यमनुलापो भवेदिह।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ११ पं० ३।

५. उक्ति-प्रत्युक्तिमद् वाक्यं संल्लाप इति कथ्यते।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ११ पं० ४।

६. सन्देशः स्यात्स्ववार्ताभिप्रेषणं विषयान्तरे।
अतिदेशस्तदुक्तं यत्तन्मदुक्तमितीरितम्।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ११ पं० ६-७।

बातों के माध्यम से किसी विचार को अन्यत्र प्रेषित करना ही सन्देश कहा गया है।[1] जहाँ पहले की किसी उक्ति को यह मेरी उक्ति है ऐसा कहकर व्यक्त किया जाता है, वहाँ अतिदेश होता है। इसी प्रकार-'हमलोग यहाँ हैं, आप लोगों का (अभीष्ट) कार्य कहाँ है ? 'इस प्रकार का कथन' निर्देश कहा गया है।[2] तुम ले लो, चले जाओ इत्यादि वाक्यों का जहाँ उपयोग होता है वहाँ उपदेश माना गया है। प्रस्तुत विषय की चर्चा के बदले जहाँ अन्य विषयों को कहा जाता है वहाँ 'अपदेश' होता है।[3] किसी व्याज से अपनी आन्तरिक इच्छा को व्यक्त करने के लिये जो वाक्य कहे जाते हैं उन्हें 'व्यपदेश' की संज्ञा दी जाती है।

बुद्ध्यारम्भानुभाव और उनके भेदोपभेद

गात्रारम्भानुभावों की चर्चा के उपरान्त शारदातनय ने बुद्ध्यारम्भानुभावों का विवेचन किया है। इस वर्ग के अनुभावों का सम्बन्ध ऐसे बौद्धिक प्रयासों से है जिन्हें विभाव द्वारा जागृत तथा उद्दीप्त किये गये भाव को सूचित करने के लिए सुविचारित रूप में अपनाया जाता है। इस प्रकार अनुभावों में अपने आप स्फुरित होने वाली स्थितियों के बदले ऐसे आङ्गिक, वाचिक आदि प्रयास की स्थितियां होती हैं जिनका आधार सोच समझ कर कहे या किये जाने वाले वाक्य तथा व्यापारों के मध्य निहित रहता है।

शारदातनय ने बुद्ध्यारम्भानुभावों को तीन वर्गों में विभक्त किया है जो इस प्रकार हैं—

१–रीति, २–वृत्ति, ३–प्रवृत्ति।

रीति

जैसा कि आगे के प्रसंगों द्वारा स्पष्ट होगा कि रीति-वर्ग में परिगणित होने वाले अनुभावों का सम्बन्ध वचन-विन्यास-क्रम से ही है। इस तथ्य को हमारे विद्वान् आचार्य ने भी बुद्ध्यारम्भानुभावों में रीति को प्रथम अनुभाव बताते हुए स्वीकार किया है और उसके चार भेद किये हैं जिनकी चर्चा प्रसंगानुसार आगे की जायगी।

---

१. एते वयं क्व वः कार्यमिति निर्देश इष्यते।
उपदेशो गृहाण त्वं गच्छेत्यादिपरं वचः॥
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ११ पं० ८-९।

२. अन्यार्थकथनं यत्तु सोऽपदेश इति स्मृतः।
व्याजादात्माभिलाषोक्तिर्व्यपदेश इतीरितः॥
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ११ पं० १०-११।

३. बुद्ध्यारम्भानुभावेषु रीतिः प्रथममुच्यते।
रीतिर्वचनविन्यासक्रमः साऽपि चतुर्विधा॥
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ११ पं० १३-१४।

इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि रीति को वचनविन्यास क्रम के रूप में स्वीकार करने वाले आचार्य ने वागारम्भानुभावों से इस वर्ग के अनुभावों में किस प्रकार की विषमता-मूलक विशेषता का आधार ग्रहण किया है। जैसा कि वागारम्भानुभावों के प्रसंग में स्पष्ट हो चुका है कि इस वर्ग के अनुभावों का सम्बन्ध वाग्व्यापार से ही है। ऐसी दशा में वचन-विन्यास-क्रम को व्यक्त करने वाला रीति नामक अनुभाव भी वाणी-व्यापार के साथ सम्बद्ध रहने के कारण गात्रारम्भानुभावों की कोटि में ही विचारणीय हो जाता है। इसलिये दोनों के पृथक्-पृथक् निर्देश से किसी ऐसे आधार तक पहुँचने की आवश्यकता उपस्थित हो जाती है जिसने शारदातनय को रीति की स्थिति में वागारम्भानुभावों से पृथक्ता स्वीकार करते हुए उसे पृथक् बुद्ध्यारम्भानुभावों में सम्मिलित करने को प्रेरित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि शारदातनय ने वागारम्भानुभावों में अनुभाव के ऐसे ही रूपों को ग्रहण किया है जिनकी अभिव्यक्ति का सम्बन्ध श्रवणेन्द्रिय से तो रहता है, किन्तु वे जरूरत तथा उद्दीप्तभाव की सशक्तता के अनुसार स्वभावतः अन्तः स्फुरित हुआ करते हैं। आलाप, विलाप आदिकों की स्थितियों में बुद्धि से सोच कर व्यक्त की जाने वाली शब्दावली की कलाबाजी का ध्यान नहीं रह जाता। वे तो आन्तरिक भाव के सूचक बाह्य परिणाम मात्र हुआ करते हैं। इसलिये इस वर्ग के अनुभावों में वचन-विन्यास के बौद्धिक प्रयास की स्थिति नहीं रहती। इसके विपरीत बुद्ध्यारम्भानुभावों में प्रथम अनुभाव कह कर गिने जाने वाले अनुभाव में वचन-विन्यासक्रम की बौद्धिक स्थिति अनिवार्य रहती है। ऐसे वचन-विन्यास में जानबूझ कर ऐसे ही पद समूहों की योजना की गयी रहती है जो जागृत तथा उद्दीप्त अर्थ को सूचित करने में सक्षम हों। वागारम्भानुभावों से वचन-विकास-क्रम के रूप में स्वीकार किये गये रीति नामक बुद्ध्यारम्भानुभाव का यही भेद है जो दोनों को पृथक्-पृथक् अनुभावों के रूप में स्वीकार करने के लिये शारदातनय को विवश करता है।

रीति के प्रकार

विद्वान् आचार्य ने यहाँ रीति के चार प्रकार स्वीकार किये हैं—१-वैदर्भी, २-पांचाली, ३-लाटी, ४-गौडी। इस प्रसंग में इन्होंने सौराष्ट्री और द्राविड़ी नामक दो और रीतियों का उल्लेख भी यहाँ किया है। इस सन्दर्भ में इन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि रीति का सम्बन्ध विभिन्न देशीय रचनाओं से है। जहाँ जिस देशीय रचना से यह सम्बद्ध रहती है वहाँ वह उसी देशीय रीति का नाम ग्रहण कर लेती है।[1] कहीं-कहीं सामासिक रचना के सौकुमार्यादिक तारतम्य के (कारण) प्रभाव

1. तत् तद् देशीयरचना रीतिस्तद्देशनामभाक्।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ११ पं० १७।

से और कहीं-कहीं उपचार-विशेष एवं प्रासानुप्रास-भेद से भी यह अपना अलग नाम धारण करती है साथ ही सोराष्ट्र तथा द्रविड़ भेदों से भी इसके नामों की संख्या बढ़ जाती है। इतना ही नहीं, अपितु वह प्रतिवचन तथा प्रतिपुरुष एवं उसके अवान्तरभूत विविध रूपों से भी रीति की स्थितियों में भिन्नताएं उपस्थित होती हैं। इन आधारों पर यदि रीति का विवेचन किया जाये तो उसके प्रकारों की गणना का कहीं अन्त ही नहीं हो सकता। इसीलिये कवियों ने संक्षिप्त रूप से रीति के चार भेद स्वीकार किये हैं। इन चारों में भी रीति के १०५ प्रकार बताये गये हैं जिनका पृथक्-पृथक् विवेचन करना ग्रन्थ का अनावश्यक विस्तार-मात्र समझ कर ही शारदातनय ने अपने को इस कार्य से अलग रखा है।

रीति तथा वाक्यविन्यास

रीति असंख्यता को स्पष्ट करते हुए यहाँ ग्रन्थकार ने वाक्य-विन्यास की सूक्ष्म स्थितियों पर भी विचार किया है। उनका कहना है कि अक्षरों तथा पदों की जहाँ भिन्नता रहेगी वहाँ तो वाक्यगत भिन्नता के कारण रीतिगत भिन्नता तो रहेगी ही, किन्तु जहाँ एक ही प्रकार के अक्षर एवं पदों को लेकर वाक्य-विन्यास किया जायगा वहाँ भी वक्ता के उच्चारण-भेद से वाणी की विशेष स्थिति दृष्टिगोचर होगी।[२]

शारदातनय ने रीति के प्रसंग में जिन चार प्रकारों का उल्लेख किया है, उनकी भी विशेषताओं का परिचयात्मक विवरण उन्होंने कहीं नहीं दिया है। इस सम्बन्ध में रीति की अनन्तता का नाम लेकर उसके तथा-कथित चार विशेष रूपों का परिचय न देना वास्तव में खटकता है। इतना होते हुए भी हमारे आचार्य ने रीति विषयक जो सैद्धान्तिक मत प्रस्तुत किया है वह सर्वथा वैज्ञानिक एवं भाषागत व्यावहारिक तथ्य को प्रकट करने बाला है। वास्तव में वाणी-व्यापार के माध्यम से व्यक्त किये जाने वाले भाव की स्थिति अभिव्यक्ति के ढंग पर निर्भर रहती है। अभिव्यक्ति का यह स्वरूप अक्षरों, पदों तथा वाक्य की प्रकृतियों को ही लेकर गठित

---

१. समाससौकुमार्यादितारतम्यात्क्वचित्क्वचित्।
उपचारविशेषाच्च प्रासानुप्रासभेदतः॥
तथा सौराष्टिकाभेदाद् द्राविडीभेदतोऽपि च।
प्रतिवचनं प्रतिपुरुषं तदवान्तरजातितः प्रतिप्रीतिः॥
आनन्त्यात्सङ्क्षिप्य प्रोक्ता कविभिचतुर्विधेत्येषा।
तासु पञ्चोत्तरशतं विद्याः प्रोक्ता मनीषिभिः।
ग्रन्थविस्तरभीतेन मया ताभ्यो विरम्यते॥
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० ११ पं० १८-२४॥

२. त एवाक्षरविन्यासास्ता एव पदपङ्क्तयः।
पुंसि पुंसि विशेषेण कापि कापि सरस्वती॥
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० १२ पं० १-२॥

होता है। साथ ही साथ देश-भेद के अनुसार भी पदों के स्वरूप तथा प्रत्येक पद के अर्थ में अन्तर उपस्थित हुआ करता है। शब्द-शास्त्रियों ने स्फोट की नित्यता को लेकर चाहे शब्द, अक्षर एवं वाक्य तक को ब्रह्ममय कहते हुए उनके स्वरूप में नित्यता का भले ही सन्निवेश किया हो, किन्तु देश, काल एवं परिवेश की भिन्नता के अनुसार शब्द तथा अर्थ को बाह्य स्वरूप में विकास एवं संकोच की अवस्था उत्पन्न होती ही रहती है। तत्तद्देशीय रीति-भेद की ओर संकेत करते हुए शारदातनय ने इसी ओर संकेत किया है। विवेचन की सुविधा के लिये हम इसे देशगत रचनामूलक रीतिभेद कह सकते हैं, क्योंकि देश विशेष के अनुसार रचना-प्रकृति एवं तज्जनित अर्थ-प्रकृति में अन्तर उपस्थित होना स्वभाविक ही है। जहां शारदातनय के प्रस्तुत पक्ष के समर्थन में भाष्यकार पतंजलि के वचनों का भी साक्ष्य उपस्थित किया जा सकता है। उन्होंने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि एक ही 'गो' शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अनेक रूप प्रचलित हैं। इस तरह तत्तद्देशों में एक ही शब्द के अलग-अलग अर्थ तथा उसके अलग रूपों को भी पतंजलि ने स्वीकार किया है। उदाहरण देते हुए 'शवति' को कम्बोज देश में गति-कर्मक तथा आर्य प्रदेश में शव के विकार अर्थ में उसके प्रयोग किये जाने की बात बतायी गयी है। इसी प्रकार 'हम्मति' 'रंहति' आदि उसके रूप परिवर्तन की दशा को भी देशगत भेद के अनुसार स्वीकार किया है।

प्रस्तुत प्रसंग में भाष्यकार की चर्चा करके शारदातनय की भाषा-शास्त्रीय सूझ-बूझ की ओर संकेत किया गया है जो भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी सत्य रूप में मान्य है। जब एक-एक शब्द भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण कर लेता है तथा प्रादेशिक एवं इस प्रकार की अन्य भिन्नताओं के कारण उसकी अर्थ-प्रकृति का स्वरूप भी कुछ का कुछ हो जाता है तो रीति की इस भिन्नता के रहते हुए उसकी संख्या कहां तक गिनी जा सकती है। इसके साथ ही साथ हमारे विद्वान् आचार्य ने उच्चारण-प्रकृति की भिन्नता को भी रीति-भेद के कारण रूप में स्वीकार किया है। वास्तव में अक्षरों का एक ही स्वरूप तथा पद-समूहों की एक जैसी पंक्तियां भी बोलने वाले की अपनी क्षमता अथवा अक्षमता विशेष के कारण भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण कर लिया करती हैं। तथ्य यह है कि कोई भी व्यक्ति दूसरों से सुनकर ही किसी पद के स्वरूप को तथा उसके विशेष अर्थ को ग्रहण कर पाता है। उसने जिससे शब्द सुना, उसके उच्चारण की प्रकृति के कारण अथवा उच्चारण यन्त्रों की विशेषता के कारण अक्षर, पद तथा वाक्य की अपनी स्थिति होगी। इसी प्रकार सुनने वाले के श्रवण-दोष आदि के कारण भी उच्चरित शब्दों का श्रुत-रूप बदल जायेगा। वह जिस रूप में सुना गया है उसके अनुकरण में बोलने वाले के उच्चारण दोषादिवश और भी अन्तर उपस्थित होना स्वाभाविक है। ऐसी दशा में

वचन-विन्यास क्रम की दशा में प्रति-व्यक्ति भेद दृष्टिगोचर होगा। रीति के वास्तविक प्रकार का निरूपण करते समय वचन-विन्यास-क्रम के इस प्रतिव्यक्ति-भेद-मूलक भेद की ओर भी अनिवार्य रूप में ध्यान देना पड़ेगा। ऐसी दशा में बोलने वाले व्यक्ति जितने होंगे रीति के प्रकार भी उतने हो जायेंगे। इसके साथ ही साथ देश, काल एवं परिवेशगत भिन्नता के कारण रीति के प्रकारों की संख्या और भी बढ़ती जायगी। इसीलिये हमारे विद्वान् आचार्य ने उपर्युक्त कारणों का उल्लेख करते हुए रीति के प्रकारों को असंख्य कहा है।

वृत्ति—

बुद्ध्यारम्भानुभावों में 'वृत्ति' नामक दूसरे अनुभाव की चर्चा करते हुए शारदातनय ने वृत्तियों के प्रकार और उनके उद्गम, अभिनय एवं रस तथा प्रवृत्ति विशेष के साथ प्रत्येक वृत्ति के पारस्परिक सम्बन्धों का उल्लेख किया है। शारदातनय की परम्परागत शैली के अनुसार वर्ण्य-विषय का परिचयात्मक विवरण सर्व-प्रथम प्राप्त होता है, किन्तु वृत्ति के सम्बन्ध में इस शैली का परित्याग वस्तुतः चिन्तनीय है। वृत्ति क्या है ? रीति से वृत्ति किं रूपात्मक भेद है ? किस विशेष प्रभाव को लेकर यह स्वजातीय अभिनय प्रवृत्ति तथा रसादि में सहयोग देने वाली है ? इन सभी तथ्यों की बोधगम्य स्थिति को उस परिचयात्मक विवरण से ही ग्रहण कर सकना सुगम होता जिसका 'भावप्रकाशनम्' के वृत्ति विवरण में अभाव दृष्टिगोचर होता है। अस्तु, शारदातनय ने चार वृत्तियों का मान्य रूप में उल्लेख किया है जो इस प्रकार है—
१–भारती, २–सात्त्वती, ३–कैशिकी, ४–आरभटी।
इस प्रसंग में उन्होंने एक अर्थवृत्ति का भी उल्लेख किया है जिसकी स्वीकृति के विषय में 'परे' पद का प्रयोग करते हुए उसके विपरीत अपनी मान्यता का संकेत किया है।[1]

हमारे आचार्य की शैलीगत विशेषताओं में लक्ष्य करने योग्य एक बात यह भी है कि सामान्यतः जिस विषय के प्रति अपना अस्वीकृत भाव सूचित करना होता है वहाँ ये 'परे', 'अपरे', अन्ये आदि पदों का प्रयोग करते हैं। अर्थ-वृत्ति के विषय में 'परे' पद का सूच्यार्थ इसी अस्वीकृति सूचक भाव को व्यक्त करता है, किन्तु उसका स्वर सर्वथा अलग रूप वाला होता है। इसी तथ्य को व्यक्त करते हुए आपका कहना है कि दूसरे लोग इस अर्थ-वृत्ति के अभाव में पांचवी (अर्थवृत्ति) वृत्ति स्वीकार नहीं करते। यहां प्रयुक्त 'परे' पदोक्त विचार के विपरीत भाव प्रकट करने के लिये ही प्रयुक्त है जो अपने सन्दर्भ के अनुसार दूसरों के विचारों को प्रकट करने के बदले केवल उन विचारकों के विचारों का संकेत करता है जिसके प्रति हमारे आचार्य की भी सम्मति प्रतीत होती है।

१. अर्थवृत्तेरभावात्तु विश्रान्तां पञ्चमीं परे।
भा० प्र०-प्र० अधि० पृ० १२ पं० ७।

अर्थवृत्ति के सन्दर्भ में शारदातनय ने सबसे पहले ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद तथा अथर्ववेद से इसे उत्पन्न मानकर क्रमशः इस (वृत्ति) की चार संख्या बतायी है[1] जिसका उल्लेख पहले किया गया है। वास्तव में हमारा वैदिक वाङ्मय, विद्या के प्रत्येक रूप का उद्गम स्थान है। यह एक ऐसा तथ्य है जो हमारी सांस्कृतिक निष्ठा को बोधित, जागृत तथा उद्बुद्ध करता है। यही कारण है कि प्रत्येक प्रसंग का ऐतिहासिक आधार वेदों के केन्द्र-बिन्दु से ही प्रारम्भ होता है, ऐसी भारतीय मान्यता रही है। शारदातनय ने भी इसी परम्परा का आश्रय लिया है जो उनकी सांस्कृतिक निष्ठा का द्योतक है। क्रम-संख्या के अनुसार भारती का सम्बन्ध ऋग्वेद से, सात्त्वती का यजुर्वेद से, कैषिकी का सामवेद से तथा इसी प्रकार आरभटी का अथर्ववेद से माना जाता है। यद्यपि वृत्ति के उद्गम एवं उद्भव स्रोत रूप में सर्वप्रथम चार वेदों का उल्लेख किया गया है जैसा कि हम कह चुके हैं कि यह हमारी सांस्कृतिक निष्ठा के अनुरूप ही है, किन्तु 'परे' तथा 'अपरे' पदों का वैकल्पिक रूप में प्रयोग करते हुए शारदातनय ने अन्य मान्यताओं का भी उल्लेख किया है। 'परे' तथा 'अपरे' कहकर जो मान्यताएँ प्रकट की गयी हैं वे लेखक की तद्विषयक अस्वीकृति को ही व्यक्त करती हैं। इस रूप में वृत्ति की उत्पत्ति को लेकर दो मान्यताओं का उल्लेख किया गया है। पहली मान्यता यह है कि मधु और कैटभ नामक असुरों से जब विष्णु का संग्राम चल रहा था तो सात्त्वती, कैशिकी तथा आरभटी नामक तीन वृत्तियों का उद्भव हुआ। भरत द्वारा कही गयी होने के कारण एक का नाम भारती पड़ा और इस प्रकार चारों वृत्तियों का उद्भव हुआ[2]। इसी तरह वृत्ति के उद्भव को लेकर व्यक्त किये गये एक और भी दूसरे मत का उल्लेख किया गया है। इस मत के अनुसार नाट्य-दर्शन के समय ब्रह्मा के चार मुखों से चार वृत्तियों का उद्भव शृङ्गार आदि चार रसों के साथ हुआ[3]। इस सम्बन्ध में शारदातनय ने इन चारों वृत्तियों को चार प्रवृत्तियों के साथ सम्बद्ध बताया है और चारों प्रवृत्तियों को वागारम्भ कहा है। इस विचार के अनुसार चार वागारम्भ प्रवृत्तियों

---

१. वृत्तिश्चतुर्विधा ऋग्यजुस्सामाथर्वसम्भवा।

भा० प्र०--प्र० अधि० पृ० १२ पं ४।

२. मधुकैटभासुराभ्यां नियुद्धमार्गेण युध्यतो विष्णोः।
वृत्तित्रयं प्रसूतं भरतप्रोक्ता च भारतीत्यपरे॥

भा० प्र०--प्र० अधि० पृ० १२ पं० ८-९।

३. अपरे तु नाट्यदर्शन–समये कमलोद्भवस्य वदनेभ्यः।
शृङ्गारादिचतुष्टयसहिता वृत्तीः समाचख्युः॥

भा० प्र०--प्र० अधि० पृ० १२ पं० १०-११।

के व्यापारात्मक रूप में ही वृत्तियों की संख्या चार बतलायो गयी है। इन प्रवृत्तियों को क्रमशः—१—दाक्षिणात्या, २—आवन्त्या, ३—पौरस्त्या, ४—औद्रमागधी कहा गया है[1]।

प्रस्तुत सन्दर्भ को हम शारदातनय की अपनी मान्यता के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। इसके दो कारण हैं—पहला कारण यह है कि इस मान्यता के प्रसंग में कहीं भी 'परे' या 'अपरे' पद का उल्लेख नहीं किया गया है और दूसरा कारण यह है कि इस सन्दर्भ के मूल रूप में ऐसा तत्त्व निहित दिखलायी देता है जो वृत्ति के व्यावहारिक रूप का परिचय देनेवाला भी है। शारदातनय का यह कथन है कि चार प्रवृत्तियों का व्यावहारिक सन्निवेश ही चार प्रवृत्तियों के रूप में प्राप्त है। चार वृत्तियाँ ही इस मान्यता के अनुसार प्रवृत्तियों के चार प्रयोग मूलक सन्निवेश को ही व्यक्त करने वाली होती हैं। इस प्रकार शारदातनय ने चार वृत्तियों को चार प्रवृत्तियों के साथ जोड़कर उन्हें प्रवृत्तियों का प्रयोगात्मक रूप दे दिया है।

वृत्ति का अभिनयात्मक एवं रस-मूलक स्वरूप

वृत्तियों की ऐतिहासिक चर्चा एवं उनके उद्गम स्थान पर विचार करने के बाद शारदातनय ने प्रत्येक वृत्ति के अभिनयात्मक रूप तथा प्रत्येक के रस-मूलक प्रभाव का भी वर्णन किया है। वास्तव में वृत्ति के सम्यक् उपयोग का अवसर अभिनय प्रसंग में ही उपस्थित होता है। इस सन्दर्भ में अभिनय की चार स्थितियों का उल्लेख करते हुए एक-एक वर्ग के अभिनय का एक-एक वृत्ति के साथ सम्बन्ध निरूपण किया गया है। इस सन्निवेश के अनुसार भारती वृत्ति का सम्बन्ध वाचिक अभिनय से है अर्थात् वाचिक अभिनय में भारती वृत्ति का उपयोग होता है। इसी तरह सात्त्विक अभिनय में सात्त्वती वृत्ति स्वीकार की जाती है। नृत्त और आहार्य नामक अभिनयों में कैशिकी वृत्ति का प्रयोग किया जाता है। आङ्गिक अभिनय का सम्ब्रन्ध आरभटी वृत्ति से रहता है[2]।

प्रत्येक वृत्ति का रस-विशेष से सम्ब्रन्ध बताते हुए शारदातनय का कथन है कि भारतीय वृत्ति का उपयोग सभी रसों में किया जाता है, किन्तु श्रृङ्गार रस में

---

१. दाक्षिणात्या तथाऽऽवन्त्या पौरस्त्या चौद्रमागधी।
प्रवृत्तयश्चतस्रोऽपि वागारम्भाः स्युरेकदा॥
तद्व्यापारात्मिकाः प्रोक्ता वृत्तयः स्युश्चतुर्विधाः॥
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १२ पं० १२-१४।

२. वाचिकं सात्त्विकं नृत्यमाहार्यं च तथाङ्गिकम्।
यथाक्रमं नियमितं भारत्याद्यासु वृत्तिषु॥
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १२ पं० १५-१६।

कैशिकी वृत्ति, वीर रस मे सात्वती वृत्ति तथा रौद्र एवं बीभत्स इन दोनों रसों में आरभटी वृत्ति का उपयोग होता है[१]।

शारदातनय का कहना है कि उन्होंने भोज और सोमेश्वर आदि के वर्णन-क्रम को ध्यान में रखकर ही वृत्तियों पर विचार व्यक्त किया है। विद्वान् आचार्य ने इस प्रसंग में भी स्पष्ट कर दिया है कि भोज और सोमेश्वर आदि विद्वानों ने अंग भेद सहित वृत्तियों का उल्लेख अपने-अपने ग्रन्थों में कर दिया है इसलिये यहाँ उनका केवल संकेत मात्र ही किया गया है[२]।

इस प्रकार वृत्ति के विषय में शारदातनय की मान्यताओं को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—(१) वृत्तियों का सम्बन्ध वागारम्भ प्रवृत्तियों के साथ है। ये वृत्तियाँ, प्रवृत्तियों के व्यापार के स्वरूप को व्यक्त करती हैं। (२) भारती नामक वृत्ति के अतिरिक्त अन्य वृत्तियों का विशेष-विशेष रसों से सम्बन्ध रहता है। भारतीय वृत्ति का सम्बन्ध तो सभी रसों से है, किन्तु अन्य वृत्तियाँ अपने-अपने निर्धारित रसों तक ही सीमित रहती हैं। (३) अभिनय के भिन्न-भिन्न प्रकारों से वृत्ति का भिन्न-भिन्न रूप व्यवहृत होता है।

प्रवृत्ति

बुद्ध्यारम्भानुभावों में वृत्ति नामक अनुभाव के पश्चात् शारदातनय ने प्रवृत्ति नामक अनुभाव का वर्णन किया है जैसा कि हम पहले हो लिख चुके हैं कि—"भावप्रकाशनम्" के रचयिता ने वृत्तियों के प्रसंग में भी वागारम्भ-मूलक प्रवृत्ति कहकर चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है जिनके नाम इस प्रकार हैं—दाक्षिणात्या, आवन्त्या, पौरस्त्या एवं औढ्रमागधी। यद्यपि इनका पृथक् विवेचन तथा परिचायात्मक वर्णन और प्रत्येक की विशेषता तथा एक दूसरे को अलग रखनेवाली भिन्नता आदि की चर्चा नहीं की गयी है, किन्तु इनके नामकरण में ही स्थान-कृत प्रवृत्ति-विषयक भेद का समावेश स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ विद्वान् विवेचक ने चार वृत्तियों को इन चार प्रवृत्तियों का व्यावहारिक रूप कहा है।

---

१. शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती॥

भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १२ पं० १७-१८।

२. उक्तास्ता वृत्तयः साङ्गा भोजसोमेश्वरादिभिः।
तस्मादासां स्वरूपं तु दिङ्मात्रं समुदाहृतम्॥

भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १२ पं० २१-२२।

प्रवृत्ति के आधार

प्रवृत्ति वर्णन के प्रस्तुत प्रसंग में शारदातनय ने इसे देश, भाषा तथा क्रिया-मूलक भेद वाली कहा है[१]। इसमें शारदातनय का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि प्रवृत्ति को लक्षित करनेवाले देश, क्रिया एवं भाषा ये ही तीन आधार हैं। इन्हीं आधारों पर प्रवृत्ति-विषयक किसी वर्ग को दूसरे वर्ग से पृथक् किया जा सकता है। उनकी पारस्परिक भिन्नता को भी इसी आधार पर समझा जा सकता है। इस सम्बन्ध में लेखक ने किसी प्रवृत्ति-विशेष को समझने के किये लोक-व्यवहार को ही एक-मात्र सहायक बतलाया है[२]। वस्तुतः किसी देश-विशेष में प्रवृत्ति की क्या स्थिति है ? एक स्थान को प्रवृत्ति से दूसरे स्थान की प्रवृत्ति में क्या भेद है ? इन तथ्यों को तब तक नहीं समझा जा सकता, जब तक उस देश-विशेष में रहनेवाले लोगों का सहयोग प्राप्त न हो, क्योंकि सभी देशों की स्थानीय प्रवृत्तियों को एक ही व्यक्ति सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप में समझने और व्यवहार में लाने की दृष्टि में कभी सक्षम हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि शारदातनय ने स्पष्ट घोषणा की है कि जिज्ञासु का कर्त्तव्य है कि वह तत् तद् देशवासियों से प्रवृत्ति-सम्बन्धी स्थान-मूलक विशेषताओं का सम्यक्‌रूप से ज्ञान प्राप्त करे[३]। उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि देशगत प्रवृत्ति-भेद का परिचयात्मक वर्णन सम्भव नहीं है। अतः विद्वानों को जिस देश की प्रवृत्ति के काव्यगत सन्निवेश की आवश्यकता पड़ती है वे वहाँ के लोगों से ही प्राप्त कर अपने काव्य को प्रभावशाली बनाते हैं। यहाँ प्रस्तुत प्रसंग में ग्रन्थकार ने एक स्थान की प्रवृत्तियों का दूसरे स्थान की प्रवृत्तियों से जो भेद है उसका वर्णन कहीं नहीं किया है। यही कारण है कि प्रस्तुत ग्रन्थ से किसी भी स्थानीय प्रवृत्ति का परिचय हमें नहीं हो पाता और न किसी देश-विशेष की प्रवृत्ति पर पड़ने वाले स्थानीय प्रभाव का ही ज्ञान होता है।

प्रवृत्तिगत स्थानीय प्रभाव को तत् तद् देश वालों से जान लेने का सुझाव उपस्थित करने के बाद शारदातनय ने क्रियामूलक आधार की चर्चा की है और इस सम्बन्ध में एक क्रिया से दूसरी क्रिया के भेदों अथवा क्रिया के गणना-मूलक प्रकारों के ज्ञान

---

१. देशभाषाक्रियाभेदलक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः।

भा० प्र०—प्र० अधि पृ० १२ पं० १९।

२. लोकादेवावगम्यैता यथौचित्यं प्रयोजयेत्।

भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १२ पं० २०।

३. देश्याः प्रवृत्त्यस्तत्तद्देश्यैर्ज्ञेया विचक्षणैः।

भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १२ पं० २३।

एवं निर्वचन को भी उन्होंने किसी एक व्यक्ति के लिये असम्भव बताया है[1]। इसलिये सब तरह की प्रवृत्तियों तथा क्रियात्मक स्थितियों की जानकारी के लिये उन्होंने उसी स्थान पर प्रवृत्तियों के जानकारों से सम्पर्क स्थापित करना आवश्यक बताया है[2]।

प्रवृत्ति के विषय में शारदातनय द्वारा प्रस्तुत किये गये विवेचन को हम प्रवृत्ति के स्वरूप तथा उसकी विशेषता आदि की जानकारी के लिये सर्वथा अपूर्ण समझते हैं। ग्रन्थकार ने कहीं भी ऐसा प्रयास नहीं किया है जिससे प्रवृत्ति के देशगत, क्रियागत अथवा भाषागत विशेष प्रभाव की स्थिति को हम जान सकें जहाँ देशगत आदि विशेषताओं के ज्ञान हेतु स्थानीय व्यक्तियों का सम्पर्क आवश्यक बताया गया है। इस प्रसंग में विभिन्न भाषाओं का नाम परक उल्लेख अवश्य ही किया गया है जो इस प्रकार है—

विविध भाषा तथा विभाषाएँ

(क) भाषा के सात स्वरूप[3]—१. मागधी, २. आवन्तिका, ३. प्राच्या, ४. शौरसेनी, ५. अर्धमागधी, ६. पैशाची, ७. दाक्षिणात्या।

(ख) भाषा के समान विभाषाएँ भी सात हैं—जो विविध जातियों के पारस्परिक व्यवहार में उपलब्ध हैं। जातियों के नाम इस प्रकार हैं—१. शकार, २. आभीर, ३. चाण्डाल, ४. शबर, ५. द्रविड़, ६. आन्ध्रज, ७. हीन।

इस प्रसंग में शारदातनय ने भारतवर्ष के विभिन्न अंचलों में बोली जानेवाली भाषाओं का उल्लेख उन्हीं अंचलों का नामोल्लख करते हुए किया है। जैसा कि हम पहले ही निवेदन कर चुके हैं कि उन्होंने किसी अंचल की भाषा के विशिष्ट रूप का उल्लेख नहीं किया। विभाषाओं के सम्बन्ध में तो केवल उन जातियों के नामों का ही वर्णन किया गया है, जिनकी बोलियों का अपना विशेष रूप होता है। इससे यह ज्ञात

---

१. क्रियाभेदा न शक्यन्ते ज्ञातुं वक्तुं च केनचित्।
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १२ पं० २४।

२. तस्माद्यतः प्रवृत्तिर्वा क्रिया वा यत्र दृश्यते।
तत्र तज्ज्ञैः सह ज्ञेयास्सर्वैः सर्वाः प्रवृत्तयः॥
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १३ पं० १-२।

३. भाषा स्यात्सप्तधा देश्या विभाषाऽपि च सप्तधा।
मागध्यवन्तिका प्राच्या शौरसेन्या च मागधी॥
पैशाची दाक्षिणात्या च तत्तद्देशेषु भाष्यते।
शकाराभीरचण्डालशबरद्रविडान्ध्रजाः।
हीना वनेचराणां च तत्तज्जातिषु दृश्यते॥
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १३ पं० ३-७।

होता है कि उस समय इन विभाषाओं का कोई विशेष नाम प्रचलित न था। इतना अवश्य होगा कि जो बोली किसी एक जाति के लोगों में प्रचलित थी वह अन्य जाति के लोगों की बोली से भिन्नता रखती होगी। यदि भाषा एवं विभाषा की सापेक्ष स्थितियों पर विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि किसी सम्पूर्ण अंचल में लोक व्यवहार में अपनाई जाने वाली वचनावली की गणना भाषा में होती थी और उसी अंचल के बीच निवास करनेवाली किसी विशेष जाति की वह बोली जो सम्पूर्ण अंचल में प्रचलित भाषा से भिन्न होती थी उसे विभाषा कहा जाता था। सब तरह की इन प्रवृत्तियों के लिये शारदातनय ने स्थानीय विशेषज्ञों के सहयोग की आवश्यकता पर ही बल दिया है और स्पष्ट कर दिया है कि जहाँ जैसा प्रसंग उपस्थित होता हो वहाँ देश-भेद तथा क्रिया-भेद के विशेष रूप की योजना कर लेनी चाहिए[1]।

अनुभाव विषयक अन्य चर्चा

इन अनुभावों की चर्चा के उपरान्त शारदातनय ने इन्हें वर्ण्य विषय के अनुसार व्यवहार में लाने का सुझाव कवियों को दिया है। विद्वान् आचार्य ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि रसोदय में अन्य भी बहुत से अनुभाव दृष्टिगोचर होते हैं जो तत् तत् स्थलों पर इसको उत्कृष्टता प्रदान करने के लिये सहायक होते हैं। सात्त्विक भावों की चर्चा के प्रसंग में भी शारदातनय ने विविध सात्त्विक भावों को व्यक्त करनेवाले अनुभावों के विविध रूपों को तत् तत् स्थानों पर प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के अनुभावों के स्वरूप का वर्णन आगे चलकर तत् तत् भावों के प्रसंग में ग्रन्थकार ने किया है जिनका उल्लेख आगे किया जायगा।

उपसंहार

'भावप्रकाशन' में वर्णित अनुभावों की सामान्य विशेषताएँ ये हैं—

१. अनुभाव का सामान्य परिचय देते हुए उसे भावित अर्थों की अनुभूति का रूप बताया गया है। वास्तव में जागृत तथा उद्दीप्त स्थायीभाव को सूचित करनेवाले अनुभाव ही होते हैं। अनुभाव-विषय-परिचायक विवेचनों में शारदातनय ने इस तथ्य को सदा ध्यान में रखा है।

२. विभाव एवं अनुभाव के बीच कार्यकारण-भाव का निरूपण करते हुए विभाव को कारण तथा अनुभाव को कार्य बताया गया है। अभिप्राय यह है कि विभाव के प्रभाव से जागृत तथा उद्दीप्त होनेवाले स्थायीभाव की विशेष अवस्था को ही अनुभावों द्वारा सूचित किया जाता है। इसलिये अनुभावों का अस्तित्व विभावों पर ही निर्भर है। अनुभावों में विभाव की कारणता का यही आधार है।

---

१. देश-भेदक्रियाभेदांस्तत्र तत्रोपलक्षयेत्।

भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १३ पं० ८।

३. तन-मन-वचन एवं बुद्धि के आधार पर ही अनुभावों के विविध रूप गठित होते हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने अनुभावों को चार रूपों में विभक्त किया है जो मन-आरम्भानुभाव, गात्रारम्भानुभाव, वागारम्भानुभाव तथा बुद्धयारम्भानुभाव के नाम से व्यहृत किये गये हैं।

४. मन-आरम्भानुभावों की चर्चा करते हुए स्त्री तथा पुरुष पात्रों की विशेष स्थितियों को भी ध्यान में रखा गया है। इसलिये स्त्रियों में उपलब्ध होने वाले अनुभावों तथा पुरुषों में उपलब्ध होने वाले अनुभावों का पृथक्-पृथक् निरूपण करने के साथ-साथ दोनों में सामान्य रूप से विद्यमान रहनेवाले अनुभावों का भी अलग-अलग विश्लेषण किया गया है।

५. गात्रारम्भानुभावों के वर्णन में उनके परिचयात्मक स्वरूप, भेद एवं गुणों का भी पृथक्-पृथक् निरूपण किया गया है। साथ ही साथ ऐसे अनुभावों की प्रभावपूर्ण रस-सापेक्ष स्थितियों पर भी विचार किया गया है।

६. मन की विशेष अवस्थाओं का अत्यन्त सूक्ष्मता पूर्वक विवेचन किया गया है, क्योंकि मन-आरम्भानुभावों की स्थिति मन पर ही निर्भर रहती है अर्थात् मन का विशेष प्रभाव ही इस वर्ग के अनुभावों का प्रभावकारी स्रोत होता है।

७. वागारम्भानुभावों में आलाप आदि भेदों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है। इसके साथ ही साथ प्रत्येक का परिचयात्मक वर्णन करते हुए उसकी रस-सापेक्ष अवस्था पर भी विचार किया गया है।

८. बुद्धयारम्भानुभाव वर्ग में रीति, वृद्धि तथा प्रवृत्ति नामक जिन अनुभाव-भेदों की चर्चा की गयी है उनका भी किसी न किसी रूप में वचन-विन्यास के स्वरूप तथा उनकी शैली विशेष के साथ ही सम्बन्ध रहता है। इस सन्दर्भ में हमने अपने पिछले प्रसंग में उस आधार को स्पष्ट करने का प्रयास किया है जो बुद्धयारम्भानुभावों को वागारम्भानुभावों से पृथक् करनेवाला है।

९. 'रीति' वर्णन प्रसंग में वैदर्भी, पाञ्चाली, लाटी तथा गौडी नामक रीति भेदों को शारदातनय की स्वीकृति प्राप्त है। अन्य रीति के भेदों में सौराष्ट्री तथा द्राविड़ी को भी गिना गया है। इन दो भेदों के सम्बन्ध में दूसरों की मान्यता का संकेत मात्र है। किसी विद्वान् के नामोल्लेख के बिना यहाँ १०५ रीति भेदों का संकेत किया गया है जिन्हें ग्रन्थ का अनावश्यक विस्तार समझकर शारदातनय ने उनकी विशेष चर्चा नहीं की।

१०. वृत्ति की चर्चा में भारती, सात्वती, कैशिकी आरभटी के अतिरिक्त अर्थवृत्ति नामक एक पाँचवीं वृत्ति का भी वर्णन किया है। इन वृत्तियों की उत्पत्ति के ऐतिहासिक रूपों पर विचार करते हुए अलग-अलग वेद से अलग-अलग वृत्ति की

उत्पत्ति मानी गयी है। अभिनय तथा रस के विविध रूपों में वृत्ति के विविध रूपों का सम्बन्ध भी निरूपित किया गया है। इस विषय में भोज, सोमेश्वर आदि द्वारा किये गये निरूपणों का भी संकेत किया है।

११. प्रवृत्ति की चर्चा करते हुए उसे देश, भाषा तथा क्रिया आदि विविध रूपों वाली माना गया है। देश के अनुसार उसके दाक्षिणात्या, आवन्त्या, पौरस्त्या एवं औद्रमागधी नामक चार भेद बताये गये हैं। भाषा तथा क्रिया के अनुरूप प्रवृत्ति के भेदों का निरूपण कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव सा लगता है, फिर भी शारदातनय ने देश की विविध इकाइयों का उल्लेख करते हुए देश की सात आंचलिक भाषाओं तथा सात विभाषाओं का भी वर्णन किया है। इस प्रसंग में भाषा तथा विभाषा की भिन्नता मूलक दशा पर भी संक्षिप्त रूप में प्रकाश डाला गया है और अभिनय के प्रसंग में आवश्यकतानुसार तत् तत् भाषा-भाषी लोगों से सम्पर्क स्थापित कर ज्ञान प्राप्ति की अनिवार्यता पर विद्वान् आचार्य ने अपनी रचना 'भावप्रकाशनम्' में बल दिया है।

(ग) स्थायीभाव प्रकरण

उपस्थापन

शारदातनय ने भाव-वर्णन के प्रसंग में स्थायीभावों का सामान्य परिचय देते हुए उन्हें चित्त का ऐसा चिर स्थिर भाव बताया है जो विभाव आदि अनुबन्धियों के सम्पर्क से उद्बुद्ध, उद्दीप्त तथा परिपुष्ट होकर रसात्मकता प्राप्त कर लेता है[1]। शारदातनय की स्थायीभाव विषयक उपर्युक्त मान्यता भरत सम्प्रदाय के रस-विवेचन की दृष्टि से सर्वथा अनुकूल है। इस वर्णन के अनुसार स्थायिभावों की निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

(क) यह भाव चित्त का चिरकाल तक स्थिर रहनेवाला भाव है अर्थात् परिस्थितियों के प्रभाव से इसके अस्तित्व में आगम या निर्गम जैसी अवस्था का पूर्णतः अभाव रहता है।

(ख) इसी भाव को रसात्मकता प्राप्त होती है अर्थात् स्थायी भाव मात्र ही विभावादियों का सम्पर्क प्राप्त कर रस-रूपता ग्रहण कर लेता है।

(ग) स्थायी भाव को आनन्द-मय रस की स्थिति तक पहुँचने के लिये विभावादि अनुबन्धियों के सम्बन्ध की आवश्यकता रहती है।

---

१. अवस्थितारिचरं चित्ते सम्बन्धाच्चानुबन्धिभिः ।
वर्धिता ये रसात्मानः ते स्मृताः स्थायिनो बुधैः ॥

(घ) रस के आनन्द बोध में स्थायीभाव ही मूल तत्त्व है। इस लिये प्रत्येक रस में इस भाव का अनिवार्य अस्तित्व रहता है।

(ङ) प्रत्येक स्थायीभाव रस की आनन्दमयता स्वयं प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि उसे विभावादियों की सहायता निरन्तर अपेक्षित है। यदि अनुबन्धियों की यह सहायता स्थायीभाव को न मिले तो वह अनुद्बुद्ध तथा सुप्तावस्था में ही सदा पड़ा रहेगा।

अपनी उपर्युक्त विशेषताओं के कारण ही स्थायीभाव, रसानुभूति में सहायक विभावादि अन्य भावों से पृथक् हो जाता है। वास्तव में विभाव अनुभावादि तो स्थायीभाव को रसमयता की स्थिति तक पहुँचने में सहायता पहुँचाने वाले सहयोगी तत्त्व मात्र हैं, किन्तु रसानुभूति में स्थायीभाव के साथ रस का सम्बन्ध पूर्वापरी-भाव मूलक है, क्योंकि स्थायीभाव ही रस है। दोनों में यदि कोई भेद है तो वह केवल सहायक (विभावादि) तत्त्वों के सहयोग की मध्य स्थिति को ही लेकर है। जैसा कि स्थायीभाव विषयक कतिपय विशेषताओं का उल्लेख करते हुए पहले ही स्पष्ट कर दिया है। विभावादिकों का सम्पर्क पाकर यही स्थायीभाव उस अलौकिक काव्यानन्द को प्राप्त करने लगता है जो रस नाम से विख्यात है।

स्थायीभाव एवं रस

शारदातनय ने स्थायीभाव एवं रस के पारस्परिक सम्बन्ध का निर्वचन करते हुए अपनी मान्यता के विषय में स्पष्ट किया है[1]। इस प्रसंग में सादृश विधान के माध्यम से अपनी उपर्युक्त मान्यता के विषय में शारदातनय की यह घोषणा कि जिस तरह व्यञ्जन-औषधि का संयोग अन्न को स्वादु बना देता है उसी प्रकार विभावादिकों का संयोग ही स्थायिभाव को रसरूपता में परिणत कर देता है[2]। शारदातनय ने इस प्रसंग में अपनी मान्यताओं की सम्पुष्टि में भरतवृद्ध द्वारा कहे गये गद्य को भी उद्धृत किया है[3]। इन्होंने प्रस्तुत सन्दर्भ में वासुकि के मत का भी

---

१. विभावैश्चानुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वादुत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः॥

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३६, पं० ९-१०।

२. व्यञ्जनौषधिसंयोगो यथान्नं स्वादुतां नयेत्।
एवं नयन्ति रसतामितरे स्थायिनं श्रिताः॥

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३६, पं० ११-१२।

३. यथा नानाप्रकारैर्व्यञ्जनौषधैः पाकविशेषैश्च संस्कृतानि व्यञ्जनानि मधुरादि-रसानामन्यतमेनात्मना परिणमन्ति तद्भोक्तॄणां मनोभिस्तादृशात्मतया स्वाद्यन्ते तथा नानाप्रकारैर्विभावादिभावैरभिनयैः सह यथार्हमभिवर्धिताः स्थायिनो भावाः सामाजिकानां मनसि रसात्मना परिणमन्तस्तेषां तादात्मिकमनोवृत्तिभेदभिन्ना-स्तत्तद्रूपेण तैः रस्यन्ते।

भा० प्र०- द्वि० अधि० पृ० ३६, पं० १५-२०।

उल्लेख किया है। आचार्य वासुकि ने भी स्पष्ट स्वीकार किया है कि जैसे नाना-द्रव्यौषधमय पाकों द्वारा व्यञ्जन को सुस्वादु कर दिया जाता है उसी तरह अभिनयों के सम्पर्क में आकर स्थायीभाव ही रसरूपकता ग्रहण कर लेते हैं[1]। वासुकि के इस कथन के अनुरूप ही शारदातनय ने भावों से रसनिष्पति स्वीकार की है जो सर्वथा समीचीन है[2]। अपने कथन का विवेचन करते हुए शारदातनय ने स्पष्ट कर दिया है कि विभावों, अनुभावों, सात्त्विकों तथा व्यभिचारियों द्वारा वर्द्धित एवं नायिकादि समाश्रित स्थायी भाव ही नाट्य में नाटादिकों द्वारा किये जानेवाले अनुकरण के प्रभाव से सामाजिकों को आनन्द की अनुभूति कराया करते हैं। रस विवेचन के प्रसंग में प्रस्तुत चर्चा का वर्णन और किया जायगा। अतः विषय के पिष्ट-पेषण से बचते हुए यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि शारदातनय ने विभावादिकों के सहयोग से ही स्थायिभावों की रसरूप में परिणति स्वीकार की है।

स्थायीभावों के स्वरूपों का आधार-मूलक निरूपण

शारदातनय ने स्थायीभावों के स्वरूपों का विवेचन करते हुए कतिपय आधार-मूल तत्त्वों का उल्लेख किया है। विद्वान् आचार्य ने रस प्रसग में स्थायीभाव विषयक उन सामान्यताओं पर प्रकाश डाला है जो आगे के प्रसंगों में पृथक्-पृथक् व्याख्यात रति आदि प्रत्येक वर्ग के स्थायिभावों तक व्याप्त रहनेवाले हैं। स्थायीभावों के इन सामान्य स्वरूपों को शारदातनय ने चार भागों में विभक्त किया है जो इस प्रकार हैं—१. मानस, २. आङ्गिक, ३. वाचिक, ४. सात्त्विक[3]। आपके अनुसार जितने भी स्थायीभाव हैं वे किसी न किसी रूप में इन चारों में से किसी एक वर्ग से अवश्य सम्बद्ध रहते हैं। यहाँ ग्रन्थकार का कथन है कि स्थायीभाव तो द्रव्य, गुण, कर्म एवं क्रिया में रहते हैं। इनके लिये जहाँ 'भाव' शब्द का प्रयोग किया जाता है वहाँ भाव शब्द से प्रयोजन अर्थ प्रगट होता है। प्रयोजन, अभिप्राय, तात्पर्य, फल तथा भाव शब्द वास्तव में भाव के ही पर्यायवाची हैं[4]।

---

१. नानाद्रव्यौषधैः पाकैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह॥
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३६, पं० २१-२२।

२. इति वासुकिनाप्युक्तो भावेभ्यो रससम्भवः।
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३७, पं० १।

३. भावाः स्युर्मानसाः केचिदाङ्गिका अपि केचन।
वाचिका अपि केचित्स्युस्सात्त्विका अपि केचन॥
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३८, पं० २१-१२।

४. प्रयोजनमभिप्रायस्तात्पर्यं फलमित्यपि।
भाव इत्येव शब्दाः स्युर्भावपर्यायवाचकाः॥
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३९ पं० ३-४।

रति-विषयक मान्यता

शारदातनय ने स्थायीभाव को रसोत्पादन का कारण बताते हुए सर्व प्रथम 'रति' नामक स्थायीभाव का वर्णन किया है। विद्वान् आचार्य ने यहाँ यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि रति ही अन्य स्थायीभावों के विकास का मूल कारण है। जैसा कि पहले भी निवेदन किया जा चुका है कि शारदातनय की यह अपनी विशेषता है कि वे किसी भी वर्ण्य विषय का प्रतिपादन करने से पूर्व उसकी अर्थगत पारिभाषिक स्थिति को स्पष्ट करते हैं। रति के निरूपण के प्रसंग में भी आपने अपनी प्रचलित परम्परा का निर्वाह करते हुए कहा है जिसके दो रूप 'रति' और 'प्रीति' के नाम से विख्यात हैं[1]। शारदातनय के मत से ये दो भेद हैं, जिनमें प्रथम भेद जो रति है उसे साम्प्रयोगिकी तथा दूसरे भेद प्रीति को आभ्यासिकी कहा गया है। इन भेदों में से प्रत्येक के सात भेद किये गये हैं जो इस प्रकार हैं—१—निसर्ग, २—संसर्ग, ३ उपमा, ४—अभियोग, ५—अध्यात्म, ६—अभिमान, ७—विषयात्मिका[2]।

रति-निरुक्ति

शारदातनय ने रति शब्द के व्युत्पत्तिमूलक व्यापक स्थिति पर भी विचार किया है। यह मूलभाव जिस स्थिति विशेष में अन्य स्थायीभावों का रूप ग्रहण करता है उसके विवेचन से पहले शारदातनय द्वारा प्रस्तुत को गयी व्युत्पत्ति मूलक विवेचना का उल्लेख करना आवश्यक है। आपके अनुसार रति की व्युत्पत्ति तीन रूपों में हो सकती है।

(क) रम्यते इति रतिः, (ख) रमते इति रतिः (ग) रमयति इति रतिः[3]।

प्रथम स्थिति में यह भाव रमण में कारण है अर्थात् चित्त की रमण अवस्था का आधार है। 'रम्यते' पद में किया गया भाव कर्मक प्रयोजन उसकी इसी अर्थ प्रकृति को प्रकट करता है।

---

१. मनोऽनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनात्मिका।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३४ पं० ११-१२।

२. तयोः साधारणो भेदः सप्तधा परिकीर्तितः।
निसर्गसंसर्गोपमाभियोगाध्यात्मस्वरूपतः ॥
अभिमानाश्च विषयात् सप्तधा साम्प्रयोगिकी ॥

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३४ पं० १३-१५।

३. रम्यते रमते वेति रती रमयतीति वा।

भा० प्र०– द्वि० अधि० पृ० ३४ पं० १३-१५।

दूसरी स्थिति में रमण की विशेष अवस्था का ही नाम रति है अर्थात् रमणानुभूति की विशेष दशा ही रति है।

तीसरी अवस्था में प्रेरणार्थक प्रयोग रति को प्रेरक कर्त्ता के रूप में उपस्थित करता है, क्योंकि 'रमयति' पद की णिजन्त प्रकृति यही सूचित करती है। इस प्रकार शारदातनय की दृष्टि में यह रति नामक भाव रमणानुभूति का कारण है। यह उसी अनुभूति का रूप भी है तथा तत् तत् स्थिति का प्रेरक स्वरूप भी है।

विद्वान् आचार्य ने रति विषयक लोक प्रसिद्ध मूलक व्यापकता के परिवेश में रति पद की व्युत्पत्ति मूलक अर्थ प्रकृति को उपस्थित किया है। जैसाकि ऊपर के प्रसंग से स्पष्ट है। इस अर्थगत व्यापकता को ही लेकर रति नामक स्थायीभाव को अन्य स्थायीभावों की दशा में परिणत होते बताया है। अब हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि यह मूल भाव अपनी किन सहायक परिस्थितियों के प्रभाव में अन्य स्थायीभावों का भी रूप ग्रहण करता है।

रति के विविध रूप और अन्य स्थायीभाव

श्रृङ्गार रस के स्थायीभाव रूप में रति को स्वीकार करते हुए शारदातनय ने उसकी तद्गत स्थिति को सात्त्विक बताया है यही उसका मूलरूप है। विद्वान् आचार्य के अनुसार सत्त्व की दशा में ही रति नामक स्थायीभाव विभावादिकों से उपबृंहित होकर अर्थात् जागृत तथा उद्दीप्त एवं अनुभावित तथा परिपुष्ट होकर रस रूपत्व ग्रहण करता है[1]। यहाँ स्थायीभाव वर्णन के प्रसंग में इन्होंने यद्यपि रति के रस रूपत्व का नामकरण नहीं किया है, किन्तु श्रृङ्गार रस की ओर इनका संकेत सर्वथा स्पष्ट है।

इसी प्रकार राजस रूप में अनुगृहीत स्वाद्वमयी रति को चित्त का प्रीतिपरक विकास रूप 'हास' बताया है[2]। हास की अवस्था में अपने विकासमय रूप को प्रकट करनेवाले रति नामक प्रस्तुत स्थायीभाव की कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं—(क) राजस दशा में ही यह मूल स्थायीभाव हास का रूप ग्रहण करता है, (ख) इस अवस्था में पहुँची रति स्वाद्वी अर्थात् स्वादमयी रहती है, (ग) हास की अवस्था में रति का स्वरूप चित्त की प्रीति विशेष का विकसित रूप ही होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि रति नामक स्थायीभाव ही अपनी राजसी स्थिति में हास नामक स्थायी-

---

१. रति सत्त्वस्थिता सेयं विभावाद्युपबृंहिता।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३५ पं० १४।

२. रजसाऽनुगृहीता तु स्वाद्वी सर्वत्र भासते।

प्रीतेर्विशेषश्चित्तस्य विकासो हास उच्यते॥

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३४ पं० २०-२१।

भाव कहा जाता है जो हास्य रस का आधार है। हास पद की व्युत्पत्ति मूलक अवस्था को प्रस्तुत करते हुए शारदातनय ने उपर्युक्त विवेचन के साथ ही उसकी संगति बतायी है। हास को 'हास्यते', 'हासयति' या 'हासति' के रूप में व्युत्पन्न किया गया है[१]।

रति को ही उत्साह नामक स्थायीभाव का स्वरूप बताते हुए शारदातनय का कथन है कि रजः स्थिति रति नामक स्थायीभाव ही विभवादि के संसर्ग से तामस रूप ग्रहण कर लेता है और उत्साह के रूप में विकसित हो जाता है[२]। इस प्रसंग में शारदातनय ने उत्साह की अनुभूति के प्रभाव का व्यावहारिक रूप सामने रखा भी है। इनका कहना है कि उत्साह के प्रभाव में मन का व्यापार ऐसा हो जाता है कि वह सभी कार्यों में सत्वरता उत्पन्न कर देता है[३]। इस प्रकार उत्साह नामक स्थायी-भाव की निम्नलिखित विशेषताएँ कही गयी हैं—(क) विभावादियों की विशेष प्रकृति के संसर्गवश ही रजः स्थिति रति नामक भाव ही अपने तामस रूप में उत्साह बन जाता है, (ख) रति का तामस रूप ही उत्साह है, (ग) रजः स्थित रति को तामस रूप प्राप्त होने में विभावादि की स्थिति का सहयोग ही आधार होता है, (घ) उत्साह की दशा में मनो-व्यापार की विशेष दशा के कारण सभी कर्मों में सत्त्वरता आ जाती है। यहाँ शारदातनय का कहना है कि उत्साह की स्थिति में आलस्य की प्रवृत्ति मिट जाती है। व्युत्पत्ति के आधार पर भी इन्होंने उत्साह की उपर्युक्त बिशेषताओं का समर्थन किया है और उसे-उत्साह्यते या उत्सहते अथवा उत्साह्यति अर्थों में व्युत्पन्न किया है। इस प्रकार उत्साह का विवेचन करते हुए शारदातनय ने वीररस के स्थायीभाव का भी मूल आधार स्पष्ट कर दिया है।

सहज तथा आहार्य भेद से उत्साह को दो प्रकार का कहा गया है। यहाँ हमारे विद्वान् आचार्य ने सहज तथा आहार्य की परिणतियों के स्वरूप—आदि की चर्चा नहीं की, किन्तु आगे के प्रसंगों में अन्य स्थायीभावों को इनके साथ सम्बद्ध बताया है।

शारदातनय ने चित्त की विचित्र दशा को विस्मय कहा है और उसे त्रिगुणात्मक बताया है[४]। विस्मय पद के व्युत्पत्तिमूलक आधार को ग्रहण करते हुए शारदातनय ने उसे चार अर्थों में व्युत्पन्न बताया है जो इस प्रकार हैं—

१. हास्यते हासयति वा हासः स्याद्धसतीति वा।
भा० प्र०— द्वि० अधि० पृ० ३५ पं० १५।

२. उत्तन्द्रतामभिमवत्यत उत्साह निर्वहः।
भा० प्र०—द्वि अधि० पृ० ३५ पं० १६।

३. उत्साहः सर्वकृत्येषु सत्वरा मानसी क्रिया।
भा० प्र० द्वि० अधि० पृ० ३५ पं० २।

४. विस्मयश्चित्तवैचित्र्यं स त्रिधा त्रिगुणात्मकः।
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३५ पं० ४।

१. विविधः स्मयो इति विस्मयः, २. विस्मयते इति विस्मयः, ३. विस्माय्यते इति विस्मयः, ४. विस्मापयति इति विस्मयः। व्युत्पत्ति तथा उपर्युक्त रूपों द्वारा भी शारदातनय ने चित्त की विचित्र स्थिति को विस्मय सिद्ध किया है। व्युत्पत्तिगत भावों से चित्त की तत्कालीन विचित्रता का ही संकेत किया गया है जो सर्वथा स्पष्ट है। इस तरह विस्मय के रूप में अद्भुत नामक रस के स्थायीभाव का दिग्दर्शन यहाँ कराया गया है।

इसी प्रकार क्रोध नामक स्थायीभाव की चर्चा करते हुए उसे तेज का जनक बताया गया है और उसके तीन भेदों का उल्लेख भी किया गया जो इस प्रकार हैं—१—क्रोध, २—कोप, ३—रोष[२]। क्रोध की व्युत्पत्ति मूलक अवस्था को व्यक्त करते हुए शारदातनय ने उसे दो रूपों में व्यक्त किया है—'क्रोध्यते इति क्रोधः, क्रोधयति इति क्रोधः[३]' यहाँ क्रोध नामक अर्थगत व्यावहारिक परिणति की ओर संकेत करते हुए शारदातनय का कथन है कि 'क्रुत्' से क्रूरता का अर्थ व्यक्त होता है अर्थात् जो सर्वत्र अपने प्रभाव से जलाता है वही क्रोध है[४]। इस प्रकार क्रोध का विवेचन करते हुए शारदातनय ने रौद्र रस के स्थायीभाव को स्पष्ट कर दिया है।

क्रोध नामक स्थायिभाव की चर्चा करते हुए हमारे विद्वान् आचार्य ने उसे सम्पूर्ण इन्द्रियों का परिक्लेश कहा है[५]। शोक शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए इन्होंने 'शुक्' पद का प्रयोग किया है जिसे क्लेश रूप तथा शोषणात्मक बताया है और शोक को तीन रूपों में व्युत्पन्न किया है—(क) 'शोच्यते इति शोकः' 'शोचति इति शोकः', 'शोचयति (अपरान्) इति शोकः[६]। उपर्युक्त व्युत्पत्ति के अनुसार भी

---

१. विविधः स्यात्स्मयो हर्ष इति विस्मयतेऽथवा।
विस्माप्यते स्वयं कश्चिद्धि स्मापयति वा भवेत्॥
भा० प्र०—दि० अधि० पृ० ३५ पं० १८-१९।

२. तेजसो जनकः क्रोधः स त्रिधा कथ्यते बुधैः।
क्रोधः कोपश्च रोषश्चेत्येष भेदस्त्रिधा मतः॥
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३५, पं० ५-६।

३. क्रोध्यते क्रोधयत्येव क्रोध इत्यभिधीयते।
भा० प्र०— द्वि० अधि० पृ० ३५, पं० २१।

४. क्रुत् कार्यं तेन सर्वत्र वक्ष्यतीत्यस्य निर्वहः।
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३५, पं० २०।

५. सर्वेन्द्रियपरिक्लेशः शोक इत्यभिधीयते।
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३५, पं० ७।

६. शुक्लेशः शोषणात्मैव शोच्यते शोचतीति वा।
भा० प्र — द्वि० अधि० पृ० ३५, पं० २२।

शोक को सर्वेन्द्रिय परिक्लेश रूप में ही सिद्ध किया गया है। शारदातनय ने सत्त्वादि भेद से शोक के तीन रूप बताये हैं अर्थात् सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के प्रभाव में शोक नामक स्थायीभाव की तीन स्थितियों का संकेत किया गया है। इस प्रकार करुण रस के स्थायीभाव की विवेचना यहाँ की गयी है।

शोक की विवेचना के बाद जुगुप्सा नानक स्थायीभाव का वर्णन किया गया है। इसे चित्त का ऐसा संकोच बताया गया है जो निन्दात्मक होता है[१]। जुगुप्सा की व्युत्पत्ति मूलक अवस्था का उल्लेख करते हुए शारदातनय ने उसे इस प्रकार व्युत्पन्न बताया है—(क) 'जुगुप्स्यते इति जुगुप्सा', (ख) 'जुगुप्स्येत इति जुगुप्सा', (ग) जुगुप्सापयति इति जुगुप्सा[२]। व्युत्पत्ति मूलक उपर्युक्त स्थिति का उल्लेख करते हुए शारदातनय ने जुगुप्सा को निन्दात्मक चित्त संकोच रूप सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार बीभत्स रस के स्थायीभाव का भी वर्णन उपस्थित किया गया है और इस (जुगुप्सा) के दो रूप बताये गये हैं।

भयानक नामक स्थायीभाव पर प्रकाश डालते हुए शारदातनय ने उसे चित्त का चलन मात्र कहा है और उसको अनेक रूपात्मक स्वीकार किया है, किन्तु उसके किसी रूप विशेष का वर्णन नहीं किया[3]। व्युत्पत्ति के अनुसार शारदातनय ने उसके दो रूपों का उल्लेख किया है—(क) 'बिभेति इति भयम्, (ख) भापयति यः (अन्यान् त्रासात्) इति वा भयम्[४]। इस प्रकार के व्युत्पत्ति मूलक रूप से भी भय को चित्त का चलन रूप ही सिद्ध किया है। प्रस्तुत प्रसंग में भयानक रस के स्थायीभाव का स्पष्ट वर्णन किया गया है।

शारदातनय ने नाटक कोटि को ध्यान में रखकर इसके अङ्गीभूत तत्त्वों का भाव रूप में निरूपण किया है। इनके विचार से शान्तरस की स्थिति नाटक की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है, क्योंकि उसमें सभी विकार समाप्त हो जाते हैं। अतः विकार शून्य होने से 'शम' स्थायीभाव को विभाव आदि का अपेक्षित संयोग प्राप्त नहीं हो पाता। फलतः प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता ने नाटक के लिये 'शम'

---

१. निन्दात्मा चित्तसङ्कोचो जुगुप्सेत्यभिधीयते।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३५, पं० ९।

२. जुगुप्स्यते जुगुप्स्येत जुगुप्सापयतीति वा।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३६, पं० ३।

३. भयं चित्तस्य चलनं तच्च प्राहुरनेकधा।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३५, पं० ११।

४. बिभेति भापयत्यन्यान् त्रासादिभयमुच्यते।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३६, पं० ४।

स्थायीभाव की सत्ता को अस्वीकार ही किया है[1]। अन्य काव्य रूपों में शारदातनय ने शान्तरस की स्थिति को स्वीकार किया है और उसके अस्थायी भाव 'शम' को भी माना है।

प्रत्येक स्थायीभाव में दृष्टि आदि की जो अवस्थाएं उत्पन्न होती हैं उनकी स्थिति भी वास्तव में स्थायीभाव के उद्दीप्त एवं जागृत होने पर ही अनुभवगम्य है। इसीलिये दृष्टि विषयक विवेचन का प्रसंग भी रस वर्णन के प्रसंग क्रम से उपस्थित करना समीचीन है। यहाँ शारदातनय की मान्यताओं के आधार पर उन सामान्य विशेषताओं का उल्लेख करना आवश्यक है जो रसात्मकता की दृष्टि से स्थायीभाव को विशेष महत्त्व प्रदान करती हैं।

उपसंहार

उपर्युक्त विवरण के अनुसार स्थायी-भावों की निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

१ **चिरस्थिरता**—शारदातनय ने स्थायीभाव को चित्त का चिर-स्थिर भाव बताया है[2]। वास्तव में स्थायीभाव के स्थायित्व का आधार भी यही है। चित्त में चिरकाल तक स्थित रहनेवाला भाव ही रस रूप में परिणत होता है। इसलिये रस के साथ इसका सम्बन्ध अभेदभाव मूलक है। जहाँ विभावादि का सहयोग प्राप्त नहीं होने पाता वहाँ भी चित्त में इस भाव की चिरस्थिरता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह दूसरी बात है कि इस दशा में स्थायीभाव को रसरूपत्व प्राप्त नहीं होता, किन्तु वहाँ भी यह भाव अपने मूलरूप में सदा पड़ा रहता है। इसी भाव को ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने प्रत्येक स्थायीभाव को चित्त का चिरस्थिर भाव कहा है।

२ **रसात्मकता की क्षमता**—सभी स्थायीभावों में ऐसी क्षमता रहती है जो विभावादि का सम्बन्ध प्राप्त होते ही उसे (स्थायीभाव को) रस रूपत्व प्रदान कर देती है, अर्थात् विभावादि के सम्बन्ध से स्थायीभाव अपने स्वाभाविक रूप में रसात्मकता प्राप्त कर लेते हैं[3]। इससे स्पष्ट है कि स्थायीभाव रसात्मक रूप

---

१. विलीनसर्वव्यापारः शमः स्थायी भवेद् यतः।
अतोऽनुभावराहित्यान्न नाट्येऽभिनयो भवेत्॥
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० २६ पं० ६–७।

२. अवस्थिताश्चिरं चित्ते।
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ४ पं० ६।

३. वर्धिता ये रसात्मानः ते स्मृताः स्थायिनो बुधैः।
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ४ पं० ७।

ग्रहण करने में सक्षम होते हैं। इतना अवश्य है कि रसात्मक रूप ग्रहण करने के लिये इन्हें विभावादि के सम्पर्क की आवश्यकता रहती है। वस्तुतः इस विषय में विचारणीय बात केवल यह है कि विभावादि अनुबन्धियों से सम्बन्ध जुटने पर भी स्थायीभाव में यदि रसात्मक परिणति की क्षमता न होगी तो उन्हें रस रूपत्व प्राप्त न हो सकेगा। इसलिये रसात्मकता की स्वाभाविक क्षमता को स्थायीभाव की सामान्म विशेषता के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

३. आस्वादनीयता

इस तरह स्थायीभावों में आस्वादनीयता के मूल आधार को स्वीकार किया गया है। यह स्वरूप विभावादिकों के सम्पर्क में आस्वाद्यमान होकर स्थायीभाव को रस रूपत्व प्रदान करता है[1]। अतः अस्वाद्यत्व को स्थायीभाव के लिये आवश्यक गुण कहा जा सकता है। आचार्य भरत ने रस को चर्व्यमात्र अर्थात् आस्वादित होने योग्य बताया है। रुद्रट ने भी 'रसन' अर्थात् आस्वादन को ही रस का मूल कारण कहा है। इस आस्वादन में सहृदय सामाजिक स्थायी भावों का ही आस्वाद लेते हुए आनन्द प्राप्त करते हैं। अभिनव गुप्त द्वारा स्थायीभाव की चर्वणता की विलक्षणता का मम्मट ने इस प्रकार वर्णन किया है कि 'इसका आस्वाद 'प्रापानक' रस की तरह होता है। ऐसा जान पड़ता है कि मानो सामने ही रस प्रस्फुटित हो रहा है, हृदय के भीतर पैठा जा रहा है और शरीर के सभी अंगों में सम्मिलित सा हो रहा है। ऐसी स्थिति ही वस्तुतः अन्य सभी विषयों से विमुख कर ब्रह्मानन्द के सदृश अलौकिक चमत्कार की जनक होती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र के आचार्यों ने स्थायीभावों की आस्वादनीयता पर विशेष बल दिया है। रति, हास, शोक आदि सभी स्थायीभाव व्यवहारिक जीवन में भी अपनी अतिशयतापूर्ण उद्रेक की दशा में मनुष्य को आत्म-विभोर करते हुए पाये जाते हैं। मनुष्य के हृदय में यों तो असंख्य भाव तरङ्गित होते हैं, किन्तु उनमें स्थायीभाव केवल वे ही माने जाते हैं जो मानव चेतना में पूरी सान्द्रता के साथ व्याप्त होकर मनुष्य को आत्मविस्मृत सा

---

१. उद्दीपिता विभावैस्स्वैरनुभावैश्च पोषिताः।
भावैश्च सात्त्विकैर्योग्यसंसर्गैर्व्यभिचारिभिः॥
चित्रिताः स्थायिनो भावा रसोपादानभूमयः।
यदा तदैषामास्वाद्यमानरूपं यदुन्मिषत्॥
मनोभिः प्रेक्षकाणां तदुदेष्यति रसात्मना॥

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३९ पं० ८-१२।

कर देते हैं। स्थायीभाव के इस प्रभाव को ही रसनीयता तथा अनुरञ्जकता कहा जाता है।

४. व्यापकता

स्थायीभाव अपने आप में अत्यन्त सशक्त होते हैं। उनका मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। सशक्तता के इस व्यापक प्रभाव के कारण ही वे विरोधी तथा अविरोधी, सजातीय एवं विजातीय-भावों के प्रभाव से तिरोभूत एवं तिरस्कृत नहीं होने पाते। ये सभी परिस्थितियों में अस्तित्व की रक्षा करने में सक्षम होने के साथ ही साथ अन्य आनुषङ्गिक भावों तथा तत्त्वों की प्रतीति को अपनी व्यापकता में विलीन कर लेते हैं। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी तथा सात्त्विकों के सम्पर्क में स्थायीभावों की व्यापक शक्ति के प्रभाव से ही उन्हें रसात्मकता की स्थिति प्राप्त हो पाती है। व्यभिचारिभावों की चर्चा के प्रसंग में शारदातनय ने स्थायीभाव को अगाध सागर के समान बताते हुए व्यभिचारिभावों को स्थायीभाव रूपी विविध तरङ्गों के रूप में प्रस्तुत किया है। जैसे जलधि की तरङ्गें अपने गर्जन-तर्जन एवं उत्थान-पतन के बाद भी अन्त में उसी सागर के नीर में विलीन होकर तदरूपता ग्रहण करती हैं उसी तरह व्यभिचारिभाव भी स्थायीभावों में विलीन होते रहते हैं।

शारदातनय का उपर्युक्त विवेचन वास्तव में स्थायीभाव की व्यापक क्षमता को ही व्यक्त करता है। यह निर्विवाद है कि स्थायीभाव की व्यापक शक्ति के प्रभाव से ही रसात्मकबोध की स्थिति उत्पन्न हो पाती है। विभावादि आनुसङ्गिक भावों के प्रभाव की तो अपनी अपनी सीमाएँ निर्धारित हैं। प्रत्येक के प्रभाव का स्वरूप केवल स्थायीभाव के उद्‌बोधन, उद्दीपन, अभिव्यञ्जन तथा परिपोषण तक ही सीमित है, किन्तु स्थायीभाव की व्यापक शक्ति इन समस्त तत्त्वों को आत्मसात् करनेवाली है, क्योंकि जिस रूप में जब भी इसे आनुषङ्गिक भाव का सम्पर्क प्राप्त होगा तभी उस रूप में ही वह उसे अपनी रसात्मकता की वृद्धि के साथ ही साथ आत्मसात् करती जायगी। स्थायीभाव से रस तक भाव के प्रवाह की जो अविच्छिन्न स्रोतस्विनी

---

१. विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥
उन्मज्जन्तो निमज्जन्तः कल्लोलाश्च यथार्णवे।
तस्योत्कर्षं वितन्वन्ति यान्ति तद्रूपतामपि ॥
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्तथैव व्यभिचारिणः।
पुष्यन्ति स्थायिनं स्वांश्च तत्र यान्ति रसात्मताम् ॥
भा० प्र० प्र० अधि० पृ० २५ पं० १९ से पृ० २६ पं० २ तक।

प्रवाहित होती है वह स्थायीभाव की व्यापकता को ही सूचित करती है। इसीलिये इस क्षमता परक व्यापकता को स्थायीभाव की सामान्य विशेषता के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

(घ) व्यभिचारीभाव-प्रकरण

उपस्थापन

भाव वर्णन के प्रसंग में शारदातनय ने चतुर्थभाव भेद के रूप में व्यभिचारी-भावों का वर्णन किया है। अपनी परम्परागत विवेचन शैली के अनुसार आलोच्य ग्रन्थकार ने यहाँ सर्व प्रथम व्यभिचारीभाव का सामान्य परिचय उपस्थित किया है। तदुपरान्त उसके विविध भेदोपभेदों, सामान्य स्थितियों एवं रसविषयक प्रवृत्तियों का एक-एक करके विवेचन किया है। शारदातनय की शैली का अनुसरण करते हुए सर्व-प्रथम यहाँ व्यभिचारीभावों का निरूपण करना युक्ति संगत है।

विद्वान् आचार्य ने व्यभिचारीभावों की चर्चा करते हुए उन्हें अनवस्थित जन्मवाले ऐसे भाव कहा है जो रस निष्पत्ति में स्वभाव से ही बार-बार स्थायीभावों के साथ-साथ संचरण करते हैं[1]। व्यभिचारियों को अनवस्थित जन्मवाला कहकर ग्रन्थकार ने उनकी उत्पत्ति विषयक अस्थिरता को व्यक्त किया है और रसनिष्पत्ति के समय उन्हें सदा स्थायीभावों का संचरण शील सहयोगी बताया है। आपके विचार से भाव, रसानुभूति में स्थायीभाव को सहयोग देनेवाले अस्थिर भाव हैं जो परिस्थिति विशेष के अनुसार उत्पन्न एवं विलीन होते रहते हैं। यद्यपि इन भावों की स्थिति सर्वथा अस्थिर ही रहती है तथापि रसनिष्पत्ति के समय स्थायीभावों का सम्पोषण इनके द्वारा किया जाता है जो बड़ा ही उपयोगी है। व्यभिचारीभावों की इस स्थिति को परम्परागत रूप में भी स्वीकार किया जाता है।

व्यभिचारीभाव-निरुक्ति

यहाँ शारदातनय ने व्यभिचारी रूप में गृहीत होनेवाले प्रत्येक व्यभिचारी-भाव का पृथक्-पृथक् निरूपण किया है। आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में व्यभिचारीभाव की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि 'वि' तथा 'अभि' उपसर्ग के योग से 'चर्' धातु से इस शब्द का निर्माण होता है। इस व्युत्पत्ति मूलक आधार के अनुसार भी इस शब्द का अर्थ यह निकलता है कि ये भाव रस के सम्बन्ध में अन्य वस्तुओं की ओर संचरण करते हैं। इसी आधार पर धनञ्जय ने व्यभिचारी-

१. अनवस्थितजन्मानो भूयो भूयः स्वभावतः।
स्थायिना रसनिष्पत्तौ चरन्तो व्यभिचारिणः॥
भा० प्र०—प्र० अधि पृ० ४ पं० ८–९।

भावों की परिभाषा उपस्थित करते हुए कहा है कि ये भाव विशेष रूप से स्थायी-भाव की पुष्टि के लिये अभिमुख रहते हैं और स्थायीभाव में ही आविर्भूत तथा तिरोभूत होते हुए दिखायी देते हैं। अपने इस मन्तव्य को स्पष्ट करने के हेतु समुद्र तथा तरङ्ग का सादृश्य उपस्थित किया है और बताया है कि स्थायीभावों में ये व्यभिचारिभाव उसी तरह उत्पन्न और विलीन होते हैं जैसे सागर में तरल तरङ्गें।

हमारे आलोच्य ग्रन्थकार ने भी स्थायीभावों के साथ व्यभिचारीभावों का सम्पर्क निरूपण करते समय उपर्युक्त धनञ्जय के मत का ही अनुसरण किया है। जैसाकि पहले स्थायीभाव निरूपण प्रसंग में कहा गया है कि शारदातनय ने भी व्यभिचारिभावों को स्थायीभाव रूपी सागर में उन्मग्न तथा निमग्न होने वाली तरङ्गों के रूप में मान्यता दी है। वस्तुतः लहरों का उत्थान और पतन सागर के सागरत्व को पुष्ट करता है और व्यभिचारीभावों का संचरण भी स्थायीभाव की सम्पुष्टि में सहायक सिद्ध होता है। इन व्यभिचारीभावों के बहुरूपत्व के कारण ही साहित्यिक अन्य परम्परा के समान हमारे आचार्य शारदातनय ने इनकी संख्या तैंतीस बतायी है, जो इस प्रकार है[1]—

व्यभिचारीभावों की संख्या तथा उनका परिचय

१. निर्वेद, २. ग्लानि, ३. शंका, ४. असूया, ५. मद, ६. श्रम, ७. आलस्य, ८. दैन्य, ९. चिन्ता, १०. क्रीड़ा, ११. मोह, १२. स्मृति, १३. धृति, १४. हर्ष, १५. चपलता, १६. आवेग, १७. जड़ता, १८. औत्सुक्य, १९. विषादिता, २०. गर्व, २१. अवमर्ष, २२. अवहित्था, २३. मति, २४. निद्रा, २५. अपस्मृति, २६. सुप्ति, २७. प्रबोध, २८. उग्रता, २९. व्याधि, ३०. मरण, ३१. त्रास, ३२. उन्माद, ३३. वितर्क।

निर्वेद

शारदातनय ने निर्वेद के दो कारण बताये हैं जिनको (क) ईर्ष्यातत्त्व और (ख) अवबोध (ज्ञान) कहा जाता है[2]। निर्वेद का शाब्दिक अर्थ अपने प्रचलित रूप में सांसारिक विषयों के प्रति विरक्ति का भाव प्रकट करता है। यह चित्त की एक अभावात्मक वृत्ति मानी गयी है। जगत् के भौतिक आनन्दों की ओर से मन को मोड़ देती है। आचार्य मम्मट आदि विद्वानों ने निर्वेद को शान्तरस का स्थायीभाव मानते हुए यह स्वीकार किया है कि निर्वेद ईश्वरोन्मुख करने वाली वृत्ति है, किन्तु

१. निर्वेदः प्रथमं·········विज्ञेया व्यभिचारिणः।
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १५, पं० ८-१३।

२. ईर्ष्यातत्त्वावबोधाभ्यां निर्वेदो नाम उच्यते।
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १५, पं० १५।

भरत आदि आचार्यों ने निर्वेद से सम्पुष्ट होने वाले शान्तरस को ही अनुपयुक्त समझकर उसके स्थायीभाव निर्वेद को स्थायीभाव की कोटि में नहीं गिना। यही कारण है कि भरत मतानुयायी शारदातनय ने भी निर्वेद को स्थायीभावों में न रखकर व्यभिचारीभावों की गणना में रखा है। वस्तुतः अपनी ईर्ष्या जनित स्थिति में निर्वेद व्यभिचारी ही है।

निर्वेद के प्रभाव की चर्चा करते हुए शारदातनय ने अन्य व्यभिचारीभावों की तरह इसके अनुभावों का भी उल्लेख किया है जो इस प्रकार है—१. अन्तर्वाष्पोद्गम, २. ध्यान, ३. पुनः पुनः निःश्वास की स्थिति, ४. आत्मापमान का बोध, ५. दैन्य, ६. गद्गदत्त्व, ७. विवर्णता[1]। हमारे आलोच्य ग्रन्थकार ने कहा है कि स्त्री तथा नीच पात्रों में निर्वेद का बोध रुदित तथा श्वसित व्यवस्थाओं के माध्यम से होता है। योगियों में तत्त्वावबोध जो होता है उसे नाट्य के लिये शारदातनय ने अनुपयोगी कहा है[2]। इससे स्पष्ट है कि यहाँ नीचादि पात्रों के रुदन और दीर्घ निःश्वास आदि से उत्पन्न निर्वेद ही नाट्य शास्त्रियों को मान्य है। यही कारण है कि शारदातनय ने शान्तरस को नाट्य के विषय में मान्यता प्रदान नहीं की, क्योंकि निर्वेद तो स्त्री और नीचादि पात्रों के कार्य-कलाप में ही उपलब्ध होने वाला तत्त्व है। निर्वेद के निर्वाह की चर्चा करते हुए शारदातनय ने चित्त के निर्गमन से चित्त में उत्पन्न होने वाली शून्यता के रूप को निर्वेद कहा है[3]। वस्तुतः यही शून्यावस्था निर्वेद के अनुभूति की परिचायिका है।

ग्लानि

ग्लानि नामक दूसरे व्यभिचारीभाव की चर्चा करते हुए शारदातनय ने इसे वाचिक, मानसिक तथा शारीरिक कार्यों में विषादमय स्थिति उत्पन्न करनेवाला बताया है[4]। प्रस्तुत विवेचन में विद्वान् आचार्य की 'ग्लै' धातु की अर्थ प्रकृति की

---

१. अन्तर्वाष्पोद्गमध्याननिश्वासाश्च मुहुर्मुहुः।
स्वात्मानमाननं दैन्यं गद्गदत्वं विवर्णता॥
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १५, पं० १६-१७।

२. स्त्रीनीचादिषु वर्ण्यो यं रुदितश्वसितादिभिः।
तत्त्वावबोधजो योगिष्वनुपादेयता व्रजेत्॥
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १५, पं० १९-२०।

३. निर्वेदः शून्यचित्तत्वं वेदोवित्तविनिर्गमात्।
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० २८, पं० २।

४. वाङ्मनः कायकर्माणि ग्लानिर्ग्लपयतीति यत्।
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० २८, पं० ३।

ओर रही है। वचन, मन तथा शरीर के जो भी कार्य ज्ञात होते हैं उन्हें हर्षभाव की स्थिति इसी ग्लानि नामक व्यभिचारीभाव के प्रभाव से ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार शारदातनय ने 'ग्लानि' के प्रभाव मूलक स्वरूप की चर्चा में इस पद की व्युत्पत्ति मूलक अवस्था का ही सन्निवेश किया है। इस व्यभिचारीभाव के कारणों पर प्रकाश डालते हुए अनेक ऐसे तथ्यों का यहाँ उल्लेख किया है जो इस भाव को जागृत करते हैं। मुख्य कारण इस प्रकार हैं—विरेचन, वमन, अतिजागरण, मार्ग की थकावट, उपवास, क्षुधा, पिपासा आदिकों से मनस्ताप उत्पन्न होता है वह ग्लानि के ही स्वरूप को व्यक्त करता है[1]। प्रस्तुत सन्दर्भ में ग्लानि के स्वरूप का निरूपण करने के उपरान्त शारदाननय ने ग्लानि के प्रभाव से उत्पन्न होनेवाले प्रतिक्रिया मूलक अनुभावों का भी उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं—कम्प, अनुत्साह, विवर्णता, स्वेद, मन्दगति, क्षीणवाक्य, अक्षिसंचार, शारीरिक कृशता तथा उच्छ्वास आदि ग्लानिज अनुभाव[2]। प्रस्तुत विवेचन में शारदातनय ने आचार्य भरत के अनुसार (वमन, रेचन, रोग, अनाहार, मानसिक चिन्ता, मदपान, प्यास एवं निद्रा आदि से) ग्लानि उत्पन्न होती है। इसके अनुभाव निर्बल वाणी, कान्तिहीन दृष्टि, पीला चेहरा, मन्दगति तथा निर्बलता आदि हैं। आचार्य भरत के विवेचनों को ध्यान में रखते हुए यदि शारदातनय की मान्यताओं पर विचार करें तो प्रतीत होगा कि दोनों की मान्यताओं में बहुत अधिक साम्य है। जहाँ कहीं शाब्दिक अन्तर भी है तो वहाँ भी वैषम्य की अवस्था नगण्य ही है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि हमारे आलोच्य ग्रन्थकार ने इस भाव के सम्बन्ध में भरत का ही अनुसरण किया है।

शंका

ग्लानि के वर्णन के पश्चात् प्रसंगानुसार 'शंका' नामक व्यभिचारीभाव की चर्चा की गयी है। शारदातनय ने शंका को चौर्यादि पापकर्म मूलक अपराधों से उत्पन्न होने वाली अनुभूति के रूप में ग्रहण किया है। इन्होंने शंका को सन्देहरूपा बताते हुए उसे स्त्री तथा नीचादि पात्रों की प्रकृति पर आश्रित माना[3] है। इस सम्बन्ध में

---

१. ग्लानिर्विरेकवमनजागरातिरताध्वभिः।
उपवासमनस्तापक्षुत्पिपासादिभिर्भवेत् ॥
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १५, पं० २१-२२।

२. कम्पानुत्साहवैवर्ण्यस्वेदमन्दपदक्रमैः।
क्षामवाक्याक्षिसञ्चारकार्श्याङ्गश्वसनादिभिः ॥
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १५, पं० २३-२४।

३. चौर्यादिग्रहपापादि कर्मक्ष्मापापराधजा।
शङ्का सन्देहरूपास्यात् स्त्रीनीचप्रकृतिश्रिता ॥
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १६ पं० २-३।

हमारे विद्वान् आचार्य ने शंका के दो रूप बताये हैं—(क) स्वात्मोत्था, (ख) परोत्था[1]। शंका के व्युत्पत्ति मूलक आधार को दृष्टि में रखते हुए शारदातनय ने उसका (व्युत्पत्तिमूलक अर्थ का) लोक प्रचलित अर्थ के साथ समन्वय भी दिखाया है। इस प्रसंग में आपने शंका को 'शम्' अर्थात् सुख को कुत्सित करने वाली अनुभूति कहा है[2]। इस शंका नामक व्यभिचारीभाव के अनुभावों का उल्लेख करते हुए शारदातनय ने इनके ये भेद बताये हैं—स्वरभेद, अश्रु, विवर्णता, आस्यशोष, अवकुण्ठन, पार्श्वावलोकन, जिह्वालेहन, ऊरुकम्प एवं आकारसंवृत्ति[3]। इन अनुभावों की स्थितियाँ, शंका की प्रकृति एवं उसकी आधारमूलक अवस्था के अनुसार पृथक् पृथक् रूपों में प्रकट होती रहती है। आत्मोत्थ शंका में दृष्टि से दैन्य भाव झलकता है और परोत्था को अंग चेष्टाओं से अभिव्यक्त होने वाला तत्त्व माना गया है[4]।

शंका के निर्वचन क्रम में भी शारदातनय ने आचार्य भरत का ही अनुसरण किया है। भरत ने शंका के कारणों का उल्लेख करते हुए चोरी तथा राजा के प्रति अपराध आदि का उल्लेख किया है और उसके अनुभावों में एकटक देखना, शंकित होकर चलना, मुख का रंग बदलना, कम्पन, स्वरभंग तथा ओष्ठलेहन आदि की चर्चा की है। यदि आचार्य भरत और शारदातनय की विवेचन सरणियों पर सापेक्ष दृष्टि रखकर विचार किया जाये तो दोनों में यहाँ पूर्णरूपेण समानता दिखलायी देती है।

असूया

असूया नामक व्यभिचारीभाव की चर्चा करते हुए शारदातनय ने उसे दूसरे के सौभाग्य, ऐश्वर्य, मेधा, लीला आदि को देखने से दूर के अपराध के अन्वेषण के सहारे उत्पन्न होने वाला भाव बताया है। व्युत्पत्ति मूलक विवेचन क्रम द्वारा

---

१. स्वात्मोत्था न परोत्थेति सा पुनर्द्विविधा भवेत्।

भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १६ पं० ४।

२. शं सुखं कुत्सयति या सा शङ्केत्यभिधीयते।

भा० प्र०—द्वि० अधि पृ० २८ पं० ७।

३. स्वरभेदोऽश्रुवैवर्ण्यमास्यशोषोऽवकुण्ठनम्।
पार्श्वावलोकनं जिह्वालेहनं चोरुकम्पनम्।
आकारसंवृतिरिति भावाः शङ्कानुभावकाः॥

भा० प्र —प्र० अधि० पृ० १६ पं० ५-७।

४. आत्मोत्था तु परिज्ञेया दीनदृष्टिविलोकनैः।
परोत्था त्वङ्गचेष्टाभिर्विज्ञेया भावकोविदैः॥

भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १६ पं० ८-९।

'असु' तथा अस् धातु के संयोग का उल्लेख करते हुए शारदातनय ने असूया की उत्पत्ति के विषय में उपस्थापित अपनी मान्यता का ही समर्थन किया है। असूया के अनुभावों का वर्णन करते हुए शारदातनय ने कुछ अनुभावों की चर्चा की है, जो इस प्रकार हैं—दोषप्रख्यापन, अधोमुखता, भ्रुकुटिविकृति, दृष्टि का न मिलाना, ईर्ष्यावशमुखविकृति तथा अवज्ञा।

आचार्य भरत ने भी असूया पर विचार करते हुए उसे औद्धत्यवश दूसरे की गुणवृद्धि को सहन न करने वाली अनुभूति बताया है। व्यभिचारीभावों के अन्य स्थलों की तरह यहाँ भी शारदातनय की मान्यताएँ भरत की मान्यताओं के साथ साम्य रखती हैं।

मद

मद नामक व्यभिचारीभाव की चर्चा करते हुए उसे मदपान, ऐश्वर्य, विद्या तथा उत्तम स्त्री के परिष्वंग से उत्पन्न होने वाला भाव कहा गया है[1]। इस प्रसंग में विद्वान् आचार्य ने मद के उपयोग से उत्पन्न इसके तीन रूप बताये हैं—१. तरुण, २. मध्यम, ३. अपकृष्ट और इस मद के पाँच करणों का भी उल्लेख किया है। साथ ही साथ ज्येष्ठा, मध्या तथा कनिष्ठा नामक उसकी तीन प्रकृतियों का भी वर्णन किया है। वाक्य का दूसरे रूप में आरम्भ करके उसे दूसरे ही रूप में बोल जाना, किसी एक पर ही दृष्टि गड़ाये रहना, भुजाओं के सहारे होना, कदम आगे बढ़ाते हुए भी उन्हें इधर-उधर विक्षिप्त करना, स्वेद बिन्दुओं का निकलना, हर्ष से मुख खिलना, अस्पष्ट बोलना आदि विशेषताओं का उल्लेख तरुण नामक मद में किया गया है।

मध्यम मद की चर्चा करते हुए शारदातनय ने भुजाओं में शैथिल्य, शून्य की ओर दृष्टि, वार्तालाप में अस्पष्टता, पग-पग में विस्मृति, आकाश को लक्ष्य करके बातें करना आदि को मध्यम मद का सूचक कहा है। इसी तरह अपकृष्ट मद के लक्षण भी बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं—न पहचानना, चलने में असामर्थ्य व्यक्त करना, पग-पग पर स्खलित होना, थूकना, उच्छ्वास लेना, हिचकना, गले से भारी आवाज का निकलना, स्मृति नष्ट होना एवं बोलने में लड़खड़ाना। इनमें कुछ लोग सोते हैं, कुछ गाते हैं कुछ हँसते हैं, कुछ रोते और कटु बोलते हैं। उत्तम प्रकृति वाले सोते हैं, मध्य प्रकृति वाले नाचते और गाते हैं तथा अधम प्रकृति वाले रोते और हँसते हैं। इस

---

१. मद्योपयोगादैश्वर्याद् विद्यया चापि जन्मतः।
उत्तमस्त्रीपरिष्वङ्गान्मदः सम्पद्यते नृणाम् ॥

भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १६ पं० ९/–१२।

प्रकार तीन प्रकृतियों के अनुरूप तीन तरह की प्रतिक्रियाओं का उल्लेख शारदातनय ने किया है[1]।

विद्यादि जनित (विद्यामद, अभिजात्यमद, सम्पत्तिमद) मदों में बिना उत्तर सुने ही बोलते जाना, उपेक्षापूर्ण वाक्य का प्रयोग करना, मित्रों का भी अनादर करना आदि कार्य व्यापार विकार रूप में देखे जाते हैं। उत्तम स्त्री रति मद में आँखों से हर्ष तथा प्रेम प्रकट होता है, शरीर में सौरभ्य तथा अंगों में सौन्दर्य और अहंकार पूर्ण बुद्धि तथा दूसरों के अनादर भाव को विकार रूप में विद्वानों ने स्वीकार किया है। मदिरा विषयक तरुण मद में पुतलियों द्वारा घूरने का भाव एवं नेत्र कोण में क्षीणता तथा आँखें फाड़कर देखने की प्रवृत्ति पायी जाती है। मध्यम मद में दोनों ओष्ठ आकुञ्चित रहते हैं और पुतलियाँ चंचल एवं भौंहें नाचने सी लगती हैं। अधम मद में पलकों का निमेषोन्मेष, पुतलियों का रह-रहकर व्यक्त होना तथा दृष्टि नीचे करना आदि विकार पाये जाते हैं।

इस प्रकार शारदातनय ने मद नामक व्यभिचारीभाव के स्वरूप, उसके भेदोपभेद तथा मदोत्पत्ति के कारणों एवं उनसे प्रकट होने वाले विकारों का विस्तृत विवेचन किया है। विद्वान् आचार्य ने अपने उपर्युक्त विवेचन का समर्थन करते हुए मद शब्द की व्युत्पत्ति पर भी विचार व्यक्त किया है। इस विवेचन के अनुसार 'म'[2] का अर्थ मति तथा मान तथा 'द' का अर्थ दान या खण्डन किया गया है, अर्थात् शारदातनय ने मद शब्द विषयक व्युत्पत्ति मूलक स्थिति के आधार पर भी अपनी पूर्व मान्यताओं की सम्पुष्टि की है। विवेचन के दोनों ही क्रमों में पूर्ण साम्य है।

श्रम

श्रम नामक व्यभिचारीभाव का विवेचन करते समय शारदातनय ने व्युत्पत्ति के ही आधार पर उसका सामान्य परिचय दिया है। आपके कथनानुसार जो भाव अंगों का हनन करे उसे श्रम कहते हैं[3]। विद्वान् विचारक ने श्रम के कारणों पर विधिवत् प्रकाश डाला है और उसे व्यायाम, नृत्त, मार्ग गमन एवं मैथुनादि के सेवन से उत्पन्न बताया है। इस सन्दर्भ में शारदातनय ने श्रम नामक व्यभिचारीभाव के

---

१. उत्तमप्रकृतिः शेते नृत्यन् गायति मध्यमः।
अधमो रोदिति हसत्येवं प्रकृतिजा गुणाः॥

भा० प्र —प्र० अधि० पृ० १७, पं० १५–१६।

२. मशब्दार्थो मतिर्मानस्तद्दानात्खण्डनान्मदः।

भा० प्र० -द्वि० अधि० पृ० २८ पं० ९।

३. शृणाति हन्ति योऽङ्गानि स श्रमः परिकीर्तितः॥

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० २८ पं० ८।

असमर्थता के कारण अपनी प्रतिज्ञा का जो परित्याग करना पड़ता है उसी को व्रीड़ा की उत्पत्ति का कारण बताया है। वास्तव में प्रतिज्ञा का निर्वाह केवल वही कर सकता है जिसे कार्य तथा अकार्य का समुचित ज्ञान हो। कार्य सिद्धि के साधनों को वह अच्छी तरह से जानता हो और बड़ों के आदेश का पालन करने में सचेष्ट हो। ऐसा न होने पर प्रतिज्ञा कभी पूरी नहीं होती। शारदातनय के अनुसार जहाँ प्रतिज्ञा पूरी नहीं हो पाती, वहीं व्रीड़ा के अनुभावों की भी चर्चा होती है। इनके अनुसार व्रीड़ा की अवस्था में चिन्ताशील होकर भूमि खोदने की प्रवृत्ति जागृत होती है, शिर नीचे झुक जाता है मुख से स्पष्ट शब्द नहीं निकलता, नख से नख काटने की प्रवृत्ति होती है, तथा अंगूठी स्पर्श करते रहना, दूसरे से मुख ढक लेना, कहीं बाहर न निकलना एवं सर्वत्र अस्थिर बना रहना आदि कार्यव्यापार व्रीड़ा को सूचित करते हैं। व्रीड़ा पद की व्युत्पत्तिगर्भ मूलक व्याख्या को प्रस्तुत करते समय उसे चित्त को संकुचित करने वाला भाव कहा गया है[1]। इस व्युत्पत्ति पद की व्याख्या के आधार पर भी विद्वान् आचार्य ने व्रीड़ा विषयक अपनी उपर्युक्त मान्यताओं का ही समर्थन किया है। वस्तुतः चित्त का संकोच एक ऐसा व्यापक भाव है जिसमें उपर्युक्त सम्पूर्ण मान्यताएँ समाविष्ट हो जाती हैं।

मोह

मोह की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या करते हुए शारदातनय ने उसे चित्त की ऐसी शून्यता स्वीकार किया है जिसके प्रभाव से मन मोहग्रसित हो जाता है[2]। मोह के कारण रूप में पूर्व वैर की स्मृति, मद, दैवोपघात, मात्सर्य, भय, प्रहार, आवेग तथा उसके प्रतीकार के अभाव आदि का उल्लेख किया गया है। मोह के अनुभावों की चर्चा करते हुए आपने निश्चेष्टता-प्रधान-विवर्णता, देह घूरन, समस्त इन्द्रियों का मोहग्रस्त होना, निःश्वास तथा नष्टसंज्ञता आदि को मोह सूचक भाव की संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार व्युत्पत्ति के आधार पर मोह का परिचयात्मक विवरण उपस्थित करते हुए शारदातनय ने मोह की उत्पत्ति के कारणों तथा उसको सूचित करनेवाले अनुभावों का भी विवेचन किया है।

स्मृति

स्मृति नामक व्यभिचारीभाव की चर्चा करते हुए शारदातनय का कथन है कि देश-काल के उपयुक्त सुख-दुःख आदि के सहयोगी किन्तु बहुत दिनों से भूले हुए जो

१. वृणोति चित्तं लातीवि व्रीडेति परिभाष्यते।

भा० प्र०—द्वि अधि०, पृ० २८, पं० १२।

२. मोहश्चित्तस्य शून्यत्वं मनो येनैव मुह्यति।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३१ पं० १०।

विषय हैं उनका स्मरण करना ही स्मृति है[1]। इसी प्रकार संस्कार से युक्त सत्त्वस्थ बुद्धि को ही स्मृति के रूप में यहाँ स्वीकार किया गया है। विचार करने पर स्मृति की कतिपय विशेषताएँ कही जा सकती हैं—(क) यह बहुत दिनों से भूली हुई वस्तु के स्मरण रूप में जागृत होती है। (ख) स्मरण की जानेवाली वस्तु ऐसी होती है जो सुख और दुःख परक अनुभूति के उद्‌बुध करने में सहयोग देती है। सुख-दुःखादिक अनुभूतियों के उद्बोधन की क्षमता देश-काल आदि की परिस्थितियों पर निर्भर है। स्मृति के जागरण के आधारभूत कारणों की चर्चा भी आलोच्य ग्रन्थकार ने इस प्रसंग में की है। दौरस्थ्य, रात्रि के अन्तिम पहर में निद्राक्षय, चिन्तनीय विषय का बार-बार अभ्यास, समानवस्तु के स्मरण या दर्शन से स्मृति जागृत होती है। स्मृति के अनुभावों का भी यहाँ वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है—सिर का उद्वाहन, सदृश वस्तु का अवलोकन, हर्ष एवं शिरःकम्पन। व्युत्पत्तिमूलक विवेचन के अनुसार भी स्मृति विषयक उपर्युक्त मान्यताओं की सम्पुष्टि की है और 'स्मरति, स्मर्यते तथा स्मारयति' रूप में ग्रहण करते हुए किसी दूसरे काल तथा स्थान से सम्बद्ध विषय को दूसरे काल तथा स्थान का रूप स्वीकार किया है[2]।

धृति

धृति नामक व्यभिचारीभाव का परिचयात्मक वर्णन करते हुए शारदातनय ने उसे शोक तथा हर्ष दोनों में एकरूप रखने वाली अनुभूति बताया है। धृति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए हमारे विद्वान् आचार्य का कथन यह है कि यह (धृति) शौर्य, विज्ञान, शुद्धाचरण, गुरु-भक्ति, शास्त्र-ज्ञान तथा व्रीडा आदि के प्रभाव से उत्पन्न होती है और विभिन्न विषयों की प्राप्ति के बीच परिलक्षित होती है। कृति के अनुभाव रूप में बताया गया है कि प्रिय तथा अप्रिय प्रसंगों में अविकृत रहना, स्थिति के अनुसार उचित व्यवहार करना, अप्राप्त तथा अतीत एवं नष्ट की चिन्ता न करना आदिक धृति के प्रभाव को सूचित करते हैं।

---

१. देशकालोपयुक्तानां सुखदुःखानुषङ्गिणाम्।
चिरविस्मृतवस्तूनां स्मरणं स्मृतिरुच्यते।
भा० प्र०—प्र० अधि०, पृ० १९ पं० १५-१६।
स्मरति स्मर्यते स्मारयतीत्यस्यास्तु निर्वहः॥
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३१ पं० ३।

२. या शोकहर्षयोरेकरूपा सैव धृतिर्भवेत्।
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० २९ पं० २।

३. यदिन्द्रियाणि हृष्यन्ति हर्षयन्ति परानपि।
तस्माद्धर्ष इति ज्ञेयः प्रसादो मनसः स हि॥
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३० पं० २१-२२।

हर्ष

शारदातनय ने हर्ष को मन की प्रसन्नता के रूप में ग्रहण किया है और हर्ष की उत्पत्ति के विविध कारणों का उल्लेख किया है। प्रस्तुत प्रसंग में हर्ष पद की व्युत्पत्ति की व्याख्या करते हुए आपका कथन है कि जिस भाव से इन्द्रियाँ प्रसन्न हों तथा दूसरों को भी प्रसन्न करें वहाँ हर्ष नामक भाव होता है। इसे चित्त की प्रसन्नता का रूप जानना चाहिए। हर्ष की उत्पत्ति के कारण रूप में इष्ट का संगम, देव, गुरु, स्वामी का प्रसन्न रहना, अभीष्ट का उपभोग, बन्धु की प्राप्ति सुखद भोजन, अविचारित अभीछार्थ की उपलब्धि आदि स्वीकार किये गये हैं। इस प्रसंग में हर्ष के अनुभावों की भी चर्चा की गयी है जो इस प्रकार है—रोमांच होना, आलिंगन जनित स्वेद प्रकट करना, ललित विधि से करतलध्वनि करना, नेत्र और मुख से प्रसन्नता का बोध कराना, मधुर सम्भाषण और त्याग एवं दान की व्यवस्था आदि।

चापल

चापल नामक व्यभिचारी भाव का परिचयात्मक विवरण उपस्थित करते हुए शारदातनय, अयोग्य तथा अपदार्थ में दूषित स्पृहा को चापल बताते हुए आपद जनक विषय की दशा में मन के पलायन को चापल कहते हैं[1]। इस व्यभिचारी भाव की उत्पत्ति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए आपका कथन है कि ईर्ष्या, मत्सर, द्वेष तथा राग जैसे प्रतिकूल भावों से ही चापल नामक व्यभिचारी भाव को उत्पत्ति होती है। इसके अनुभाव बताये गये हैं—अविचारित ताड़न, बन्धन, भर्त्सना, दण्डकी कठोरता, अपमान करने की प्रवृत्ति आदि व्यवहार चापल भाव को सूचित करते हैं।

आवेग

आवेग की चर्चा करते हुए शारदातनय ने इसे अनुपयुक्त स्थान एवं काल में प्रकट होनेवाले वेग का रूप कहा है[2]। आवेग की उत्पत्ति के कारणों पर विचार करते समय विद्वान् आचार्य ने—आँधी, पानी, अग्नि तथा गजादिकों द्वारा बड़े उत्पात, प्रिय या अप्रिय के विषय का श्रवण, व्यसन, आघात लगना, उल्का, वज्र आदि का गिरना, चन्द्र-सूर्य का निस्तेज होना, भूकम्प आदि को आवेग उत्पन्न करने वाला कहा है। शारदातनय ने आवेग के अनुभावों का विस्तृत विवेचन किया है जो इस प्रकार है—विवर्णता, भय, विस्मय, सम्भ्रम, विषाद, वैमनस्य, सम्पूर्ण

१. अयोग्ये चापदार्थे च दुःस्पृहा चपलं भवेत्।
पलायते चापदार्थे मनस्तच्चापलं भवेत्॥

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३१ पं० ११-१२।

२. अदेशकालविहितो वेग आवेग उच्यते।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३१ पं० ७।

अंगों में कम्पन, त्वरितगति, वस्त्रों से शरीर मुखादि का आच्छादन करना तथा नेत्रावमर्दन आदि को अनुभाव रूप में गिना है और ऐसे आवेग को वातजनित कहा है। इसी प्रकार छत्रादि ग्रहण करना, सर्वांगपीड़न तथा किसी आश्रय में छिपना, दौड़ना, विभिन्न अंगों को झुकाये हुए शीघ्र चलना आदि वर्षा जनित अनुभाव कहे गये हैं। पदों का अतिक्रम, अंग धूनन, व्यजन ग्रहण, जृम्भण और निश्वास अदि को अग्नि जनित अनुभाव कहा है। इसी प्रकार गज के सम्भ्रम से उत्पन्न होनेवाले अनुभाव हैं—पीछे मुड़कर देखना, स्तब्ध रह जाना, भय और विस्मय से काँपना, शीघ्रता से भागना, इसी प्रकार प्रिय के श्रवण से उत्पन्न अनुभाव होते हैं—विलाप, क्रन्दन, भू-पात, परिदेवन एवं पलायन आदि, शत्रु व्यसन से उत्पन्न अनुभावों में से कतिपय यहाँ बताये गये हैं—हाथी घोड़े या रथ पर चढ़ना, शस्त्रास्त्र ग्रहण करना आदि।

जाड्य

जाड्य नामक व्यभिचारीभाव के वर्णन प्रसंग में शारदातनय ने उसे सदा सम्पूर्ण कार्यों में दुर्बोधता के रूप में ग्रहण किया है। जाड्य की उत्पत्ति के मुख्य कारण बताते हुए प्रिय तथा अप्रिय के श्रवण और दर्शन तथा व्याधियों का वर्णन किया गया है। इसके अनुभाव है—सुख-दुःख, इष्ट-अनिष्ट का मान, मौनावलम्बन, प्रतिभा हीनता तथा नेत्रों की अपलक दृष्टि।

औत्सुक्य

औत्सुक्य नामक व्यभिचारी भाव का वर्णन करते हुए शारदातनय ने उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य प्रकट किया है। इस प्रसंग में आपने इष्ट के विरह तथा उसके स्मारक विषय के दर्शन को औत्सुक्य की उत्पत्ति के कारण रूप में ग्रहण किया गया है[1]। इस सन्दर्भ में विद्वान् विचारक ने औत्सुक्य को सूचित करने वाले कार्य व्यापारों तथा विविध स्थितियों का भी अनुभाव रूप में उल्लेख किया है। चिन्ता, निद्रा, सज्जा, अभिलाषा और गात्र गौरव आदि का उल्लेख ऐसे ही अनुभावों के रूप में किया गया है जो औत्सुक्य को व्यक्त करते हैं। औत्सुक्य में श्वास की तीव्रता का होना भी स्वीकार किया गया है।

विषाद

औत्सुक्य के पश्चात् विषाद नामक व्यभिचारी भाव का वर्णन किया गया है कि यह भाव कार्य की असफलता, दैवयोग, व्यापत्ति, राज-दोष एवं चौर्यादि के

---

१. औत्सुक्यमिष्टविरहात् तदनुस्मृतिदर्शनात्।

भा० प्र० प्र० अधि० पृ० २१ पं० १९।

भय से उत्पन्न होता है[1]। इस प्रसंग में आपने ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ भेद से विषाद के तीन भेद बताये हैं। ज्येष्ठ विषाद में सहायक के अन्वेषण और उपाय की चिन्ता का भाव रहता है। मध्यम विषाद में वैमनस्य की प्रवृत्ति, उत्साह का प्रभाव तथा निद्रा के अभाव आदि को स्वीकार किया गया है। कनिष्ठ विषाद में ध्यान, उच्छ्वास तथा मूर्च्छा आदि का निरूपण किया गया है। इस प्रकार विषाद के अनुभावों के प्रसंग में शारदातनय ने विषाद के विविध रूपों के अनुरूप परिलक्षित होने वाली परिणतियों के प्रभाव को पूर्णरूप में वर्णित किया है।

गर्व

गर्व नामक व्यभिचारी भाव वर्णन में लेखक ने इसे विद्याबल, ऐश्वर्य, वय, रूप एवं धन आदि के प्रभाव का परिणाम बताया है। गर्व की स्थिति में उत्तर न देना, किसी से वार्तालाप करने में विमुख होना, आश्रितों के प्रति अपमान का व्यवहार करना, दोनों भुजाओं तथा पार्श्ववर्ती अंगों का निरीक्षण करते रहना, असूया, अमर्ष, परुषता, उपहास, गुरुओं की उपेक्षा, अकारण ही अधिक्षेप करना तथा स्वरूप की विकृति आदि चिन्ह लक्षित होते हैं।

अमर्ष

अमर्ष नामक व्यभिचारी भाव के वर्णन प्रसंग में उसे प्रतिक्रिया की इच्छा के रूप में यहाँ स्वीकार किया गया है। विद्या, ऐश्वर्य तथा बलाधिक्य आदि के प्रभाव से सभा के बीच अथवा आते-जाते समय अपमान की प्रवृत्ति इस भाव में रहती है। शिरःकम्पन, स्वेद, उपाय के चिन्तन का ध्यान, उत्साह आदि को अमर्ष का सूचक बताया गया है।

अवहित्था

अवहित्था नामक व्यभिचारी भाव के वर्णन प्रसंग में कहा गया है कि यह भाव, भय, व्रीड़ा, धृष्टता तथा कौटिल्य से उत्पन्न पतन आदि में पाया जाता है। इस भाव में आन्तरिक व्यथा होने पर भी पात्र में बाह्य स्थित गर्व की भावना विद्यमान रहती है।

मति

मति को अनेक शास्त्रों के अर्थ से निष्पन्न बताया है और इसे (मति को) श्रुतधारिणी कहा है अर्थात् अधीत ज्ञान को धारण करने वाली माना है। सन्देह को निवृत्त करने तथा शिष्य के हित साधन में मति का रूप व्यक्त होता है।

---

१. कार्यानिस्तरणाद् दैवात् व्यापत्ते राजदोषतः।
चौर्यादिग्रहणाद् विघ्नाद् विषादो नाम जायते॥

भा० प्र०—प्र० अधि०, पृ० २१ पं० २२, पृ० २२ पं० १।

निद्रा

निद्रा की चर्चा करते समय आलोच्य ग्रन्थकार ने इसे मद, श्रम, ग्लानि, दौर्बल्य, आलस्य, चिन्तन, अत्याहार, अनशन, दुःख एवं शोकादि से उत्पन्न बताया है। आँखों का निमीलन, श्वास, जाड्य, जृम्भण, तथा अक्षिविमर्दन को निद्रा कहा गया है।

अपस्मार

अपस्मार नामक व्यभिचारी भाव के वर्णन प्रसंग में उसे महाभूत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस द्वारा गृहीत होने तथा शून्य, श्मशान आदि के सेवन करने से व्यञ्जित होने तथा शून्य, श्मशान आदि के सेवन करने से प्रकट होने वाला बताया है। धातु की विषमता, अपवित्रता आदि कारणों से अपस्मार की उत्पत्ति होती है। निःश्वास, निस्तब्धता, कम्पन, मुख से झाग का निकलना, जीभ चाटना, गला भर जाना आँखों का चढ़ जाना आदि ऐसे तथ्य हैं जो अपस्मार को सूचित करते हैं।

प्रबोध

प्रबोध नामक व्यभिचारी भाव के वर्णन प्रसंग में शारदातनय ने इसे एक ऐसा प्रमाण बताया है जिसमें मन समस्त विषयों को समझने में सक्षम होता है[१]। इसकी उत्पत्ति के कारणों में भीषण स्वप्नदर्शन, निद्राभंग आदि का उल्लेख किया गया है। भुजाक्षेप, जृम्भण, अक्षि-अवमर्षण, शय्यात्याग, प्रबोध आदि को व्यभिचारी के अनुभाव रूप में स्वीकार किया गया है।

सुप्ति

सुप्ति की चर्चा में इसे निद्रा से उत्पन्न बताया गया है और नेत्र निमीलन, स्वप्न, उच्छ्वास, नि श्वास, इन्द्रियों की निष्क्रियता, स्पर्श के ज्ञान का अभाव आदि को सुप्ति के अनुभावों में रखा गया है।

उग्रता

उग्रता नामक व्यभिचारी भाव की चर्चा करते हुए लेखक ने इसे अकारण दण्ड स्वरूप माना है[२]। उग्रता की उत्पत्ति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि यह भाव पुत्र, मित्र और कलत्र आदि के विद्रोह से उत्पन्न होता है। अतिशय क्रूरता, बन्धन, ताड़न आदिकों को उग्रता के अनुभाव रूप में ग्रहण किया गया है।

---

१. स प्रबोधो मनो येन सर्वानर्थान् प्रबुध्यते।

भा० प्र०—द्वि० अधि०, पृ० २९, पं० ७।

२. अहेतुकश्च दण्डो यः तदौग्र्यं परिचक्षते।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० २९, पं० ८।

व्याधि

व्याधि नामक व्यभिचारीभाव के वर्णन प्रसंग में इसे देश-काल की विषमता से उत्पन्न बताया गया है। व्याधि के दो रूप बताये गये हैं प्रथम उष्ण एवं द्वितीय शीत। शिरःकम्प, अंगसंकोच, मुख सूखना, रोमांच होना, भू शैय्या, शीतलता की अभिलाषा से विक्षिप्त रूप में हाथ-पैर का संचालन करना, शीतानुलेपन आदिको उष्ण ज्वर के अनुभाव रूप में गिना गया है। शारीरिक स्तब्धता, अंगशैथिल्य, आक्रोश, भयभीत नेत्रों का संचालन आदि शीतज्वर के अनुभाव हैं।

मरण

मरण नामक व्यभिचारी भाव के वर्णन में कहा गया है कि यह भाव अभिनय की दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त है। मरण की उत्पत्ति के कारणों में व्याधि तथा अभिघात का विशेष उल्लेख किया गया है। इस प्रसंग में व्याधि एवं आयु के सम्बन्ध में भी चर्चा की गयी है। अभिधान के अर्थ का विवेचन भी किया गया है। मरण के अनुभावों के वर्णन प्रसंग में अन्यत्र वर्णन, कथन अंग चेष्टा की अनवस्थिति, हिचकी एवं परिजनों की उपेक्षा आदि को गिना गया है। अभिघातज मरण के भी अनेक अनुभावों का वर्णन किया गया है।

त्रास

त्रास नामक व्यभिचारी भाव का वर्णन करते हुए उसे ओला, उल्का तथा वज्र आदि के गिरने एवं शत्रुओं के आक्रमण का परिणाम कहा गया है। रोमांच, गद्गद, खेद, कम्प तथा मोह को त्रास के अनुभाव रूप में ग्रहण किया गया है।

उन्माद

उन्माद भाव के वर्णन में प्रकृति के अनुसार इस भाव को तीन प्रकार का बताया है। उत्तम प्रकृति वाले पात्रों में अभीष्ट के विरह मे, मध्यम प्रकृति वाले पात्रों में अभीष्ट के अभिघात से तथा नीचप्रकृति वाले पात्रों में धन नाश से उन्माद उत्पन्न होता है। अकारण हँसना, उत्क्रोश, गीत, नृत्य, दौड़ना, तृण तथा शराब (पुरवा) आदि को आभूषण बनाना, अनवस्थिति, शय्या के एक छोर पर सोना और रोते हुए उठना, असत्य प्रलाप, स्खलन आदि को उन्माद का अनुभाव कहा गया है।

वितर्क

वितर्क नामक व्यभिचारी भाव का वर्णन करते हुए दूरस्थ विषय के अनिश्चय, सन्देह, विस्मृत विषय के स्मरण का प्रयास तथा उसकी स्मृति आदि से वितर्क की उत्पत्ति होती है। ग्रह, मोक्ष, शिरः कम्पन आदि को वितर्कानुभाव कहा गया है।

उपसंहार

'भावप्रकाशनम्' के रचयिता की दृष्टि आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र की ओर सदा बनी रहती है। जैसा कि पहले भी कहा गया है कि शारदातनय भरत

मतानुयायी विवेचन है। आपने व्यभिचारी भावों के चर्चा प्रसंग में सर्वप्रथम इस निष्पत्ति में इनकी व्यावहारिक स्थितियों का परिचयात्मक विवरण उपस्थित किया है। इस तरह के विश्लेषणात्मक विवेचनों द्वारा आपने समस्त व्यभिचारियों की उन सामान्य प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है जो स्थायी भाव को रसनिष्पत्ति की स्थिति तक पहुँचाने में सम्पोषक तत्त्व सिद्ध होते हैं। हमारे आलोच्य आचार्य द्वारा प्रस्तुत किया गया यह सामान्य परिचयात्मक विवरण किसी विशेष व्यभिचारी भाव मात्र तक सीमित न रहकर ऐसी सामान्य भाव-भूमि को उपस्थित करनेवाला है जो सभी व्यभिचारियों के रस सम्पोषक प्रभाव के रूप में ग्राह्य है।

शारदातनय ने व्यभिचारी भावों के सामान्य परिचय के पश्चात् ही उनके विविध प्रकारों का उल्लेख किया है और प्रत्येक व्यभिचारी के स्वरूप, उत्पत्ति के कारण तथा उसके अनुभाव आदि का वर्णन किया है, जैसा कि पूर्वोल्लिखित प्रसंगों से स्पष्ट है। व्यभिचारी भावों की तैंतीस संख्या पहले बतायी गयी है। संख्यात्मक विवरण के बाद प्रत्येक व्यभिचारी का अलग-अलग वर्णन करते हुए उसकी भावगत विशेष अवस्था का भी इस ग्रन्थ में विश्लेषण किया गया है। यथासम्भव प्रत्येक व्यभिचारी-भाव की व्युत्पत्ति मूलक अर्थ प्रकृति के साथ उसकी लोकप्रचलित भावपरक स्थितियों का सामान्य समन्वय भी दिखलाया गया है। वस्तुतः प्रत्येक व्यभिचारी की उत्पत्ति के परिस्थितिजन्य अनेक कारण होते हैं। हमारे विद्वान् आचार्य ने इस तथ्य को सदा ध्यान में रखा है और व्यभिचारियों की उत्पत्ति के कारणों की शृङ्खलाबद्ध अवस्थाओं का पृथक्-पृथक् विशेष वर्णन किया है। जागृत तथा उद्दीप्त व्यभिचारियों के सूचक अनुभावों की अलग-अलग स्थितियों को भी प्रदर्शित किया गया है। एक ही व्यभिचारी भाव के उद्भूत रूप को सूचित करनेवाले बाह्य रूप व्यापार भी अनेकानेक होते हैं। व्यभिचारी भाव की अनुभाव मूलक इस तथा कथित दशा को भी स्पष्ट करने के लिये विद्वान् आचार्य ने एक-एक व्यभिचारी के अनेकानेक अनुभावों का साथ-साथ वर्णन किया है। जैसा कि आगे के प्रसंगों से स्पष्ट होगा कि शारदातनय ने विभिन्न रसों की पृथक्-पृथक् चर्चा करते हुए प्रत्येक रस के पोषक रूप में व्यवहृत होने वाले व्यभिचारी भावों का अलग-अलग रस सापेक्ष वर्णन भी किया है और प्रत्येक भाव के पारस्परिक सम्बन्ध का भी निरूपण किया है। इन व्यभिचारी भावों के प्रसंग में अनेक अन्य तत्त्व भी वर्णित हैं जो इन्हें जागृत करते हैं।

आलोच्य ग्रन्थकार ने बड़ी ही सूक्ष्मता के साथ उद्भूत इन व्यभिचारी भावों की अवस्था में परिवर्तित होने वाली दृष्टियों की विधि प्रकृतियों का भी पृथक् पृथक् वर्णन किया है। वस्तुतः उत्पन्न होने के उपरान्त व्यभिचारियों का प्रभाव शरीर की बाह्य स्थितियों के साथ-साथ आन्तरिक स्थितियों पर भी पड़ता है। पात्र की व्यवहारिक दशा भी इन व्यभिचारियों की विशेष प्रकृति के अनुसार विविध

रूप ग्रहण करती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने विविध व्यभिचारी भावों में उपस्थित होने वाले दृष्टि विषयक विविध रूपों का परिचयात्मक वर्णन भी यहाँ दर्शाया है। हृदय में जैसी अनुभूति उत्पन्न होती है ठीक उसी के अनुरूप दीन, मलिन, श्रान्त, ग्लानि आदि की अवस्थाएँ भी दृष्टि से ज्ञात होने लगती हैं। प्रत्येक रस के व्यभिचारी भाव की दशा में आन्तरिक अनुभूति का अपना अपना रूप होना है जिससे दृष्टि की प्रकृति भी अपना विशेष रूप प्रकट करती है। इसी अवस्था का यथार्थमूलक सांकेतिक रूप, व्यभिचारी भावों के प्रस्तुत प्रसंग में दृष्टि निरूपण के माध्यम से किया गया है। व्यभिचारियों की अभिव्यक्ति मूलक प्रकृति को ध्यान में रखते हुए उनकी वाक्यार्थता तथा व्यंग्यार्थता के विषय में भी महत्त्वपूर्ण छान-बीन की गयी है जिसकी विशेष चर्चा रस वर्णन प्रसंग में अधिक उपयुक्त समझी गयी है।

शारदातनय की उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर व्यभिचारी भावों के स्वरूप तथा प्रभावों की निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

१. व्यभिचारी भाव तत् तत् स्थायी भावों के सम्पोषक तत्त्व हैं जो रस सिद्धि में सहायक होते हैं। २. ये भाव उत्पन्न एवं विनष्ट होने वाले माने गये हैं, जो स्थायी-भावों में ही उत्पन्न होकर उन्हें सम्पुष्ट करते हैं और फिर उन्हीं में विलीन होकर तद्रूप ग्रहण कर लेते हैं। जैसे कि सागर में उत्पन्न होने वाली लहरें अपनी चपल गति-विधियों के अन्त में सागर के भीतर ही विलीन होकर तद्रूपता प्राप्त कर लेती हैं। ३. प्रत्येक व्यभिचारी भाव की उत्पत्ति के अपने अलग-अलग कारण होते हैं जो इन भावों को बाह्य में जन्म देते हैं। इस प्रकार व्यभिचारी भाव अपने-अपने तत् तत् कारणों के कार्य रूप हैं। ४. उद्भूत व्यभिचारी भावों के अपने-अपने सूचक प्रभाव होते हैं जिन्हें व्यभिचारियों के अनुभाव रूप में माना जाता है। ५. व्यभिचारियों के उद्भव का बोध उनके अनुभावों के प्रभावों को देखकर होता है। उत्पत्ति परक दशा को सूचित करने की दृष्टि से इन अनुभावों की वही अवस्था रहती है जो जागृत तथा उद्दीप्त होने वाले स्थायी भावों के अनुभावों की। ६. प्रत्येक व्यभिचारी के प्रभाव का परिणाम दृष्टि की विशेष प्रकृति में भी रहता है। व्यभिचारी की उत्पत्ति की दशा में जैसी अनुभूति रहती है, उसी के अनुरूप दृष्टि भी प्रभावित होती है। ७. स्थायीभाव को सम्पुष्ट करके रस सिद्धि की दशा में पहुँचाने में इन व्यभिचारी भावों का अपना अलग महत्त्व है। यही कारण है कि प्रत्येक रस की निष्पत्ति में व्यभिचारीभाव के प्रभाव को स्वीकार किया गया है और इन्हें रस सिद्धि के अन्य सहायक तत्त्वों में स्थान दिया गया है। ८. व्यभिचारी भावों की व्यंग्यार्थता तथा वाक्यार्थता की स्थिति को भी शारदातनय

ने गम्भीरता पूर्वक प्रस्तुत करते हुए उनकी विशेष दशा को बोधगम्य रूप में उपस्थित करने का श्लाघनीय प्रयास किया है।

(ङ) सात्त्विकभाव प्रकरण

उपस्थापन

'भावप्रकाशनम्' के रचयिता ने विभवादि भाव भेदों के अन्तर्गत सात्त्विक कहे जाने वाले भावों का भी विशद वर्णन किया है। अपनी परम्परागत शैली के अनुसार विद्वान् विचारक ने सर्वप्रथम सात्त्विकभावों का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया है और साथ ही साथ इस वर्ग के विविध परिचायक स्वरूपों का अलग-अलग वर्णन करने से पहले उन आधारों पर भी विचार किया है जो सात्त्विक भावों के सात्त्विक कहे जाने के कारण बताये गये हैं। इस सन्दर्भ में शारदातनय ने प्रत्येक सात्त्विकभाव का सामान्य परिचय तथा उसके प्रभावात्मक स्वरूप का भी विश्लेषण किया है। वस्तुतः भाव के व्यापक स्वरूप में अङ्गीकृत तत्त्व की स्थिति को बताने वाले सात्त्विकों का भी स्थायी भावों की रस निष्पत्ति के कारण ही महत्त्व है। रस सम्पुष्टि में इनका भी योगदान स्वीकार किया गया है। इतना होते हुए भी हमारे विद्वान् आचार्य ने सात्त्विक पद का प्रयोग दो रूपों में किया है। व्यभिचारी आदि अन्य भावों से सात्त्विक जातीय भावों का अन्तर स्पष्ट करते हुए सात्त्विक पद के प्रयोग का एक रूप दिखलाया है और विभावादि अन्य भावों में सात्त्विक गुण युक्त भावों का विशेषण रूप में सात्त्विक पद का प्रयोग करके उसकी अर्थ प्रकृति का दूसरा रूप दर्शाया है। यहां हम शारदातनय की विवेचन सरणि का अनुसरण करते हुए सात्त्विक भावों के विषय में व्यक्त किये गये सामान्य परिचय को उपस्थित करना उपयुक्त समझते हैं।

सात्त्विक-निरुक्ति

शारदातनय ने स्वीय तथा अस्वीय (परकीय) रूपों में सत्त्व भाव से उत्पन्न होने वाले विकारों को सात्त्विक भाव कहा है[1]। इस प्रसंग में सत्त्व पद पर विचार करते हुए सर्वप्रथम मन को ही सत्त्व परिणामी द्रव्य कहा गया है। इस सत्त्व द्रव्य रूपात्मक मन की दो स्थितियाँ हैं। ईश्वर तथा मुक्त पुरुषों में मन का रूप संकेतात्मक बताया गया है, किन्तु सांसारिक लोगों में वही (सत्त्व द्रव्य) मन के रूप में

---

१. सत्त्वजा ये विकाराः स्युः स्वीयास्वीयविभागतः।
त एव सात्त्विका भावा इति विद्वद्भिरुच्यते॥

भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ४ पं० १०–११।

व्यवहृत होता है। शारदातनय के अनुसार मन की जब सत्त्व परिणामी अवस्था रहती है, तब वह सत्त्व रूप ही होता है[१]।

शारदातनय ने (क) बुद्धि, (ख) ज्ञान, (ग) आनन्द भेद से सत्त्व के तीन भेद बताये हैं[२]। दूसरे के दुःखादि की अनुभूति से जो भाव उत्पन्न होता है वही सात्त्विक भाव है। इस तरह की स्थितियों से उत्पन्न होने वाले भावों को ही सात्त्विक भाव कहा गया है[3]। इस प्रसंग में शारदातनय ने सात्त्विक भावों के रूप में निम्न आठ भावों का उल्लेख किया है[४]। जो इस प्रकार हैं—१. स्तम्भ, २. स्वेद, ३. रोमांच, ४. स्वर-भेद, ५. कम्प (वेपथु), ६. वैवर्ण्य, ७. अश्रु (बाष्प), ८. प्रलय[५]।

स्तम्भ

स्तम्भ की चर्चा करते हुए उसे आपने चेष्टाविघात रूप माना है[६]। इसकी उत्पत्ति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए मद, गद, क्रोध, भय, विस्मय तथा गर्व का उल्लेख किया गया है और इसके साथ नीच तथा मध्य श्रेणी के पात्रों में हर्ष, एवं विषाद आदि से भी स्तम्भ की उत्पत्ति बतायी गयी है। इस सन्दर्भ में स्तम्भ को सूचित करने वाली स्थितियों की भी चर्चा की गयी है। हमारे विद्वान् आचार्य का कहना है कि स्तम्भवान् अर्थात् स्तब्ध वह व्यक्ति कहलाता है जो सचेतन होते हुए भी निश्चेष्ट, निष्प्रकम्प, तथा जड़ाकृति होकर स्तब्धगात्र तथा शून्य अवस्था को सूचित करता है[७]। इस प्रकार शारदातनय ने स्तम्भ नामक सात्त्विक भाव के

---

१. तत्सत्त्वपरिणामित्वात् सत्त्वमित्युच्यते बुधैः।
भा० प्र०—प्र० अधि पृ० ७ पं० २।

२. त्रिधा सत्त्वं भवेद् बुद्धिज्ञानानन्दविभेदतः।
भा० प्र —प्र० अधि० पृ० १३ पं० २४।

३. तत्सत्त्वं तेन निर्वृत्तास्सात्त्विका इत्युदीरिताः।
भा प्र०—प्र० अधि० पृ० १४ पं० ४।

४. अष्टौ तु सात्त्विका भावास्तेऽपि स्तम्भादयः स्मृताः।
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ६ पं० १८।

५. स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदश्च वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः॥
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १४ पं० ७–८।

६. चेष्टाविघातः स्तम्भः स्याद् रोमाञ्चो रोमनिर्गमः।
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३१ पं० १९।

७. सचेतनोऽपि निश्चेष्टो निष्प्रकम्पो जडाकृतिः।
स्तब्धगात्रश्च शून्यश्च स्तम्भवानिति कथ्यते॥
भा० प्र०—प्र० अधि०, पृ० १४, पं० ११-१२।

निरूपण प्रसंग में सबसे पहले स्तम्भ पद की अर्थ प्रकृति, तदुपरान्त उसकी उत्पत्ति के कारण और अन्त में उसके सूचक निश्चेष्टादि अनुभावों तथा व्यापारों का भी वर्णन किया है। शारदातनय का कहना है कि सात्त्विक भावों में पारस्परिक उपकार्यो-पकारी भाव भी रहता है। इस प्रसंग में स्तम्भ के भीतर कम्प, रोमांच, स्वेद, गद्गद-भाषण और बाष्पनिर्गमन आदि को एक साथ अथवा अलग अलग शोभाकारक बताया गया है अर्थात् कम्प आदिक सात्त्विकभाव स्तम्भ नामक सात्त्विक भाव के उपकारी रूप में उपस्थित होकर और भी शोभा वर्धकहोते हैं।

स्वेद

स्वेद नामक सात्त्विक भाव की चर्चा करते हुए सर्व प्रथम स्वेद की उत्पत्ति के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। सम्पीड़न, क्रोध, श्रम, व्यायाम, भय, धूप, हर्ष, ज्वर, ग्लानि, सुख एवं लज्जा आदि से स्वेद का उत्पन्न होना बताया गया है। इसकी सूचना स्वेदापनयन, व्यजनग्रहण, तथा हवा की इच्छा के माध्यम से प्राप्त होती है। इस प्रकार स्वेद को बताने वाली उल्लिखित स्थितियाँ ही इसके अनुभाव रूप में स्वीकार की गयी हैं।

रोमांच

रोमांच की चर्चा करते हुए उसे रोम निर्गम रूप कहा है[1]। रोमांच की उत्पत्ति के कारण क्रोध, रोग, भय, हर्ष, तथा ठण्डक आदिक कहे गये हैं। उत्सुकता पूर्वक बार-बार गात्र के स्पर्श से होने वाली पुलकित दशा, रोमांच को सूचित करती है। इस प्रकार रोमांच के स्वरूप, उसकी उत्पत्ति के कारण एवं रोमांच को सूचित करने वाली अवस्थाओं का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। कम्प एवं स्तम्भ रोमांच में उपकारी माने गये हैं।

स्वर-भेद

स्वर भेद का व्युत्पत्ति मूलक परिचयात्मक वर्णन करते हुए शारदातनय का कहना है कि जब उच्चारण स्थान की भिन्नता के प्रभाव से स्वर में भिन्नता उत्पन्न होती है तो उसे स्वर-भेद कहा जाता है[2]। स्वर-भेद को गद्गद, क्रोध, हर्ष, भय, और ज्वर से उत्पन्न होने वाला बताया गया है। स्वर-भेद के अनुभाव रूपों में गद्-गद, स्थानभ्रष्टता, स्वर के स्तर से स्खलन होने की स्थिति आदि का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार स्वर-भेद के सामान्य रूप, उत्पत्ति के आधार एवं उसके अनु-भावों को बताया गया है।

---

१. रोमाञ्चो रोमनिर्गमः।

भा० प्र०—द्वि० अधि०, पृ० ३१, पं० १९।

२. यः स्वरो विद्यते स्थानात् स्वरभेदः स कथ्यते।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३१ पं० २१।

वेपथु

वेपथु नामक सात्त्विक भाव के वर्णन प्रसंग में उसके समानार्थक 'कम्प' पद का भी व्यवहार किया गया है। नाम मूलक पद में भिन्नता होते हुए भी अर्थ प्रवृत्ति के अनुसार दोनों ही पद पर्याय रूप में स्वीकार किये गये हैं। अतः इस प्रसंग में उभय पदों के प्रयोग में किसी प्रकार की विषमता नहीं है। इन्होंने (शारदातनय ने) हृदय के उत्कम्प को वेपथु कहा है[1] एवं इस सात्त्विकभाव की उत्पत्ति के आधार मूलक गद्गद, भय, स्पर्श, हर्ष, रोष, और जरा का भी उल्लेख किया गया है। वेपथु नामक सात्त्विक भाव को सूचित करने वाले बाह्य व्यापार रूपों में वेपन, स्फुरण और कम्प का वर्णन किया गया है। यहाँ शारदातनय का अभिप्राय यह है कि हृदय के कम्पन का ही दूसरा नाम वेपथु है। रोग, भय स्पर्श आदि अवस्थाओं में यह सात्त्विक भाव उत्पन्न होता है। इसके प्रभाव से शरीर का हिलना, स्फुरण और कम्प आदि होना ऐसे बाह्य व्यापार परिलक्षित होते हैं जो वेपथु के होने का संकेत करते हैं।

वैवर्ण्य

विद्वात् आचार्य ने भिन्न वर्णता को वैवर्ण्य कहा है[2]। अर्थात् बाह्य आकृति में जो भिन्न वर्णता दिखायी गयी है उसी का नाम वैवर्ण्य है। प्रस्तुत सात्त्विकभाव की उत्पत्ति के कारणों का उल्लेख करते हुए शारदातनय ने आतप, क्रोध, व्याधि, शीत और कलत्र की चर्चा की है। वैवर्ण्य के अनुभावों के प्रतिपादन में अंगों की कृशता, शरीर के सौन्दर्य में विकृति आदि का उल्लेख किया गया है।

अश्रु

अश्रु नामक सात्त्विक भाव का वर्णन करते हुए उसके समानार्थक 'वाष्प' पद का भी प्रयोग किया गया है। व्युत्पत्ति गर्भ अश्रु की स्थिति को स्पष्ट करते हुए शारदातनय ने कहा है कि 'श्रु' पद मंगलार्थक है। इसका प्रयोग शीतल जल के अर्थ में किया जाता है। यदि उष्ण अर्थ में प्रयोग करना हो तो 'अश्रु' पद का व्यवहार होगा जो अमंगल परक माना गया है[3]। इससे स्पष्ट है कि यहाँ 'श्रु' को मंगलार्थक

---

१. वेपथुर्हृदयोत्कम्पः।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३१ पं० २१।

२. वैवर्ण्यं भिन्नवर्णता।

भा० प्र —द्वि० अधि०, पृ० ३१ पं २१।

३. श्रु शब्दो मङ्गलार्थः स्यात् प्रयुक्तः शीतवारिणि।
उष्णाम्भसि प्रयुक्तश्चेदश्रु तत्स्यादमङ्गलम्॥

भा प्र०—द्वि० अधि पृ० ३१-३२ पं० २२-१।

एवं 'अश्रु' को अमंगलार्थक रूप में रखा गया है। अश्रु की उत्पत्ति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए विद्वान् विचारक ने जृम्भा, भय, क्रोध, शीत, अपलक निरीक्षण, रोग, शोक, धूम, अंजन एवं जृम्भण आदि को गिनाया है। बार-बार वाष्पमोचन और नेत्रमार्जन से अश्रु नामक भाव की सूचना मिलती है। अतः इनको अनुभाव रूप में यहाँ स्वीकार किया गया है।

प्रलय

तन, मन और वचन की चेष्टा का नष्ट हो जाना ही प्रलय कहा गया है[1]। प्रलय की उत्पत्ति के कारणों पर विचार करते हुए शारदातनय ने मद, निद्रा, रोग तथा प्रहार आदि का उल्लेख किया है। इस प्रसंग में आपका कथन है कि दुःख, अभिषङ्ग एवं निश्चेतना आदि तत्त्व ही इस प्रलय नामक सात्त्विक भाव के सूचक होते हैं। इससे स्पष्ट है कि दुःख, अभिषङ्ग एवं निश्चेतनादि ही प्रलय के अनुभाव हैं।

उपसंहार

शारदातनय द्वारा वर्णित उपर्युक्त विवृति के आधार पर सात्त्विक भावों की निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

१. अन्तःकरण के विशेष धर्म 'सत्त्व' से उत्पन्न अंग विकार ही सात्त्विक भावों के रूप में गृहीत हैं। सत्त्व को मनः प्रसूत कहा गया है। इस सत्त्व से सम्बन्ध रखने के कारण ही इस वर्ग के भाव सात्त्विक कहे जाते हैं। आचार्य भरत ने भी यह स्वीकार किया है कि सात्त्विक भावों का अभिनय विशेष मनोवेग से ही सम्भव है। चित्त विशेष के साथ इनका अभिनय सम्भव नहीं हो सकता।

२. शारदातनय ने सत्त्व का अर्थ प्राण भी किया है। सम्भवतः स्थायीभाव ही प्राण तक पहुँच कर सात्त्विकभाव की स्थिति से सम्पुष्टि ग्रहण करते हैं। इसके द्वारा भी सात्त्विकभावों की सात्त्विकता का समर्थन होता है।

३. सात्त्विकभावों की संख्या आठ बतायी गयी है। प्रत्येक सात्त्विकभाव का पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है और सभी के विषय में ये तथ्य उल्लिखित हैं— (क) प्रत्येक सात्त्विकभाव का सामान्य परिचय, परिचयात्मक विवरणों में लोक प्रचलित मान्यताओं को ध्यान में रखकर ही विचार किया गया है। (ख) सात्त्विकभावों का अलग-अलग विवेचन करते हुए प्रत्येक की उत्पत्ति के विविध कारणों का अनुभव-गम्य वर्णन किया गया है, (ग) प्रत्येक सात्त्विक भाव को सूचित करने वाले अनुभावों का भी अलग-अलग उल्लेख किया गया है।

---

१. वाक्कायमनसां प्रायः प्रलयो नष्टचेष्टता।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० २३, पं० २।

४. सात्त्विक भावों के परस्पर सापेक्ष उपकार्योपकारी भावों का भी वर्णन करते हुए कहा गया है कि एक सात्त्विक भाव में प्राप्त होने वाले दूसरे सात्त्विकों का भी पारस्परिक सम्बन्ध बताते हुए निरूपण किया गया है।

५. सात्त्विक भावों के रसनिष्पत्तिपरक सहयोग पर भी यहाँ विचार किया गया है और समुचित रूप में उदित होने वाले सात्त्विकभावों से रसों का आविर्भाव बताया गया है।

६. सात्त्विक भावों की वाक्यार्थता तथा व्यंग्यार्थता की भी शारदातनय ने समुचित रूप में छानबीन की है। इस सन्दर्भ में यथासम्भव उदाहरण भी उपस्थित किये गये हैं और उनकी विवेचनाओं द्वारा अपनी मान्यताओं की सम्पुष्टि की गयी है। उदाहरण विषयक संयोजन के स्वरूप को 'भावप्रकाशन' के दशम अधिकार में वर्णित तत् तत् प्रसंगों द्वारा जाना जा सकता है।

सात्त्विकों के निरूपण प्रसंग में शारदातनय ने अन्य भावों की विवेचना के लिये अपनायी गयी अपनी वर्णनात्मक शैली का ही उपयोग किया है। कहीं-कहीं एक ही भाव को विविध स्थलों पर विविध शब्दावलियों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है, किन्तु प्रत्येक प्रसंग में पारस्परिक सामञ्जस्य विद्यमान है। भाव वर्णन के विविध प्रसंगों की अवतारणा का साक्ष्य, वर्ण्य-विषय की स्पष्टता को ही माना जा सकता है। वस्तुतः शारदातनय को विवेच्य भाव की वर्णित अवस्था में ऐसी व्यापकता का सन्निवेश अभीष्ट है जिससे तद्विषयक समस्त मान्यताओं का तर्क संगत समन्वय हो सके। शारदातनय की मान्यताओं में एक ऐसी सर्वमान्य स्थिति के निरूपण का प्रयास किया गया है जो तद्विषयक प्रामाणिक आचार्यों की समस्त स्वीकृतियों का प्रतिनिधित्व करती है। इसीलिये एक ही भाव को अनेक प्रसंगों में विविध शब्दा-वलियों द्वारा निरूपण करते हुए उस सर्वमान्य स्थिति को पाठक के समक्ष रखने की चेष्टा की गयी है। शारदातनय ने सात्त्विक भावों के वर्णनों में भी अपनी इसी वर्णन पद्धति का उपयोग किया है।

भावविषयक एक परिशीलन

भाव-विवेचन को ही शारदातनय के 'भावप्रकाशन' ग्रन्थ का मूल विषय कहा जा सकता है। इन्होंने भाव पद को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। इस विषय में प्रस्तुत की गयी विवेचनाओं को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार देखा जा सकता है—

१. भाव पद का सामान्य परिचय देते हुए 'भावनं भावः, भूतिर्वा भावः, भावयतीति वा भावः' रूप में पदार्थ, क्रियासत्ता तथा मानस विकार को भाव का स्वरूप बताया गया है।

२. णिजन्त 'भू' धातु की अर्थ प्रकृति में 'कृ' (व्यापार सम्पादन) एवं व्याप् (वि-आप्) के अर्थों का सन्निवेश रहता है। इसी आधार पर भाव पद को व्यापक अर्थ में अपनाया गया है। इस अर्थ-मूलक व्यापकता के फलस्वरूप विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव, संचारीभाव तथा सात्त्विकभाव तो भाव पद द्वारा गृहीत ही हैं, इनके साथ ही साथ अभिनय सापेक्ष नृत्त, नृत्य तथा लास्य एवं संगीत सापेक्ष ताल-स्वरादि के विवेचन क्रम को भी भाव विवेचन की परिधि में स्वीकार किया गया है।

३. भाव भेदों की पृथक्-पृथक् विवेचना से पहले ही उनके बीच विद्यमान कार्य-कारण भाव पर भी विचार किया गया है और विभाव को अनुभाव का कारण तथा अनुभाव को विभाव का कार्य कहा है।

४. भाव भेदों पर विचार करते हुए उनके पारस्परिक उपकार्य तथा उपकारी भावों का भी उल्लेख किया गया है। ऐसे स्थलों पर किसी विशेष भाव को उपकारी बताते हुए उसके अन्य उपकारी भावों का भी युक्तिसंगत वर्णन किया गया है।

५. भाव के प्रथम भेद रूप में विभाव पर विचार करते समय 'वि' उपसर्ग के सन्दर्भगत विशिष्टार्थ को विज्ञानार्थक बताते हुए उसे वाक्, अंग तथा सत्त्वादि को विभावित करने वाला तत्त्व कहा गया है।

६. विभाव नामक प्रस्तुत भाव भेद के गुणों का भी पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है और रस की सिद्धि में विभाव के प्रत्येक गुण का अलग-अलग महत्त्व भी दिखलाया गया है।

७. विभाव का आलम्बन रूप ही रस सिद्धि का आधार है। इसीलिये प्रत्येक रस के आलम्बन विभाव का पृथक्-पृथक् निरूपण किया गया है। इस निरूपण में प्रत्येक रस के आलम्बन की चर्चा करते हुए ऐसे पात्रों को ग्रहण किया है जिनमें रस के अनुरूप वर्णित विभाव गुणों का भी पूरा-पूरा निर्वाह हो जाता है, अर्थात् किसी भी रस के आलम्बन रूप पात्र का उल्लेख करते समय उसके व्यक्तित्व को रस के विभाव गुणों से परिपूर्ण बताया गया है।

८. दूसरे भावभेद के रूप में अनुभाव की चर्चा करते हुए उसे भावित अर्थों की अनुभूति का रूप बताया गया है। अनुभाव के काव्य-प्रसिद्ध अर्थ को ध्यान में रखते हुए उसका परिचयात्मक विवरण उपस्थित किया है।

९. तन-मन-वचन एवं बुद्धि को अनुभाव भेद का आधार स्वीकार करते हुए अनुभावों के चार भेद निरूपित किये गये हैं। मन-आरम्भानुभाव, गात्रारम्भानुभाव, वागारम्भानुभाव तथा बुद्ध्यारम्भानुभाव।

१०. मन-आरम्भानुभावों के प्रसंग में स्त्री-पुरुषगत पात्र भेद की विशेष अवस्थाओं का अलग-अलग निरूपण किया है। इस वर्ग के अनुभावों का सम्बन्ध मन के साथ रहता है। अतः मन की विशेष अवस्थाओं का भी वर्णन किया गया है।

११. वागारम्भानुभावों के प्रसंग में आलाप आदि का पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है और भाव की जागृत तथा उद्दीप्तावस्था में आन्तरिक अनुभूति के प्रभाव से वाणी द्वारा जो ध्वनि प्रकट की जाती है उसे वागारम्भानुभाव कहा गया है।

१२. बुद्ध्यारम्भानुभावों के वर्णन प्रसंग में रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्ति को बुद्ध्यारम्भानुभाव के भेद रूप में ग्रहण किया गया है और प्रत्येक के पृथक्-पृथक् भेदों का बोधगम्य स्वरूप उपस्थित किया गया है।

१३. स्थायीभाव नामक भाव भेद की चर्चा करते हुए उसकी स्थिरता को स्थायीभाव के स्थायित्व का आधार स्वीकार किया गया है। रसात्मकता की क्षमता, स्वादनीयता तथा व्यापकता को स्थायीभाव के गुण रूप में ग्रहण किया है। रसों के अनुरूप पृथक्-पृथक् रस के पृथक्-पृथक् स्थायीभाव पर विचार करते हुए 'रति' नामक स्थायीभाव को अन्य स्थायीभावों का मूल रूप सिद्ध किया है तथा विभिन्न स्थायीभावों के रूप में उसकी परिणति का उल्लेख भी।

१४. व्यभिचारी नामक भाव भेद के वर्णन प्रसंग में व्यभिचारीभावों को रस सिद्धि की दृष्टि से स्थायीभावों का सम्पोषक-तत्त्व बताया गया है सागर में उठने वाली तरल तरंगों के समान स्थायीभावों में व्यभिचारीभावों की उत्पत्ति तथा उनके विनाश को स्वीकार करते हुए इस स्थायी दशा को ही व्यभिचारियों के व्यभिचारी कहे जाने का कारण सिद्ध किया गया है। इन व्यभिचारियों की संख्या तैंतीस बतायी गयी है और प्रत्येक का सामान्य परिचय, उसकी उत्पत्ति के कारणों तथा सूचक अनुभावों का वर्णन भी किया गया है।

१५. प्रत्येक व्यभिचारी का दृष्टि के रूप पर भी अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए व्यभिचारी के अनुरूप दृष्टि के रूपों का भी संकेत किया गया है और व्यभिचारियों की वाक्यार्थता तथा व्यंग्यार्थता पर भी।

१६. सात्त्विक भावों की चर्चा प्रसंग में उन्हें अन्तःकरण के सत्त्व धर्म से उत्पन्न बताया गया है और सात्त्विकों के सात्त्विक कहे जाने का कारण भी यही कहा गया है। इन सात्त्विकभावों की संख्या आठ बतायी गयी है और प्रत्येक का परिचयात्मक निरूपण करते हुए उसकी उत्पत्ति के कारणों तथा उसके अनुभावों का उल्लेख भी किया गया है। इस प्रसंग में विविध सात्त्विक भावों के उपकार्योपकारी भाव का वर्णन करते हुए रस सिद्धि की दृष्टि से सात्त्विकभावों के महत्त्व का प्रतिपादन भी किया गया है। यथा क्रम सात्त्विकों की वाक्यार्थता तथा व्यंग्यार्थता का निरूपण भी विधिपूर्वक दिखाया गया है।

द्वितीय भाग

रस प्रकरण

रस प्रकरण

उपस्थापन

'भावप्रकाशनम्' के रचयिता ने भाव विषयक विवेचनों में जिस गहन एवं सूक्ष्म-दृष्टि से परम्परागत समस्त मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए अपनी मान्यताओं का प्रतिपादन किया है उसी तरह रस-निरूपण में भी आपने अपने वैदुष्यपूर्ण परिचय का निर्वाह किया है। व्युत्पत्ति के आधार पर रस पद की सिद्धि दो रूपों में की जाती है—

(क) रस्यते आस्वाद्यते इति रसः।

(ख) रसते इति रसः।

उपर्युक्त प्रथम अंश आस्वाद का अर्थ प्रकट करता है, किन्तु द्वितीय अंश रस में द्रवत्व की स्थिति-मात्र का बोध कराता है। साहित्यशास्त्र में रस पद का प्रयोग काव्यानन्द का बोध कराने के लिये होता है। सर्व प्रथम रस पद का उपयोग नाट्य प्रसंग में किया गया मिलता है। प्रचलित मान्यताओं के अनुसार आचार्य भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में ही सर्व प्रथम रस-स्वरूप सम्बन्धी विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। इस सम्बन्ध में हमारे आलोच्य ग्रन्थकार ने वृद्धभरत नामक आचार्य के नाम का भी उल्लेख किया है। सम्भव है नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत से भी पहले कोई नाट्यशास्त्र विचारक रहे हों जिन्हें यहाँ शारदातनय ने वृद्धभरत कहकर ख्यातिलब्ध नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत से अलग मानकर दोनों की मान्यताओं में अन्तर स्पष्ट करने का संकेत किया है। अस्तु, यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि साहित्य के क्षेत्र में रस के स्वरूप का सबसे पहला विवेचन भरत के नाट्य-शास्त्र में ही दृष्टिगोचर होता है।

यदि व्यवहारिक दृष्टि से विचार करके देखा जाय तो इस रस पद का अनेक अर्थों में प्रयोग मिलेगा। षड्रस, इन्द्रिय-सुख, दुग्ध, गन्ध, स्पर्श आदि अर्थों में भी रस पद का उपयोग मिलता है। आयुर्वेद के रसायन, वेदों के सोमरस, वनस्पति आदि के द्रव, उपनिषदों में प्राण-तत्त्व आदि अर्थों में भी रस पद प्रयुक्त हुआ है। जहाँ तक काव्यानन्द को व्यक्त करने वाले रस का सम्बन्ध है वह जिह्वादि इन्द्रिय-ग्राह्य विविध रसों से सर्वथा पृथक् होते हुए भी आस्वादनीयता के आधार पर सांसारिक रसमय पदार्थों से प्राप्त होने वाले आनन्द के साथ सादृश्य उपस्थित करता है। इस तथ्य को शारदातनय ने बड़ी ही स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। हमारे विद्वान् आचार्य ने द्रव्य, सामान्य, विशेष, गुण, कर्म, समवाय तथा पदार्थान्तर

से भी काव्यानन्द-परक रस को भिन्न बताया है[1]। इतना होते हुए भी शारदातनय ने रस रूप में प्रसिद्ध आनन्दमयी अनुभूति को पदार्थ से प्राप्त होने वाली आनन्दानुभूति के साथ यत्किञ्चित् साम्य के रूप में स्वीकार किया है[2]। शारदातनय के इस कथन का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि किसी पदार्थ विशेष से जिह्वा द्वारा जिस स्वाद का अनुभव किया जाता है उससे (स्वाद से) काव्यानन्द रूप रस की स्थिति भिन्न है। इस रूप में रस पद द्वारा अभिव्यक्त किये गये काव्यानन्द को अनिर्वचनीय कहा जा सकता है, क्योंकि सादृश्य-विधान के माध्यम से रस को बोधगम्य रूप में प्रस्तुत कर सकना सम्भव नहीं है। अपने इस रूप में काव्यानन्द सांसारिक पदार्थों से प्राप्त होने वाले आनन्द अथवा स्वाद से पृथक् ही सिद्ध होता है। दोनों के बीच भिन्नता प्रकट करने में शारदातनय ने इसी तथ्य को आधार स्वीकार किया है। इस प्रसंग में आपकी सूझ-बूझ व्यवहारिक है। पदार्थलभ्य स्वाद में जिस प्रकार का प्रवृत्ति-मूलक सन्निवेश पाया जाता है उसी प्रकार के प्रवृत्ति-परक सन्निवेश की अवस्था काव्यानन्द के प्रति भी रहती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने काव्यानन्द को पदार्थ-लभ्य स्वादों में अन्यतम कहा है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थकार ने भिन्नता एवं समता-मूलक परस्पर विरोधी अभिव्यक्तियों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है।

बाह्य विषय को आलम्बन रूप में ग्रहण करनेवाला जो मानस-विकार विभावादि के सहयोग से जागृत, उद्दीप्त तथा अनुभवगम्य एवं परिपुष्ट होकर आस्वाद्य स्थिति में पहुँचता है उसी को शारदातनय ने रस स्वीकार किया है[3]। यहाँ शारदातनय ने मानस-विकार के उस रूप को ही रस बताया है जो विभावादि के सहयोग से आनन्दात्मक रूप ग्रहण कर लेता है। वास्तव में यह मानस-विकार भी स्थायीभाव रूप ही होता है अर्थात् स्थायीभाव के रूप में स्वीकार किये गये तत्त्वों को ही मानस-विकार कहा जा सकता है। इस रूप में मानस-विकार तथा स्थायीभाव पद समानार्थक ही सिद्ध होते हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर शारदातनय

---

१. न द्रव्यं न च सामान्यं न विशेषो गुणो न च।
न कर्म समवायो न न पदार्थश्वरश्च सः॥
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३७ पं० ७-८।

२. द्रव्यादीनां पदार्थानां तत्तद्रूपतया रसः।
क्वापि क्वापि प्रकाशेन तेषामन्यतमो रसः॥
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३७ पं० १४-१५।

३. विकारो मानसो यस्तु बाह्यार्थालम्बनात्मकः।
बिभावाद्याहितोत्कर्षो रस इत्युच्यते बुधैः॥
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३७, पं० ९-१०।

ने विभावादि के सहयोग से रस रूप ग्रहण करनेवाले मानस-विकारों को जहाँ रस रूप बताया है वहीं स्थायीभाव के जागृत, उद्दीप्त, अनुभावित तथा परिपुष्ट आनन्दमय रूप को ही रस की संज्ञा दी है[1]। इस विषय में भी हमारे विद्वान् आचार्य ने भरत मुनि की ही मान्यताओं को सम्पुष्ट किया है।

रस तथा स्थायीभाव के अनुभूति-परक रूपों में केवल परिस्थितिगत भेदमात्र है। कहा जा सकता है कि प्रत्येक रस में स्थायीभाव की सत्ता अनिवार्य रूप से विद्यमान रहती है, क्योंकि अनुकूल परिस्थितियों को पाकर स्थायीभाव ही रस रूप ग्रहण करता है। इसके विपरीत प्रत्येक स्थायीभाव को रस नहीं कहा जा सकता। स्थायीभाव के अभाव में रस की अनुभूति हो ही नहीं सकती, किन्तु रस की अनुभूति के अभाव में भी स्थायीभाव की सत्ता रहती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि आलम्बन द्वारा जागृत तथा उद्दीपन द्वारा उद्दीप्त एवं संचारी तथा सात्त्विकों द्वारा परिपुष्ट हुए स्थायीभाव को आस्वादनीय स्थिति में रस कहा जाता है।

रस की अनुभूति-परक रसमयता को स्पष्ट करने के लिये शारदातनय ने आपानक के स्वाद विशेष का सादृश्य उपस्थित किया है। जिस प्रकार गुड़, मिरिच, खटाई, लवण आदि पदार्थों को आनुपातिक परिमाण में मिलाकर पीने से एक विलक्षण आस्वाद का अनुभव होता है और इनमें से पृथक्-पृथक् रूप में केवल किसी एक का स्वाद अनुभवगम्य नहीं होता उसी तरह काव्य रस भी एक विलक्षण अलौकिक तथा अनिर्वचनीय आनन्दमयी अनुभूति है जो लौकिक अनुभूति से भिन्न होती हुई भी उसी के समान आकर्षक रहती है। वृद्ध-भरत का उल्लेख करते हुए 'भावप्रकाशन' में शारदातनय ने जिस गद्यांश को उद्धृत किया है,[2] उससे भी काव्यानन्द रूप रस के उपर्युक्त स्वरूप का ही बोध होता है। रस-वर्णन-प्रसंग में यह भी यह स्पष्ट कर दिया है कि शारदातनय ने तद्विषयक मान्यताओं को भरत मतानुसार ही स्वीकार किया है[3]। कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित रस सम्बन्धी विचारों से शारदातनय पूर्णतया सहमत हैं। आचार्य भरत से भिन्न सिद्धान्त या मान्यता शारदातनय को स्वीकार नहीं है, अतः इन्हें भरत मतावलम्बी कहना ही युक्ति संगत है।

---

१. विभावैश्चानुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वादुत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः॥

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३६, पं० ९-१०।

२. यथा नानाप्रकारैः''''तै रस्यन्ते।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३६, पं० १५-२०।

३. कथ्यन्ते भरतोक्तेन वर्त्मना नान्यथा क्वचित्।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३७, पं० १७।

रस को रस क्यों कहा जाता है ? इसके कारण को भी शारदातनय ने रस पद की व्युत्पत्ति के माध्यम से व्यक्त कर दिया है। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी तथा सात्त्विकों द्वारा वर्धित (स्थायीभाव) तत्त्व नायकादि का आश्रय पाकर नाट्य में नट आदि द्वारा अनुकरण रूप से प्रस्तुत किया जाने वाला स्थायीभाव ही सामाजिकों के मन में रसता प्राप्त करता है। ये स्थायीभाव प्राचीन संस्कारों द्वारा रसमय होते हैं और रसमयी अनुभूतियाँ ही रस की संज्ञा प्राप्त करती है[1]। शारदातनय ने अपने इस विवेचन में रस की अनुभूति के लिये प्राक्तन संस्कारों को भी आवश्यक आधार के रूप में स्वीकार किया है। वास्तव में प्राक्तन संस्कार के मूलरूप को स्थायीभाव के चिर-स्थिर रूप में माना जा सकता है। इस मूल-तथ्य की अनुभूति के अभाव में रसमय भाव-बोध का आनन्दमय रूप अनुभवगम्य नहीं हो सकता। रस-विषयक अपनी मान्यताओं में विद्वान् आचार्य ने संस्कार-विषयक इसी तथ्य का संकेत किया है।

रस-निष्पत्ति को ध्यान में रखकर यदि आवश्यक तत्त्वों के महत्त्व पर विचार किया जाये और इन तत्त्वों के आधार पर परिभाषा उपस्थित की जाये तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि आलम्बन एवं उद्दीपन विभावों द्वारा जागृत तथा सात्त्विक भावों से परिपुष्ट होकर आनन्द की स्थिति उत्पन्न करनेवाला स्थायीभाव ही रस कहा जाता है। जैसा कि भाव वर्णन प्रसंग में पहले ही कहा गया है कि शारदातनय ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य भरत का अनुकरण करते हुए स्थायीभाव को ही रस रूप में परिणत होनेवाला तत्त्व बताया है। यदि इस तथ्य की मीमांसा, अनुभूति की स्थिति को ध्यान में रखकर की जाये तो स्थायीभाव एवं रस के बीच केवल आनन्दानुभूति के आधार पर ही अन्तर ज्ञात होगा। वस्तुतः स्थायीभाव ही रस के वास्तनिक रूप को उपस्थित करने वाले हैं अर्थात् ये ही विभावादि सहयोगियों का सम्पर्क पाकर रसरूप में परिणत होते हैं। इसलिये यदि इन दोनों (स्थायीभाव और रसमय-स्थायीभाव) के बीच कोई अन्तर है तो वह केवल इसी बात में है कि जब तक स्थायीभावों को विभावादि का सहयोग प्राप्त नहीं होता तो वे केवल स्थायी-भाव होते हैं और जब वे इनका सहयोग पा जाते हैं तो वे ही स्थायीभाव रसानुभूति

१. तस्माद् विभावानुभावसात्त्विकव्यभिचारिभिः।
वर्धिताः स्थायिनो भावा नायकादिसमाश्रयाः ॥
अनुकारतया नाट्ये क्रियमाणा नटादिषु।
रसतां प्रतिपद्यन्ते सामाजिकमनस्सु ते ॥
संस्कारैः प्राक्तनैस्तैश्च रस्यन्ते यत्ततो रसाः।

भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ५९, पं० ५-९।

की दशा में परमानन्द की दशा में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार भाव वर्णन प्रसंग में जिन भाव-भेदों का उल्लेख किया गया है उनका सापेक्ष महत्त्व भी रसानुभूति की प्रस्तुत दशा के आधार पर ही स्वीकार किया गया है। शारदातनय ने रति को ही मूल-स्थायी भाव तथा शृङ्गार को ही मूल रस के रूप में अपनाते हुए स्थायीभाव तथा रस के विविध भेदों को उसी मूल स्थायीभाव तथा मूल रस का विकसित रूप बताया है। इस प्रसंग में विद्वान् आचार्य ने रस के विविध रूपों को ध्यान में रखते हुए स्थायीभाव तथा अन्य भाव भेदों के विविध रूपों को भी समुचित महत्त्व प्रदान किया है और प्रत्येक रस के साथ एक-एक भाव तथा उसके गुण आदि का सम्यक् सन्निवेश एवं समन्वयात्मक वर्णन उपस्थित किया है। इस प्रसंग का विस्तृत विवेचन रसभेद के अगले सन्दर्भ में पृथक् रूप से उपस्थित करना ही समीचीन प्रतीत होता है। यहाँ केवल इतना ही स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि विभावों का प्रभाव स्थायीभावों को जागृत तथा उद्दीप्त करने में रहता है, क्योंकि विभावगत आलम्बन रूप स्थायीभाव को जागृत करने तथा विभावगत उद्दीपन रूप जागृत हुए स्थायी भाव को उद्दीप्त करने में सहायक होते हैं। इसी प्रकार अनुभाव-नामक भावभेद के विविध रूपों से जागृत तथा उद्दीप्त हुए स्थायीभाव की स्थिति का अनुभव हो पाता है। ये स्थायीभाव की पूर्वोक्त दशा को सूचित करने में अनेक तरह से सहायक होते हैं। स्थायीभाव की जागृत तथा उद्दीप्त अवस्था में मन की जो विशेष दशा हो जाती है वह भी अपने प्रभाव के अनुसार स्थायीभाव का तत्कालीन दशा का अनुभावक होती है। इसी तरह गात्र, वाणी तथा बुद्धिगत कार्य-व्यापारों के माध्यम से भी स्थायीभाव की उद्बुद्धावस्था का बोध होता है। इसीलिये मन, वाक्, तन और बुद्धि के आधार पर अनुभावों के विविध रूपों को स्वीकार किया गया है। रस परिचय के इस प्रस्तुत प्रसंग में अनुभाव तथा उसके विविध रूपों की परिचयात्मक चर्चा केवल इसलिये आवश्यक हो जाती है कि इनके अनुभावक प्रभाव का सहयोग मिले बिना स्थायीभावों को काव्यानन्द की रसमयता नहीं प्राप्त हो सकती। अनुभावों के ही समान रसानुभूति के लिये व्यभिचारी तथा सात्त्विक-नामक भावभेदों की आवश्यकता होती है। शारदातनय ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से स्थायीभावों के साथ व्यभिचारी आदि भावों के पारस्परिक सम्बन्ध का विस्तृत विवेचन किया है जो भाव वर्णन के पिछले प्रसंग में यथास्थान द्रष्टव्य है। यहाँ केवल इतना ही कह देना यथेष्ट है कि स्थायीभाव को परिपुष्ट करके उन्हें आनन्द की रसमयी अवस्था में पहुँचाने वाले ये सात्त्विक तथा व्यभिचारी-भाव ही होते हैं। इस प्रकार जिस आनन्द को रस कहा जाता है उसकी रसमयता तथा आनन्दमयता को उत्पन्न करने में इन भाव भेदों की कारणता रहती है। शारदातनय ने वस्त्र एवं घट निर्माण की प्रक्रिया के साथ समानता

उपस्थित करते हुए भाव तथा रस के बीच की कार्य-कारण भाव-मलक स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास किया है[१]।

प्रस्तुत प्रसंग की चर्चा रसोत्पत्ति के सन्दर्भ में आगे चलकर विशेष रूप से चर्चित होगी, अतः पिष्ट-पेषण से बचने के लिये यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि रस परिचय के लिये भाव-भेदों के प्रभाव एवं उनके सहयोग का परिचय आवश्यक है। वास्तव में विभावादि भाव-भेदों का महत्त्व पूर्ण सहयोग स्थायी भाव को ही प्राप्त होता है और इनके सहयोग का योगदान स्थायीभाव की रसात्मकता में विलीन होकर इस प्रकार तद्रूपता ग्रहण कर लेता है कि रसबोध की आनन्दमयी दशा में प्रत्येक भाव के अंशदान का विलीनभूत रूप किसी भी प्रकार से अलग नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि स्थायीभाव की प्रवहमान चिरधारा में विभावादि के के सहयोग का परिणाम, जलनिधि तरंगों की विविध स्थितियों के समान एक रूपात्मकता प्राप्त कर होता है जैसा कि व्यभिचारीभावों के वर्णन प्रसंग में हमारे विद्वान् आचार्य ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। परिणामतः रस के रसरूपत्व में—किस भाव का प्रभावमूलक अंशदान किस रूप में, किस सीमा तक विद्यमान है इसे अलग करके बता सकना सम्भव नहीं है। स्थायीभाव की रसरूपता को सिद्ध करने में सहयोग देते हुए सभी भाव उपस्थित होते हैं, किन्तु उसकी क्रमिक स्वादमयता की अभिवृद्धि के साथ साथ इनका स्वत्व तथा अस्तित्त्व-परक योगदान इस प्रकार तादात्म्यता ग्रहण कर लेता है कि रस की दशा में सभी एक होकर रसरूप ही रहते हैं। काव्यानन्द की रसात्मकता को अलौकिक स्वीकार करने का यह भी एक आधार है। भाव एवं रस की तादात्म्यता को शारदातनय ने भारवि के "प्रियेऽपरा यच्छति वाचमुन्मुखी" इत्यादि श्लोक से करते हुए स्पष्ट किया है[२]।

रससम्प्रदाय और शारदातनय

रस-विमर्श के प्रसंग में आचार्य शारदातनय ने अपने समय तक की प्रचलित समस्त काव्य-शास्त्रीय मान्यताओं पर विचार करते हुए रस-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा में

---

१. यथा हि तन्तवो वेमतुर्यादिक्रिययान्विताः।
पटात्मना परिणताः पटवाच्या भवन्ति ते ॥
यथा मृदो दण्डचक्रकुलालादिभिरन्विताः।
घटात्मना परिणता घटवाच्या भवन्ति च ॥
तथैव स्थायिनो भावा विभावादिभिरन्विताः।
रसात्मना परिणता रसवाच्या भवन्ति ते ॥

भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ५८, पं० १७-२२।

२. तादात्म्यं भावरसयोर्भारविः स्पष्टमूचिवान्।

भा० प्र० - द० अधि० पृ० ३०५, पं० १८, २०-२३।

बहुमूल्य योगदान किया है। विद्वान् विवेचक ने अपनी मान्यताओं में समर्थन में कतिपय पूर्ववर्त्ती आचार्यों का भी उल्लेख किया है। यह एक ऐसा तथ्य है जो स्पष्ट करता है कि शारदातनय अपने पूर्ववर्ती साम्प्रदायिक आचार्यों के प्रेरणापूर्ण सहयोग का आभार स्वीकार करते हैं। रससम्प्रदाय के ऐतिहासिक विकास-क्रम को भी हमारे आलोच्य ग्रन्थकार की इन स्वीकृतियों के आधार पर समझा जा सकता है। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों में इन्होंने सर्वप्रथम वृद्ध भरत का उल्लेख किया है और बृहन्नाट्य-शास्त्र का संकेत किया है। इस अनुमान के पर्याप्त आधार विद्यमान हैं कि आचार्य भरत के उपलब्ध नाट्यशास्त्र से बहुत पहले ही बृहन्नाट्यशास्त्र विद्यमान था। इस शास्त्र के प्रणेता भरत ही कहे जाते हैं। उपलब्ध नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि से बृहन्नाट्य शास्त्र के रचयिता आचार्य वृद्धभरत का पार्थक्य स्पष्ट करने के लिये ही प्रथम भरत के आगे वृद्ध विशेषण रूप में प्रयुक्त है। यद्यपि वृद्ध-भरत का नाट्यशास्त्र उपलब्ध नहीं है, किन्तु उपलब्ध नाट्यशास्त्र पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि भरतमुनि ने परम्परागत नाट्यशास्त्र के स्वरूप को ही संक्षिप्त रूप देकर प्रस्तुत किया है जो आज प्राप्त है। वस्तुतः भरतमुनि के वर्तमान नाट्यशास्त्र में नाट्यशास्त्र विषयक सिद्धान्तों तथा व्यावहारिक रूपों को जिस प्रौढ़ता के साथ उपस्थित किया है उसे किसी एक व्यक्ति द्वारा किसी एक समय में प्रस्तुत किये जाने वाले चिन्तन विशेष का परिणाम मात्र नहीं माना जा सकता। भरत मुनि ने नाटक के आवश्यक तत्त्वों की चर्चा के प्रसंग में विविध अवयवों का अभिनय की यथार्थ स्थितियों के साथ समन्वय करते हुए जिस प्रौढ़ता से विवेचन किया है, उसके सैद्धान्तिक, आधार को पूर्ववर्ती विचारकों की परम्परागत मान्यताओं का फल ही मानना उपयुक्त है। यह एक ऐसा तथ्य है जिसे शारदातनय ने वृद्ध भरत का उल्लेख करते हुए स्वीकार किया है। शारदातनय की मान्यताओं के अनुसार यह कहा जा सकता है कि नाट्य की अभिनयात्मक प्रक्रिया द्वारा प्राप्त होने वाले आनन्द पर सबसे पहला प्रामाणिक एवं शास्त्रीय विवेचन वृद्ध भरत ने अपने बृहन्नाट्यशास्त्र में प्रस्तुत किया। भरत मुनि ने इसी पूर्व प्रचलित मान्यता के आधार पर अपने नाट्यशास्त्र का निर्माण किया है। इस प्रकार भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में उपस्थित की गयी रस विषयक विचार सरणि का स्वरूप परम्परा प्राप्त है। अस्तु, हमारे आलोच्य आचार्य ने भरत मुनि के रस सूत्र को ही अपनी रस विषयक मान्यताओं का आधार बनाया है।

भरत मुनि को ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने स्थायी भाव को ही विभा-वादि के सहयोग से रस रूप में परिणत होने वाला तत्त्व बताया है। वासना रूप में अन्तःस्थिति में स्थायी रूप मे विद्यमान रहने वाले भाव ही विभाव द्वारा जागृत तथा उद्दीप्त और अनुभावों द्वारा अनुसूचित एवं व्यभिचारियों द्वारा सम्पुष्ट होकर

आस्वाद्य बन जाते हैं इस प्रकार की आस्वाद्यता के लोकोत्तर-स्तर पर अनुभवगम्य होने वाले स्थायी भाव ही रस कहे जाते हैं। स्मरणीय है कि शारदातनय ने भरत मुनि के रस सूत्र की अलग-अलग व्याख्याएँ उपस्थित करने वाले विविध आचार्यों की विवेचनाओं पर भी समुचित ध्यान दिया है। इन्होंने विभिन्न स्थलों पर ऐसे व्याख्याकारों से कहीं-कहीं अपनी सहमति भी व्यक्त की है और जहाँ कहीं आवश्यक प्रतीत हुआ है वहाँ विरोधपूर्वक अपनी असहमति भी प्रकट की है। स्पष्ट है कि रस के विषय में शारदातनय की एक अपनी दृष्टि है जिसका आधार भरत मुनि का रस सूत्र है। इस सूत्र की व्याख्या का जो स्वरूप हमारे आचार्य शारदातनय की रसविषयक दृष्टि के मेल में पहुँचा दिखाई देता है उसे तो ये सहर्ष स्वीकार करते हैं, किन्तु अपनी मान्यता से बे-मेल रखने वाले सभी विचारों का या तो ये खण्डन अथवा उनकी उपेक्षा कर जाते हैं। आश्चर्य का विषय है कि जब अधिकांश विचारक किसी एक सरणी का अनुसरण कर रहे हों उस समय आपने विभिन्न सैद्धान्तिक सरणियों का परिचय देते हुए भी अपनी मौलिकता के आधार पर अन्य लोगों का अन्धानुकरण नहीं किया। यही कारण है कि शारदातनय की मान्यताओं में परम्परागत विचारों तथा विश्वासों का अद्भुत संगम दृष्टिगोचर होता है। विचार संग्रह की जैसी धुन हमारे इस आचार्य के विवेचनों में प्राप्त होती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। इतना होते हुए भी इन्हें पूर्ववर्ती विचारों का संकलन कर्ता मात्र नहीं कहा जा सकता। परम्परागत विचारों को स्वीकार अथवा अस्वीकार करते हुए भी इन्होंने अपनी रस-विषयक मान्यताओं को दृढ़ता पूर्वक उपस्थित किया है। ऐसा करते समय बहुत सी प्रचलित मान्यताओं के साथ इनके विचारों का विरोधभाव स्वतः झलक उठता है। विरोध और मेल के बीच से ही इनकी विवेचनाओं का राजपथ प्रशस्त होता है। इस पथ के निर्माण में हमारे आलोच्य आचार्य को उस राही के समान अपने निष्कर्ष रूप गन्तव्य तक पहुँचना पड़ा है जिसे कण्टकाकीर्ण उलझी हुई लताओं के जाल में अस्त-व्यस्त बीहड़ आरण्य-मार्ग से गुजरना पड़ता है। यह विचारों तथा भावनाओं के बहुरंगी फूल-फलों से परिपूर्ण मानवता का वह अलंघ्य पथ है जो हृदय के भाव विन्दु से उठकर मस्तिष्क के विचार रस से अभिसिंचित होता हुआ अलौकिक सौन्दर्य के आनन्द सागर की तरल तरंगों में विलीन हो जाता है। शारदातनय ने विचारों की सभी पगडण्डियाँ झाँक-झाँक कर देखी है और प्रत्येक युक्तिसंगत स्वीकृतियों को आत्मसात् भी किया है, किन्तु कोई भी विचार चाहे वह बहुचर्चित रहा हो या बहुतों द्वारा समर्थित ही क्यों न रहा हो उसे आपने स्वीकार नहीं किया, यदि वह आपकी मान्यताओं के विपरीत रहा है। बौद्धिक प्रयास के रस स्वरूप को हम शारदातनय की सद् सद्-विवेकिनी मौलिक प्रतिभा का परिचायक कह सकते हैं। वस्तुतः हमारे आलोच्य आचार्य ने अपनी मान्यताओं का आधार नाट्यशास्त्र तथा कतिपय अलंकार-शास्त्र के ग्रन्थों से ग्रहण

किया है। इनकी रस विषयक दृष्टि के निर्माण में रसोत्पत्ति विषयक अनेक मतों को सहायक माना जा सकता है। शारदातनय ने 'भाव प्रकाशन' में रसोत्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाले निम्नलिखित पाँच मतों का उल्लेख किया है—

प्रथम मत

शारदातनय का रस विषयक सिद्धान्त वृद्धभरत के बृहन्नाट्यशास्त्र तथा भरत के वर्तमान नाट्यशास्त्र के आधार पर प्रतिष्ठित है। इस आधार के अनुरूप ही इन्होंने स्थायी भाव से रस के विकास को स्वीकार किया है। रस की उत्पत्ति के विषय में इनका कथन है कि विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों से ही स्थायी भाव आस्वाद्यत्व को प्राप्त कर रस कहलाता है[1]। इस प्रसंग में विद्वान् विचारक का यह कथन भी सर्वथा परम्परागत है—जिस प्रकार आपानक पदार्थ व्यञ्जनादि से आस्वाद्यमान हो जाता है उसी तरह विभवादियों से आस्वाद्यता को प्राप्त हुआ स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होता है। आचार्य वासुकि भी इसी मत के समर्थक हैं और रसोत्पत्ति का यही क्रम मानते हैं[2]।

द्वितीय मत

शारदातनय ने भट्ट लोल्लट के नाम का उल्लेख किये बिना ही उनके उत्पत्ति-वाद एवं रसाश्रय विषयक मत से अपने विचार की भिन्नता स्पष्ट की है। इनके अनुसार नट को रस का आश्रय नहीं माना जा सकता, क्योंकि आस्वाद का बोध जब सहृदय तथा सामाजिक को होता है तो उसे रामादि अनुकार्य तथा नट आदि अनुकारकों में नहीं स्वीकार किया जा सकता, अपितु सामाजिक में ही उसकी स्थिति मान्य हो सकती है। इतना ही नहीं, अपितु रस की विशेष स्थिति के विषय में भी शारदातनय की युक्तिसंगत मान्यता का भट्ट लोल्लट की मान्यता से स्पष्ट भेद दिखलाई देता है। शारदातनय के अनुसार रस यदि आह्लाद मात्र है तो आनन्दात्मक होने से केवल शृङ्गार को भले ही रस कह लें, करुण एवं बीभत्स आदि को रस कैसे कहा जा सकता है? इस मनोगत प्रश्न का उत्तर उपस्थित करते हुए इन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि भौतिक जीवन में जिस प्रकार मधुर रस का आस्वाद ग्रहण करने वाले व्यक्ति को तिक्त, अम्ल आदि रस भी अच्छे लगते हैं उसी तरह रुचि-

---

१. विकारो मानसो यस्तु बाह्यार्थालम्बनात्मकः।
विभावाद्याहितोत्कर्षो रस इत्युच्यते बुधैः॥

भा० प्र०—द्वि० अधि० पं० ९–१०।

२. इति वासुकिनाप्युक्तो भावेभ्यो रससम्भवः।
तस्माद् रसास्तु भावेभ्यो निष्पद्यन्ते यथार्हतः॥

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३७ पं० १-२।

वैचित्र्य की स्थिति में तथा स्वाद भेद की उपयुक्तता के सातत्य में करुण आदिरस भी आह्लादक होते हैं[१]।

तृतीय मत

रस सिद्धान्त के अनुसार अहंकार की अभिनयात्मक स्थिति ही रसत्व को प्राप्त करती है। वास्तव में अभिमान अहंकार की ही एक वृत्ति विशेष का नाम है। यह विभिन्न भावों तथा सत्त्व, रज तथा तमोगुण के अनुरूप विविध रूप ग्रहण करता है। इस सिद्धान्त के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस समय सामाजिक व्यक्ति नाट्य दर्शन में मग्न रहता है उस समय उसकी अभिमानात्मक वृत्ति (अहंकार) उसे रामादि अनुकार्यों की परिस्थिति में डाल देती है। यही वह मानसिक दशा है जब समाजिक व्यक्ति अपनी अभिमानात्मक वृत्ति (अहंकार) का अनुभव करते हुए अपनी वैयक्तिक स्थिति को भूल जाता है और रामादि अनुकार्यों के ही सुख आदि का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार एक ही अहंकार के आधार पर सामाजिक व्यक्तियों को विविध परिवेशों तथा अनुकार्यगत भावों के अनुसार आठ प्रकार के रसों का अनुभव होता है। वास्तव में जिस प्रकार की परिस्थिति में जैसा मनोभाव रहता है तदनुरूप ही अहंकार या अभिमान भी अपने आपको परिवर्तित कर लेता है। इस सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए विचार करने पर विविध मनोभावों के अनुसार अहंकार या अभिमान का जो परिवर्तित रूप अनुभवगम्य होता है, उसी को रस कहा जाता है[२]।

शारदातनय के इन विचारों का उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में नहीं है। सम्भवतः वृद्धभरत के वृहद-नाट्यशास्त्र में इसका उल्लेख किया गया हो, किन्तु भोज ने श्रृङ्गार-प्रकाश में इसका उल्लेख किया है। 'योगमाला संहिता' में बताया गया है कि शिव ने सूर्य को इस सिद्धान्त का उपदेश किया और वहीं पर शिव ने ताण्डव, नृत्त, लास्य, नाट्य और नर्त्तन के विषय में भी बताया है। इससे स्पष्ट है कि शारदातनय ने भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित सिद्धान्तों तथा विचारों का सम्यक् प्रकार से संरक्षण करते हुए भी अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओं की स्थापना में उन सभी विचारकों के विचारों से सहयोग लिया है जो भरत मुनि के शास्त्रीय दृष्टिकोण से व्यवहारतः एवं यथार्थतः प्रतिकूल प्रतीत नहीं होते, अपितु उनकी मान्यताओं के मूल आधार को उपस्थित करने में सहयोगी सिद्ध होते हैं।

---

१. एवं सङ्करतोऽन्योन्यं देशकालगुणादिभिः ।
श्रृङ्गाराद्याः सदस्यानां भवन्ति ह्लादना यतः ॥

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४० पं० ११–१२ ।

२. भावप्रकाशनम् द्वि० अधि० पृ० ४२-४६ तक ।

चतुर्थ मत

शान्तरस के सन्दर्भ में शारदातनय ने 'पद्मभू' के मत का उल्लेख किया है। पद्मभू से अभिप्राय ब्रह्मा से अथवा किसी अन्य पद्मभू नामक आचार्य से है यह तो नहीं कहा सकता, किन्तु शारदातनय ने पद्मभू के मत का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि नाट्य में शान्तरस की स्थिति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि 'शम' नामक भाव कभी अभिनेय नहीं हो सकता। 'शम' में सभी प्रकार के मानसिक विकारों का विलय हो जाता है। 'शम' अथवा निर्वेद की दशा में अहंकार की स्थिति भी शेष नहीं रह जाती। अतः शान्तरस के रूप में अहंकार के परिवर्तन को भी नहीं स्वीकार किया जा सकता। इसलिये नाट्य रसों की आठ संख्या ही शारदातनय को मान्य है[1]।

पंचम मत

रसोत्पत्ति के पंचम मत के रूप में शारदातनय ने 'नारद' की चर्चा की है। आपका कथन है कि रसोत्पत्ति के विषय में वासुकि ने जो कुछ कहा है उसी का समर्थन नारद ने भी किया है[2]। वास्तव में नारद ने भी रस को अहंकार का ही विकार स्वीकार किया है। इन्होंने पद्मभू के विचार से भिन्न शान्तरस की सत्ता स्वीकार की है। इस विषय में नारद का कथन है कि जिस समय सत्त्वात्मक मनोभाव रहता है और उसका रजोगुण तथा तमोगुण से भी सम्बन्ध नहीं होता अर्थात् इस सत्त्वात्मक मनोवृत्ति से बाह्य पदार्थों का स्पर्श तक नहीं बन पाता, तब शान्तरस की स्थिति मानी जा सकती है। शान्त रस विषयक इस मत का निर्वाह नाट्येतर काव्यों में माना जा सकता है।

शारदातनय ने उपर्युक्त पाँचों मतों का प्रसंगानुसार "भावप्रकाशनम्" में उल्लेख किया है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम ने ऊपर के प्रसंग में प्रत्येक मत को लेकर शारदातनय की दृष्टि विशेष की समीक्षा प्रस्तुत की है। जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि हमारे आलोच्य आचार्य ने अपने पूर्ववर्ती तथा सम-सामयिक रसवादी तथा कतिपय अन्य विचारकों की मान्यताओं पर सापेक्ष दृष्टि

---

१. अस्य सर्वविकाराणां शून्यत्वात्तु रसात्मना।
परिणेतुं न शक्नोति तस्माच्छान्तस्य नोद्भवः।
तस्मान्नाट्यरसा अष्टाविति पद्मभुवो मतम् ॥

भा० प्र०—पृ० ४७ पं० ८-१०।

२. उत्पत्तिस्तु रसानां या पुरा वासुकिनोदिता।
नारदस्योच्यते सैषा प्रकारान्तरकल्पिता ॥

भा० प्र०—द्वि० अधि० पं० ४७ पं० ११-१२।

रखते हुए रस सिद्धान्त विषयक अपने विवेचनों को उपस्थित किया है। ऐसा करते समय जहाँ किसी विचारक की युक्ति के साथ अपने दृष्टिकोण का मेल दिखायी दिया है वहाँ उस विचारक के उपयुक्त पक्ष का इन्होंने समर्थन किया है। इसके विपरीत जहाँ किसी आचार्य की चिन्तन पद्धति से अपनी मान्यताओं के साथ वैषम्य प्रकट हुआ है वहाँ ऐसे विचारों का इन्होंने विरोध भी किया है साथ ही साथ अपने दृष्टिकोण के समर्थन में उपयुक्त प्रतीत होने वाले पक्ष को भी उपस्थित किया है।

शारदातनय की रस विवेचन पद्धति

"भावप्रकाशनम्" के वर्ण्य विषय की चर्चा करते समय आचार्य शारदातनय ने रस विमर्श विषयक अपनी दृष्टि को प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम अधिकार के पृष्ठ तीन पर ही स्पष्ट कर दिया है। इसके सम्बन्ध में इन्होंने ऐसे बीस तथ्यों का उल्लेख किया है जो इस ग्रन्थ में वर्णित रस प्रसंग की समग्र स्थितियों को व्यक्त करने वाले हैं। शारदातनय के अनुसार रस विवेचन क्रम में अपनाये गये दृष्टिकोण को व्यक्त करने वाले ये बीस तथ्य इस प्रकार हैं[1]—

१–रसपरिचय, २–रसभेद, ३–रस भेदोपभेद, ४–रस जन्म, ५–रसों के नाम, ६–रसों का पारस्परिक जनकत्व, ७–रसों का पारस्परिक जन्यत्व, ८–प्रधानत्व, ९–पारस्परिक साङ्कर्य, १०–मेल, ११-रस साङ्कर्य से उत्पन्न विशेष सिद्धि, १२–रसों की व्यंग्यता, १३–रसों की वाच्यता, १४–रसों की मैत्री, १५–रसों की विरोधिता, १६–रसों का काल नियम, १७–रसों के वर्ण, १८–रसों के देवता, १९–रसों के स्थायी-संचारी भेद; २०–रसों की दृष्टियाँ।

वस्तुतः शारदातनय ने रस विवेचन क्रम में अत्यन्त व्यापक दृष्टि अपनायी है। इन्हें रस निष्पत्ति में सहायक समस्त तत्त्वों के विविध गुणों का प्रत्येक रस के साथ सम्यक् सन्निवेश भी अभीष्ट है। इसलिये भाव वर्णन क्रम में जिन भाव-भेदों, उपभेदों, प्रत्येक के गुण-धर्म तथा विभिन्न स्थितियों का वर्णन किया जा चुका है, उन सभी का एक-एक करके विविध रसों के साथ निर्वाह तथा उनका स्वरूप भी दिखलाया गया है। स्मरणीय है कि विभाव, अनुभाव, सात्त्विक एवं व्यभिचारी भावों की अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् विशिष्टताएँ रहती हैं और प्रत्येक के गुण-धर्म की स्थितियाँ भी अलग-अलग होती हैं। ऐसा कोई भी एक रस नहीं माना जा सकता जिसमें विभावादि भावों के समस्त गुण-धर्म तथा प्रभावोत्पादक परिवेशों का एक साथ निर्वाह हो सके। शारदातनय ने रस-भेद के अनुरूप भाव भेद तथा उनके गुण-धर्म एवं परिवेशात्मक स्वरूपों का अलग-अलग वर्णन करते हुए प्रत्येक रस की निष्पत्ति में सहायक सिद्ध

---

१. भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ४, पं० ४-५।

होने वाले भाव-रूप, भाव-गुण, धर्मादिकों के सन्निवेश एवं संनियोजन का युक्तिसंगत स्वरूप भी स्पष्ट कर दिया है।

ऐसे अवसरों पर सामान्य रस तथा रस विशेष के अनुभवगम्य स्वरूप का इन्होंने परिचयात्मक वर्णन किया है। वर्णन की परिचयात्मक शैली में रस विशेष के पारिभाषिक स्वरूप को भी स्पष्ट कर दिया गया है। रस परिचय के इस क्रम में प्रत्येक रस के नाम को ध्यान में रखते हुए उसके सुप्रसिद्ध अर्थ वाले नाम पद की व्युत्पत्ति-मूलक स्थिति का सम्यक् निर्वाह भी दिखलाया गया है।

शारदातनय ने रस भेद के वर्णन क्रम में स्थायी भाव की मुख्यता के आधार पर मूल-रस के रूप में श्रृङ्गार की स्थिति को स्वीकार किया है और अन्य रसों के विकास क्रमों का एक-एक करके युक्तिसंगत विश्लेषण प्रस्तुत किया है। रसों के जन्य-जनकत्व भाव, प्रधानत्व तथा अप्रधानत्व, साङ्कर्य, मेल, विरोध आदि का वर्णन करने के साथ ही साथ उनकी व्यंग्यता तथा वाच्यता पर भी विचार किया गया है। रस वर्णन प्रसंग में काल नियम, वर्ण, देवता तथा प्रत्येक रस के विविध भाव, रस विषयक दृष्टि एवं गति का भी विवेचन 'भावप्रकाशनम्' में किया गया है। विद्वान् आचार्य ने रसाश्रयता एवं रसानुभूति में चित्तवृत्ति के महत्त्व तथा प्रत्येक रस के आलम्बन की विशेषता आदि का भी विवेचन किया है। आगे के प्रसंगों में 'भावप्रकाशन' के आधार पर रस विषयक चर्चा को वर्गीकृत रूप में प्रस्तुत किया जायगा।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि शारदातनय की दृष्टि नाट्य विषय की ओर विशेष रूप से रहती है। अतः भावों की अभिनेयता को ध्यान में रखते हुए इन्होंने रसों की आठ संख्या बतलायी है और 'शम' तथा 'निर्वेद' को अभिनय की दृष्टि से अनुपयुक्त मानते हुए 'शम' एवं 'निर्वेद' की स्थिति में सब प्रकार के विकारों की शून्यता के आधार पर शान्तरस को रस रूप में स्वीकार नहीं किया है। रसों में श्रृङ्गार का स्थान सर्वोत्कृष्ट बताया गया है। वस्तुतः मन को आह्लादित करने वाला स्वाद ही रस कहा गया है[1]। शारदातनय के अनुसार श्रृङ्गार ही आह्लादजनक होता है। अतः रस का सम्बन्ध श्रृङ्गार से ही है। अन्य रसों की रसता तो प्रायः अन्य कारणों से सिद्ध होती है। ऐसे कारणों में देश, काल गुण तथा प्रकृति एवं अवस्था आदि की विविधता से अन्य रसों की स्थितियाँ ज्ञात होती हैं[2]। शारदातनय के नाट्य कर्म में सभ्यों की मनोवृत्ति के आठ रूपों

१. मनसोऽह्लादजननः स्वादो रस इति स्मृतः।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४० पं० २।

२. भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४० पं० ३-१६।

का उल्लेख करते हुए मनोवृत्तिगत अनुभूतियों के आधार पर रसों के भी आठ भेद निरूपित किये हैं[१]। इस प्रसंग में भी हमारे विद्वान् आचार्य ने नाट्य कर्म में शान्तरस की स्थिति के विपरीत मत व्यक्त किया है[२]। इस सन्दर्भ में 'पद्मभू' वासुकि एवं नारद की चर्चा करते हुए आठ रसों की उद्भावना के क्रम में सर्वप्रथम शृङ्गार रस का उल्लेख किया गया है और उसे बाह्य विषयालम्बन वाले अहंकार युक्त रजः स्थित मन का विकार कहा गया है[3]। शृङ्गार रस की चर्चा के प्रसंग से हमारे विद्वान् आचार्य ने व्युत्पत्तिगत स्थिति को ध्यान में रखते हुए भी शृङ्गार के रस श्रेष्ठत्व का विवेचन किया है। देश, काल, अवस्था (वय), द्रव्य, गुण, प्रकृति एवं कर्म तथा भावों में जो उत्तम होता है उसी को शृंगार कहा जाता है। इस प्रकार 'शृंग' पद श्रेष्ठता का अर्थ व्यक्त करता है। जिस रस से सामाजिक उत्तम स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं उसे शृङ्गार कहते हैं[४]।

शारदातनय ने सामवेद से शृङ्गार रस की उत्पत्ति बतायी है[५]। इस सम्बन्ध में आपका कथन है कि जगत् की सृष्टि करने में इच्छा रखने वाले परमात्मा ने सामवेद की ऋचाओं का जब स्मरण किया तो उस समय की जो विषयासक्त रति थी वही शृङ्गार बन गयी[६]। इस सन्दर्भ में शारदातनय ने ऋग्वेद से वीररस तथा

---

१. यतोऽष्टधा मनोवृत्तिः सभ्यानां नाट्यकर्मणि।
अष्टावेवानुभूयन्ते तासूडा (क्ता) स्तै रसाः पृथक्॥
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४६ पं० २१-२२।

२. भावप्रकाशनम् पृ० ४७, द्वि० अधि० पृ० ४७ पं० १-१०।

३. बाह्यार्थालम्बनवतो मनसो रजसि स्थितात्।
साहङ्काराद् विकारो यः स शृङ्गार इतीरितः॥
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४७ पं० १३-१४।

४. देशकालवयोद्रव्यगुणप्रकृतिकर्मणाम्।
भावानामुत्तमं यत्तु तच्छृङ्गं श्रेष्ठमुच्यते॥
इयर्ति शृङ्गं यस्मात्तु तस्माच्छृङ्गार उच्यते।
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४८ पं० ६-८।

५. शृङ्गार उदभूत् साम्नः।
भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ५४ पं० १५।

६. सामानि स्मरतस्तस्य स्वरूपव्यक्तिरात्मना।
याचेयमिच्छा जगतां सिसृक्षोः परमात्मनः।
विषयासक्ता रतिः सैव शृङ्गार इति गीयते॥
भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ५५ पं० १-३।

अथर्ववेद से रौद्र एवं यजुर्वेद से बीभत्स की उत्पत्ति बतायी है। हास्य को श्रृङ्गार का अनुकरण कहा गया है और अद्‌भुत को वीर का कर्म बताया गया है। इसी तरह रौद्र की क्रूर क्रिया को करुण रस का उद्‌बोधन माना गया है एवं बीभत्स के कर्म को भयानक। इस प्रकार शारदातनय ने श्रृङ्गार, वीर, रौद्र तथा बीभत्स को प्रधान स्थिति वाले रस बताते हुए हास्य, अद्‌भुत, करुण तथा भयानक को अप्रधान रस माना है। प्रधान रसों के प्रधानत्व का कारण है कि उनकी उत्पत्ति किसी अन्य रस से नहीं होती जब कि अप्रधान रसों की उत्पत्ति जन्म प्रधान रसों पर निर्भर है। जैसा कि पहले भी कहा गया है कि प्रधान रसों में भी श्रृङ्गार का प्रथम स्थान एवं महत्त्व है। अतः आलोच्य ग्रन्थकार की रस वर्णन प्रक्रिया के अनुसार हमारे द्वारा भी सर्वप्रथम श्रृङ्गार पर विचार किया जा रहा है।

रसों का परिचय तथा उनके भेदोपभेद

१—श्रृङ्गार रस

उपस्थापन

"भावप्रकाशनम्" के अनुसार मन को आह्लादित करने वाले स्वाद को ही रस कहा गया है। इस स्वाद की वास्तविक स्थिति श्रृङ्गार रस में ही पायी जाती है। जहाँ तक अन्य रसों का सम्बन्ध है उनकी रसता देश, काल एवं प्रकृति आदि के आधार पर सिद्ध की जाती है। जब कि श्रृङ्गार तो चित्त को आह्लादित करने वाले स्वाद का वास्तविक रूप ही माना जाता है जिसका वर्णन पहले किया गया है। शारदातनय ने रजःस्थित मन के बाह्यार्थ आश्रित अहंकार युक्त विकार को श्रृङ्गार बताते हुए पद्मभू, वासुकि, नारदादि की तद् विषयक मान्यताओं के साथ अपनी सहमति व्यक्त की है। इस प्रसंग में विद्वान् आचार्य ने श्रृङ्गार के रस श्रेष्ठत्व को ध्यान में रखते हुए व्युत्पत्ति क्रम के अनुरूप 'श्रृंग' पद की उत्तमतामूलक उत्पत्ति से श्रृङ्गार पद की व्युत्पत्तिगत स्थिति का सामञ्जस्य स्थापित किया है। इस प्रकार श्रृङ्गार रस की चर्चा के प्रसंग में जहाँ शारदातनय ने लोक प्रसिद्ध श्रृङ्गार रस विषयक मान्यताओं का पूरी तरह संरक्षण किया है वहीं अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों की स्वीकृतियों से अपनी सहमति व्यक्त करते हुए श्रृङ्गार का परिचयात्मक विवरण भी उपस्थित किया है। जैसा हम पहले भी निवेदन कर चुके हैं कि शारदातनय ने रस भेदों के परिचयात्मक स्वरूप को उपस्थित करते समय लोकप्रचलित मान्यताओं तथा पूर्ववर्ती आचार्यों की स्वीकृतियों के अनुरूप उन (रस तथा रसभेदों) के पारिभाषिक स्वरूपों को तो उपस्थित किया ही है इसके साथ ही साथ प्रत्येक के नाम पद की स्थिति को ध्यान में रखते हुए उनके व्युत्पत्तिमूलक विश्लेषण का ऐसा क्रम उपस्थित किया है जो पूर्णतया परिचयात्मक विवृत्तियों के मेल में रहता है। 'श्रृंग'

पद के साथ शृङ्गार पद की व्युत्पत्ति मूलक स्थिति के निर्वचन में शारदातनय की पूर्वोक्त शैली का स्वरूप प्रकट होता है।

उत्पत्ति

रस विषयक परिचयात्मक वर्णन के साथ ही साथ "भावप्रकाशनम्" में रसोत्पत्ति का भी विवेचन किया गया है। ऐसा करते समय रस विषयक ऐतिहासिक स्थितियों को भी शारदातनय ने पूरी तरह से ध्यान में रखा है। जहाँ तक शृङ्गार रस का सम्बन्ध है प्रस्तुत ग्रन्थ में इस रस की सामवेद से उत्पत्ति बतायी गयी है। सृष्टि कर्त्ता परमात्मा की तद् विषयक इच्छा का विषयासक्त रति स्वरूप ही शृङ्गार के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सृष्टि विकास के क्रम बिन्दु पर ही परमेश्वर की सृष्टि विषयक रति ने ही शृङ्गार का रूप ग्रहण किया है। सृष्टि की इच्छा से सामवेद की ऋचाओं का स्मरण करते ही तद् विषयक जिस रति भाव का जागरण हुआ उसी का स्थायी स्वरूप शृङ्गार है। ऐतिहासिक विकास के इस उद्भव पर भी यदि विचार करके देखें तो शृङ्गार का सम्बन्ध उस ईश्वरेच्छा तथा तद् विषयक रति से प्रतीत होगा जो सृष्टि विकास का मूल कारण है। इस विवेचन के अनुसार भी शृङ्गार को आदिम रस के रूप में माना जा सकता है। सृष्टि विषयक इच्छा एवं तज्जनित रति भाव मूलक ईश्वरीय प्रवृत्ति के साथ शृङ्गार के विकास का सम्बन्ध रहने से अलौकिकता की वास्तविक दशा का सन्नियोजन भी इसी मूल रस में स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि अनुभूति को भावात्मक सत्ता का व्यापक प्रभाव, सामाजिक के हृदय की बृद्धावस्था को समाप्त कर उसे वैयक्तिक स्थितियों के बद्धस्तर से ऊपर उठाकर मुक्तावस्था के वैयक्तिक स्वरूप की अलौकिक अनुभूतियों के स्तर पर पहुँचा देता है। इसलिये रसानुभूति की स्थिति में अलौकिकता का सहज सन्निवेश स्वीकार किया जा सकता है, जिसका प्रभावपूर्ण रूप अन्य रस भेदों की अपेक्षा शृङ्गार रस में कहीं अधिक मात्रा में व्याप्त रहता है, किन्तु ईश्वरेच्छा एवं तद् विषयक प्रवृत्तिमयी रति के साथ प्रत्यक्ष रूप में सम्बद्ध रहने वाला शृङ्गार अन्य रसों की अपेक्षा अलौकिक कहे जाने का अधिकारी सिद्ध होता है। शारदातनय ने आन्तरिक अनुभूतियों तथा ऐतिहासिक विकास क्रम की स्थितियों को पूरी तरह ध्यान में रख कर ही शृङ्गार रस को मूल रस के रूप में ग्रहण किया है। जैसा उपर्युक्त प्रसंग में प्रधान तथा अप्रधान रसों की चर्चा करते समय कहा गया है कि शारदातनय ने शृङ्गार को प्रधान रसों के वर्ग का सर्व प्रथम रस स्वीकार करते हुए अपना मन्तव्य व्यक्त किया है और शृङ्गार से ही हास्य के विकास का उल्लेख किया है। इस प्रकार शृङ्गार एवं हास्य में परस्पर जन्य-जनक भाव सम्बन्ध विद्यमान है, क्योंकि शृङ्गार ही हास्य का जनक है।

भेद

अभिव्यक्ति एवं अनुभूति के आधारमूलक तथ्यों को ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने शृङ्गार के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं—१. वाचिक शृङ्गार, २. नैपथ्याश्रित शृङ्गार, ३. क्रियाश्रित शृङ्गार। वस्तुतः सुखमय वृतान्त सुनने में आनन्द दायक प्रतीत होने वाली वचनावली के माध्यम से की गयी अभिव्यक्ति जब अनुभूतिमूलक रति भाव को जागृत एवं आस्वाद्य करती है तो ऐसी स्थिति वाला शृङ्गार वाचिक शृङ्गार कहलाता है। शारदातनय ने शृङ्गार के इस वर्ग में सुवृत्त एवं श्रवणानन्दी पदों का विशेषणरूप में व्यवहार करते हुए वाचिक शृङ्गार की उपर्युक्त विशेषता का ही संकेत किया है[१]।

नैपथ्याश्रित शृङ्गार से शारदातनय का अभिप्राय ऐसे अभिनयाश्रित प्रसाधनमूलक रूपसौन्दर्य से है जिसकी रचना नैपथ्य में होती है। वास, अंगराग, भूषा, माल्य आदिकों द्वारा यौवन प्राप्त अंग का जो प्रसाधन किया जाता है वह शृङ्गार की रसानुभूति को जागृत करनेवाला होता है। इस प्रकार के जागृत शृङ्गार को नैपथ्याश्रित शृङ्गार स्वीकार किया गया है जो आङ्गिक भी कहा गया है[२]।

शृङ्गार के क्रियाश्रित रूप की चर्चा करते हुए शारदातनय ने ऐसे विविध कार्य व्यापारों तथा उनसे उत्पन्न होने वाले आङ्गिक चिन्ह आदिकों का उल्लेख किया है जो रति-नामक स्थायी भाव को जागृत, उद्दीप्त, अभिसूचित तथा सम्पुष्ट करते हुए शृङ्गार रस की अनुभूति कराने में भी समर्थ होता है। दन्तच्छेद, नखच्छेद, मणित, ससीत्कार, चुम्बन, चूषण, हेला, केलि, शयनादि उपचार, संगीतमय कार्यव्यापार जैसे क्रियात्मक भावों द्वारा अनुभवगम्य होने वाला शृङ्गार ही क्रियाश्रित शृङ्गार माना गया है[3]।

शारदातनय ने शृङ्गार के संयोग एवं वियोग दोनों ही रूपों पर विचार किया है। संयोग को इन्होंने संभोग नाम से प्रस्तुत किया है। यद्यपि वियोग में

---

१. सुवृत्तं श्रवणानन्दि शृङ्गारो वाचिको मतः।
भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ६४ पं० २।

२. वासोऽङ्गरागभूषाभिर्माल्यैर्युक्तं प्रसाधितम्।
प्राप्तयौवनमङ्गं यच्छृङ्गारः स्यात् स आङ्गिकः॥
भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ६४ पं० २२।

३. दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यं मणितं च ससीत्कृतम्।
चुम्बनं चूषणं भावो हेलादिः केलयोऽपि च॥
शयनाद्युपचारश्च तथा सङ्गीतकक्रिया।
इत्यादिभावैः कथितः शृङ्गारः स्यात् क्रियात्मकः॥
भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ६५ पं० १-४।

पूर्वराग की चर्चा नहीं की गयी है, किन्तु वियोग, अयोग और संभोग नामों से श्रृङ्गार के तीन भेदों का उल्लेख करते हुए[1] अयोग के रूप में पूर्वराग की स्थिति का ही संकेत प्रतीत होता है। अयोग की चर्चा करते हुए शारदातनय का कहना है कि विभावादिकों के सहयोग से नायक और नायिकों में जागृत, उद्दीप्त एवं सम्पुष्ट हुए रति भाव की स्थिति में भी यदि संगति न दिखायी दे तो उसे अयोग की अवस्था का रूप मानना चाहिए[2]। वास्तव में रति-भाव के उद्‌बुद्ध होने की ऐसी अनेक स्थितियों के रूप अनुभूत होते हैं जिनमें नायक-नायिका की परस्पर संगति नहीं हो पाती। शारदातनय ने इन स्थितियों का भी उल्लेख किया है जो इस प्रकार है—नायक-नायिका का परस्पर साक्षात् दर्शन, प्रतिकृति (चित्र) की उपलब्धि, स्वप्न, छाया एवं मायादिगुण। इनके विषय में शारदातनय का कथन है कि महाकवियों के प्रबन्धों में इन स्थितियों के अनेक रूप प्राप्त होते हैं[3]। श्रृङ्गार के भाव-क्षेत्र में अयोग की अवस्था से नायक-नायिका की ऐसी अनुभूति-परक विकलता का बोध होता है, जिसमें रति-भाव का उद्‌बुद्ध रूप श्रृङ्गार रस के आस्वाद्य स्तर पर पहुँच कर भी नायक-नायिकाओं के बीच की असंगति के कारण वियोग की ही अवस्था को व्यक्त करता है। इस प्रकार श्रृङ्गार के अयोग-रूप में एक ओर तो रति के आस्वाद्य एवं आह्लादक स्वरूप की सत्ता रहती है, दूसरी ओर असंगति के प्रभाव से संभोग सुख की अनुभूति भी बाधित हो जाती है। वियोग की चर्चा करते शारदातनय का कहना है कि संभोग मग्न नायक-नायिकओं के पारस्परिक विलगाव (विप्रकर्ष) को ही वियोग कहा जाता है[4]।

शारदातनय की उपर्युक्त मान्यता के अनुसार अयोग एवं वियोग के बीच दिखायी देने वाले अन्तर को संभोग की स्थिति भेद के आधार पर ही स्पष्ट किया जा सकता है। अयोग में संभोग की स्थिति नहीं रहती है। इसे अप्राप्त संभोग की अनुभूति-परक व्याकुलतामयी दशा का सूचक कहा जा सकता है। अयोग में असंगति

---

१. वियोगायोगसंभोगैः श्रृङ्गारो भिद्यते त्रिधा।

भा० प्र०—चतु० अधि० पृ० ८५ पं० १४।

२. परस्परं विभावाद्यैर्यूनोरुद्‌भूतरागयोः।
असंगतिरयोगोऽस्मिन् दशावस्था द्वयोरपि॥

भा० प्र०—चतु० अधि० पृ० ८५ पं० १५-१६।

३. भा० प्र०—चतु० अधि० पृ० ८५ पं० १७-२०।

४. वियोगो विप्रकर्षः स्याद् यूनोः सम्भोगमग्नयोः।

भा० प्र०—चतु० अधि० पृ० ८५ पं० १५-१६।

शक्ति की चमत्कारपूर्ण स्थिति में सामाजिकों को चमत्कृत करने की विशेष क्षमता रहती है। शारदातनय के उपर्युक्त विवेचन में इस तथ्य को आधार रूप में ग्रहण किया गया है।

कुछ लोगों ने मरण की स्थिति के आधार पर मान एवं प्रवास की तरह वियोग के करुण रूप का भी उल्लेख किया है। शारदातनय ने मान जनित प्रलाप में शोक की स्थिति को ही स्वीकार किया है। इसी आधार पर इन्होंने वियोग के करुण रूप को श्रृङ्गार के अन्तर्गत स्वीकार न करते हुए उसे करुण रस के ही अन्तर्गत माना है। इस प्रसंग में आपने एक और स्थिति का भी उल्लेख किया है। इनका कहना है कि यदि मरण, प्रत्युज्जीवन की आकांक्षावश सापेक्ष रूप में उपस्थित होता है तो उसे वियोगजनित साधारण दुःख का ही रूप कहा जा सकता है[1]। वियोग एवं अयोग में श्रृङ्गार रस की जो स्थिति है उसे शारदातनय ने ग्रामान्त में ग्राम की स्थिति के समान स्वीकार किया है[2]।

श्रृङ्गार रस के संभोग रूप की चर्चा के प्रसंग में शारदातनय ने भोग को सुख साधन रूप स्वीकार करते हुए उसी को शृङ्गार विशेष प्रमाणित किया है। इस सन्दर्भ में भोग, उपभोग एवं सम्भोग को परस्पर पर्यायवाची माना है। यद्यपि प्राणिमात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति सम्भोग विषयक रति में रहती है, किन्तु मुख्य वृत्ति से इस शब्द का व्यवहार नायक-नायिका की अनुराग वृत्ति के अर्थ में होता है। यहाँ शारदातनय का कथन है कि यद्यपि मूलतः भोग, उपभोग एवं सम्भोग तीनों ही शब्द समानार्थक हैं तथापि भोग्य द्रव्य के उपभोग अर्थ में भोग एवं उपभोग शब्दों का उपयोग होता है। देश एवं काल के अनुसार कहीं भोग शब्द तथा कहीं उपभोग शब्द का व्यवहार भोग्य वस्तु के उपभोग अर्थ में होता है।

शारदातनय ने सम्भोग पद की व्याख्या करते हुए कामोपचार को सम्भोग कहा है। इस पद में काम एवं उपचार पदों की सामाजिक स्थिति विद्यमान है। इन्हें अलग-अलग रूपों में स्पष्ट करते हुए आपने काम को स्त्री पुरुषों का सुख कहा है। यह सुख पारस्परिक मर्दन से उत्पन्न होने वाला आनन्द रूप ही है। इस प्रकार कामोपचार के 'काम' पद का सम्बन्ध मुख्य पद से स्थापित करते हुए सुख पद को स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक विमर्दन से उत्पन्न होने वाले आनन्द के साथ जोड़ दिया है। इस सन्दर्भ में उपचार पद का विवेचन करते हुए शारदातनय ने उस आनन्द

---

१. भा० प्र०—च० अधि० पृ० ८८ और ८७ पं० १८ से ६ तक।

२. अतः श्रृङ्गारसंज्ञाऽत्र ग्रामान्ते ग्रामशब्दवत्।

भा० प्र०—चतु० अधि० पृ० ८७, पं० ४।

रूप सुख को उत्पन्न करनेवाले कर्म विशेष का नाम उपचार बताया है[1]। सम्भोग को कामोपचार रूप में ग्रहण करते हुए शारदातनय ने अपनी स्वीकृतियों का व्यापक आधार उपस्थित कर दिया है। वस्तुतः प्रस्तुत सन्दर्भ में वर्णित सम्भोग पद का सम्बन्ध स्त्री-पुरुष के पारस्परिक विमर्दन जनित सुख से है जिसे आनन्द नाम से भी व्यहृत किया गया है। शारदातनय ने सुख की इस आनन्दमयी अनुभूति के साथ उपचार पद से व्यञ्जित होने वाले कर्म विशेष को भी उस आनन्द का ही अभिन्न अंग स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट है कि सम्भोग में स्त्री-पुरुष के विमर्दन जनित आनन्द के साथ ही उस विमर्दन व्यापार का भी योगदान स्वीकृत है, क्योंकि शारदातनय ने विमर्दन जनित आनन्द से तत्कारक कर्म को पृथक् रखना सम्भोग की व्यावहारिक स्थिति के सर्वथा प्रतिकूल समझा है। उपर्युक्त मान्यताओं के अनुसार शारदातनय को ध्यान में रखते हुए यदि सम्भोग पद को पारिभाषिक रूप में उपस्थित किया जाय तो कहा जा सकता है कि शारदातनय ने नायक-नायिका के पारस्परिक विमर्दन जनित आनन्द तथा तत्कारक कर्म के मिश्रित रूप को ही सम्भोग स्वीकार किया गया है[2]।

विद्वान् आचार्य ने सम्भोग के चर्चा प्रसंग में इसे पुनः युवक-युवतियों के पारस्परिक स्पर्श विशेष से उत्पन्न होने वाले सुखात्मक अभिमान एव संकल्प फलवान् काम की संज्ञा दी है[3]। यहाँ आते-आते शारदातनय की दृष्टि आन्तरिक अभिमानमय अहंकार की अनन्तमूलक परिणति की ओर प्रवृत्त दिखायी देती है। इन्होंने रस की आनन्दमयी स्थिति को इसी अहंकार एवं अभिमान वृत्ति का परिणाम बताया है जिसकी चर्चा पीछे के प्रसंगों में आ चुकी है। सम्भोग के प्रकारों पर विचार करते हुए शारदातनय ने उसके चार भेद बताये हैं जो इस प्रकार हैं—१. मित, २. संकर, ३. सम्पन्न, ४. समृद्धिमान्[4]। मित की चर्चा करते हुए शारदातनय ने इसे सम्भोग

---

१. भा० प्र० चतु० अधि० पृ० ७७ पं० ३-१२।

२. कामोपचारः सम्भोगः कामः स्त्रीपुंसयोः सुखम्।
सुखमानन्दसम्भेदः परस्परविमर्दजः॥
उपचारस्तदानन्दकारकं कर्मकथ्यते।
भा० प्र०—चतु० अधि पृ० ७७ पं० १०-१२।

३. यूनोः परस्परस्पर्शविशेषविषयीकृतः।
सौख्याभिमानसङ्कल्पफलवान् काम इष्यते॥
भा० प्र०—चतु० अधि० पृ० ८७ पं० ८-९।

४. स मितः सङ्करश्चेति सम्पन्नश्च समृद्धिमान्।
भा० प्र०—चतु० अधि० पृ० ८७ पं० १०।

का ऐसा रूप बताया है जिसमें नायक-नायिकाओं द्वारा पारस्परिक कार्य व्यापारों की सहायता से प्रथम सम्भोग में स्वल्प प्रवृत्ति पायी जाती है।

प्रसन्नता में भी जहाँ विपरीत स्मृतिवश क्रोध आदि का सन्निवेश हो जाता है वहाँ प्रसन्नता एवं क्रोध जैसे पारस्परिक विरुद्ध भावों के साङ्कर्यवश सम्भोग का नाम संकर सम्भोग होता है। जहाँ प्रोषित नायक सम्पन्न मनोरथ होकर लौटने के बाद नायिका का उपभोग करता है वहाँ सम्पन्न सम्भोग कहा गया है और समृद्धिमान् सम्भोग का रूप ऐसी स्थिति में उपलब्ध होता है जहाँ नायक, नायिका के पुनर्जीवन प्राप्त होने से हर्ष की मात्रा बहुत बढ़ जाती है और सम्भोग उद्दीप्त हो उठता है। इस प्रकार शारदातनय ने विविध स्थितियों में किये जानेवाले उपभोग के आधार पर सम्भोग के चार रूपों का गम्भीर विवेचन किया है।

शारदातनय ने वर्णन प्रसंग में रसों की चर्चा करते हुए अलग-अलग रसों की स्वतन्त्र स्थितियों, एक रस से दूसरे रस पर पड़नेवाले प्रभावों एवं रसों के पारस्परिक मिलन तथा साङ्कर्य का विश्लेषण किया है। वस्तुतः रस अपनी स्वतन्त्र स्थिति में स्व सम्बद्ध स्थायी भाव के आस्वाद्य स्तर की अनुभूति कराता है। जहाँ किसी रस पर दूसरे रस के प्रभाव की दशा उपस्थित हो जाती है, ऐसे अवसरों पर रस की प्रधानता और अप्रधानता पर भी विचार किया गया है। इसके पश्चात् जहाँ एक दूसरे रस के मेल की स्थिति रहती है, वहाँ रस मेलन या 'मिलित' का उल्लेख विद्यमान है। जहाँ एक ही स्थल पर अनेक रसों के बीच ऐसी स्थिति दृष्टिगोचर होती है जिसमें प्रधान एवं अप्रधान के आधार पर वर्गीकरण कठिन रहता है वहाँ 'संकर' का उल्लेख किया गया है।

शृङ्गार रस की स्वतन्त्र स्थिति का विवेचन अयोग, वियोग एवं सम्भोग रूप में पहले ही किया जा चुका है। हास्य से अभिभूत हो जाने पर शृङ्गार के रूप को शृङ्गाराभास कहा गया है[1]। आभास की स्थितियों में जो रस पहले दिखायी, सुनायी देता है अथवा सूचित रहता है वही प्रधान होता है[2]। इस प्रसंग में शारदातनय ने आदि, एवं मध्यवर्ती रस की स्थिति के आधार पर भी रसाभास की दशा का उल्लेख किया है। जहाँ तक रस मेलन का सम्बन्ध है जब

१. हास्याभिभूतः शृङ्गारस्तदाभासो भविष्यति।

भा० प्र०—ष० अधि० पृ० १३२ पं० २१-२२।

२. प्रथमं दृश्यते यत्तु श्रूयते सूच्यतेऽपि वा।

तत्प्रधानमिति प्राहू रसप्राधान्यवेदिनः॥

भा० प्र०—ष० अधि० पृ० १३४ पं० ७।

विविध भाव पौर्वापर्य की दशा में परस्पर समरूप में उपस्थित होते हैं तब रस सम्मेलन की दशा मानी जाती है। शृङ्गार और वीररस का पारस्परिक सम्मेलन समुचित बताया गया है[1]। रस सम्मेलन की दशा में शारदातनय ने उसी रस को प्रधान बताया है जिसकी सर्व प्रथम स्थिति दिखायी देती है। यहाँ विद्वान् आचार्य का कथन है कि कार्यवश सभी रस एक दूसरे से मिला करते हैं। जहाँ समभाव के साथ दो रसों का अथवा तीन रसों का भी प्रवेश हो जाता है वहाँ भावों के साम्य को ध्यान में रखते हुए साङ्कर्य की दशा स्वीकार की जाती है। एक ही स्थान पर अनेक रसों का बाहुल्य होने की स्थिति में आदि, अन्त और मध्य की दशा के अनुसार प्रधान रस का निर्णय किया जाता है। इस प्रसंग में शारदातनय ने कवियों द्वारा काव्य प्रबन्ध में किये गये सम्यक् निर्वाह को ही कवि की सफलता का आधार बताया है। वास्तव में रस के इन रूपों को देखकर, सुनकर तथा अनुभव करके अथवा दूसरों को दिखा, सुना तथा अनुभव कराकर सब तरह से सन्तुष्ट चित्त तथा सफल मनोरथ हो जाने पर ही सामाजिक की मुक्ति दशा का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी भी रस की अनुभूतिपरक चरम परिणति मुक्तावस्था की अलौकिक दशा में ही होती है और इस अन्तिम स्थिति का स्वरूप शान्तरस रूप में ही मुक्ति का साधन होता है। इस अवसर पर शान्त रस की निष्पत्ति के धर्माख्यान एवं पुराणादिक विविध उपकरणों का भी उल्लेख किया गया है। साथ ही साथ शान्तरस की परिणति के स्तर पर भोक्ता की आन्तरिक एवं बाह्य स्थितियों का भी विस्तृत रूप से विवेचन किया गया है[2]।

रसानुभूति के विवेचन प्रसंग में शारदातनय ने चेष्टा के महत्त्व का विशेष रूप से उल्लेख किया है। आपका कथन है कि चेष्टा के विना भावानुभूति का रूप ज्ञात हो ही नहीं सकता[3]। चेष्टा के महत्त्व की स्वीकृतियों के प्रस्तुत सन्दर्भ में शारदातनय ने देश, काल आदिकों का भी संकेत किया है। इन्हें विभाव रूप में अपनाया जा सकता है। वस्तुतः "भावप्रकाशनम्" के रचयिता ने इन्हें विभाव कह कर व्यक्त भी किया है, किन्तु विभावों के विश्लेषण में देश, काल आदि का पृथक् विवेचन कहीं भी नहीं किया है। चेष्टा विषयक चर्चा के प्रस्तुत प्रसंग में देश, काल आदि के उल्लेख का रूप भावभेदों के विवेचन क्रम से अपना पृथक् अस्तित्व प्रकट करता है।

---

१. शृङ्गारवीरयोः सम्यग् भवेदन्योन्यमेलनम्।

भा० प्र०— ष० अधि० पृ० १३४ पं० ७।

२. भावप्रकाशनम् पृ० १३५-१३६।

३. भावा विनैव चेष्टाभिर्न दृश्यन्ते कदाचन।

भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १३६. पं० २१।

इसलिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि रसभेदों से सम्बद्ध विभावादिकों का पृथक् पृथक् विवेचन करने से पहले देश, काल सापेक्ष चेष्टा विषयक प्रसंग को शारदातनय की स्वीकृतियों के आधार पर उपस्थित किया जाये। यह पहले भी कहा जा चुका है कि चेष्टाओं के अभाव में भावों का साक्षात्कार नहीं होने पाता। इस सन्दर्भ में शारदातनय का कहना है कि देश, काल आदि ही विभाव की स्थितियों में आलम्बन विभावों के मध्य हर्ष आदि व्यभिचारी भावों को उत्पन्न करते हैं[1]। वास्तव में देश आदि की स्थिति उद्दीपन विभाव की ही रहती है। आलम्बन विभाव के रूप में तो अनुकार्य पात्रों की ही अवस्थाएँ मानी जा सकती हैं। शारदातनय का कथन है कि देश आदि विभाव आलम्बन विभावों में हर्षादि व्यभिचारियों को उत्पन्न करते हैं। विद्वान् आचार्य ने देशादिकों की उद्दीपन दशा को प्रकारान्तर से व्यक्त किया है और हर्ष आदि व्यभिचारियों की उत्पत्ति में इन विभावों के महत्त्व एवं अस्तित्व को स्वीकार किया है। इस प्रसंग में आपने आगे कहा है कि देश आदि उद्दीपन विभाव ही आलम्बन विभावों में जिन हर्षादि व्यभिचारियों को उत्पन्न करते हैं, वे बाद में भिन्न भिन्न चेष्टाओं को उत्पन्न करते हैं[2]। इस प्रकार स्पष्ट है कि चेष्टा को उत्पन्न करने में देशादि का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए विद्वान् आचार्य ने देशगत विविध स्थितियों का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है।

कृत्रिम एवं अकृत्रिम भेद से देश के दो रूपों का उल्लेख किया गया है। नगर, ग्राम, पल्ली और जनपद आदिकों को देश का कृत्रिम रूप बताते हुए नदी, पर्वत, समुद्रतट और जंगल आदि को अकृत्रिम रूप बताया गया है। शारदातनय का कथन है कि क्षण, लवादि काल भेद के प्रभाव से शृङ्गार में भी अनेक तरह के विनोद उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः काल की स्थितियों पर विचार करते समय ऋतुगत भिन्नता के साथ साथ दिन-रात, चन्द्र और सूर्य के प्रभाव को ध्यान में रखते हुए देश, अलंकार तथा अन्य आभ्यन्तर एवं बाह्य चेष्टाओं के सन्नियोजन का उपदेश दिया गया है। चन्द्रकला का चमकीला प्रभाव, कोयल की कूक, हंस एवं सारस आदि की मधुर ध्वनि, भ्रमरों की गुंजार आदि की स्थितियों को उपस्थित करने में काल की स्थितियों का ध्यान रखना आवश्यक होता है। इस प्रकार ऋतु, दिन-रात आदि के साथ साथ प्रकृति के बाह्य व्यापारों का रूप भी बदलता रहता है। इसका

---

१. देशादयो विभावास्तु हर्षादीन् व्यभिचारिणः।
आलम्बनविभावेषु जनयन्ति यथाबलम्॥

भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १३६, पं० १७-१८।

२. जनयन्ति हि ते तत्तच्चेष्टां तेषु परस्परम्।

भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १३६, पं० १९।

सम्यक् सन्नियोजन रस सिद्धि में सहायक होता है। इस सन्दर्भ में विभिन्न ऋतुओं के अनुसार विनोद के विविध रूपों का भी अलग-अलग उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में शृङ्गार के सम्भोग की पुनः चर्चा हुई है। यहाँ 'भुजि' पद को प्रस्तुत करते हुए उसके पालन, कौटिल्य एवं अभ्यवहार अर्थों का उल्लेख किया गया है एवं सम्भोग के भोग पद का। इस विविधार्थक भुजि के सम्बन्ध का निर्वाह भी दिखाया गया है। शारदातनय का यहाँ पर कथन है कि नवराग के अनन्तर अभीष्ट उपचार के कारण सम्भोग में पाल्य अर्थ का सन्निवेश रहता है। मानान्तर सम्भोग में कौटिल्य अर्थ का सन्निवेश विद्यमान रहता है। प्रवास के अनन्तर उपस्थित होने वाले सम्भोग का हृद्य रूप अनुभवगम्य होता है। हृद्य से अभ्यवहार की भिन्नता का भी संकेत किया गया है। इस प्रसंग में शारदातनय ने करुण के अनन्तर उत्पन्न सम्भोग को विश्रम्भानुभूतिकृत कहा है। इस प्रकार सम्भोग की स्थिति में पाल्य, कौटिल्य एवं हृद्य तथा विश्रम्भानुभूतिकृत नामक विशिष्ट अर्थ प्रकृतियों का सन्निवेश दिखाया गया है[1]।

इस प्रकार शृङ्गार वर्णन प्रसंग में शारदातनय ने जहाँ एक ओर रस रूप में गृहीत होने वाले समस्त रसों में शृङ्गार की उच्चतम स्थिति का प्रतिपादन किया है तथा उसके भेदोपभेदों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए शृङ्गार के क्षेत्र की व्यापकता का संकेत किया है, वहीं देश-काल तथा चेष्टाओं के रससिद्धि विषयक महत्त्वपूर्ण योगदान का भी वर्णन किया है। शृङ्गार रस के जिन तीन भेदों का उल्लेख पूर्व प्रसंगों में किया जा चुका है उनमें सम्भोग का अनुभूतिपरक महत्त्व निर्विवाद सिद्ध है। इन्होंने सम्भोग के मिस्र आदि जिन रूपों का उल्लेख किया है उनमें से प्रत्येक के सन्नियोजन क्रम को भी पाल्य आदि सम्भोग की प्रकृतियों के साथ व्यवस्थित रूप देते हुए उपस्थित करने की चेष्टा की है। युवक-युवतियों के नवानुराग में सम्भोग की पाल्य स्थिति का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। शारदातनय ने इसमें सम्भोग के मिस्र रूप को स्वीकार किया है। मानान्तर सम्भोग में विरुद्धभाव की स्मृति के कारण कौटिल्य की स्थिति बतायी गयी है। इस स्थिति में सम्भोग के संकर रूप को स्वीकार किया गया है, क्योंकि अनुराग के साथ इस अवस्था में विरोधी भाव का साङ्कर्य विद्यमान रहता है। प्रवासान्तर के सम्भोग की स्थिति में अव्यवहार की अवस्था मानी जाती है। इस अवस्था में प्रोषित नायक द्वारा सम्पन्न मनोरथ होकर लौटने के उपरान्त सम्भोग की अवस्था प्रस्तुत होती है। इस अवस्था में शारदातनय ने सम्भोग के सम्पन्न रूप को ग्रहण किया है। इसी तरह करुणान्तर सम्भोग में विश्रम्भानुभूतिकृत् स्थिति का उल्लेख करते हुए

---

१. भावप्रकाशनम्--षष्ठ अधि० पृ० १३७-१३८।

उसी को समृद्धिमान् सम्भोग के रूप का आधार बताया गया है, क्योंकि प्रत्युज्जीवन के विशेष हर्ष के प्रभाव से सम्भोग अत्यन्त उद्दीप्त स्थिति में रहता है। इसी दशावाले सम्भोग के रूप को 'समृद्धिमान्' नाम से व्यवहृत किया गया है।

इस प्रसंग में शारदातनय ने उन विरोधी स्थितियों का भी उल्लेख किया है जो अनुराग के साथ साङ्कर्य के कारण सम्भोग के संकर रूप को उपस्थित करती हैं। यहाँ इनका कथन है कि ऐसे विरोधी भाव भी शृङ्गार के स्थायीभाव रति को सम्पुष्ट करने में ही सहायक होते हैं। इन विरोधी भावों को वैमनस्य, व्यलीक, विप्रिय, मन्यु, विक्रिया आदि पदों द्वारा व्यक्त किया जाता है। वैमनस्य तथा व्यलीक को स्नेह एवं भय के प्रभाव से उत्पन्न बताते हुए शारदातनय का कहना है कि वैमनस्यवश मनस्ताप शरीर को उसी तरह म्लान कर देता है जैसे पौधे को धूप। जब नायिका अपने नायक को प्रातःकाल सरस व्रण एवं रात्रि जागरण से अलसाया हुआ देखती है तब वैमनस्य नामक अनुरागविरोधी भाव जागृत होता है, रोष, स्वेद, कम्प, मुखवैवर्ण्य एवं मुझे मत छुओ, बहुत अच्छी बात है, चले जाइये इत्यादि वचनविन्यास तथा अभीप्सित अर्थ की अनुत्पत्ति जहाँ विद्यमान रहती है वहाँ व्यलीक नामक विरोधी भाव की दशा मानी जाती है। निवारण करने पर भी संघर्ष एवं मत्सर आदि के प्रभाव से जब नायक हठ पूर्वक बार-बार आ जाता है तब उसकी इस विशेष दशा में 'व्यलीक' की उत्पत्ति हुआ करती है।

'विप्रिय' नामक विरोधी भाव की चर्चा करते हुए शारदातनय का कथन है कि नायिका जब हृदय पर बायाँ हाथ रखकर सिर धुनने लगती है तथा तुम्हीं यहाँ रहो, हम लोग चले जा रहे हैं इत्यादि वचनावलियों का प्रयोग करती है वहाँ विरोधी भाव की स्थिति को विप्रिय कहा जाता है। 'मैं' जीवन भर के लिये तुम्हारा दास हूँ, तुम्हीं मेरी प्रिया हो, ऐसा कहते हुए नायक जब नायिका के भावों में परिवर्तन लाता है तब विप्रिय नामक विरोधी भाव का अनुराग के साथ साङ्कर्य होता है। इसी प्रकार मन्यु एवं विप्रियादि अन्य विरोधी भावों की भी स्थितियों का शारदातनय ने सूक्ष्म विवेचन किया है[1]। वस्तुतः 'प्रणय' एवं 'रोष' के साङ्कर्य में दोनों विरोधी भावों का बार-बार समागम, रति को उद्दीप्त कर शृङ्गार को सम्पुष्ट किया करता है। शृङ्गार की इस अनुभूति में रति की प्रवृद्ध स्थितिवश दृष्टि के रूप भी बदलने लगते हैं। शारदातनय ने प्रस्तुत सन्दर्भ में दृष्टि के इन विविध रूपों का भी उल्लेख किया है। साथ ही साथ कर आदि अन्य अंगों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का भी वर्णन किया गया है। वास्तव में मानसिक भावों के तीन रूपों का उल्लेख करते हुए शारदातनय ने इन्हें इष्ट, अनिष्ट एवं मध्यवर्ती पदों द्वारा व्यक्त किया है।

---

१. भा० प्र०—ष० अधि० पृ० १४० ।

इष्ट भाव में शरीर से आह्लाद एवं पुलकन तथा मनोहारिणी चेष्टाओं का बोध होता है। अनिष्ट भावों में नाक सिकोड़ना, मुँह मोड़ना तथा आखें फेर लेना एवं शारीरिक स्तब्धता और घृणा के भावों की अभिव्यक्ति होती है। जहाँ तक मध्यभाव का सम्बन्ध है इसमें न तो सौमुख्य या वैमुख्य ही रहता है और न हर्ष या दुःख ही होता है। मन की अवस्था भी मध्यस्थ दशा में ही रहती है। इस प्रसंग में विद्वान् आचार्य ने मान वियोग तथा प्रवास वियोग से पीड़ित नायिकाओं की विविध दशाओं का वर्णन किया है[1]। नायिकाओं की उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट अवस्थाओं के अनुसार विरह की प्रतिक्रिया के पृथक्-पृथक् रूप भी दिखायी देते हैं जिनका शारदातनय ने प्रस्तुत प्रसंग में अलग-अलग वर्णन किया है।

शृङ्गाररस के देवता-वर्ण-दृष्टि-गति एवं विभावादि वर्णन

देवता—शारदातनय ने विष्णु को शृङ्गाररस का देवता बताया है[2]। इस मान्यता का उल्लेख करते हुए आपने कहा है कि शृङ्गार का अधिष्ठान अभिरूप्य (सौन्दर्य विशिष्ट) ही होता है और विष्णु अभिरूपोत्तम माने जाते हैं। अभिरूप्य की इस उत्तमता के आधार पर ही विष्णु को शृङ्गाररस का देवता माना गया है[3]।

वर्ण—शृङ्गार रस के वर्ण पर विचार करते हुए शारदातनय ने उसका श्याम वर्ण बताया है। इस सम्बन्ध में विद्वान् आचार्य ने कहा है कि जिस रस के देवता का जो वर्ण स्वीकृत है, वही उस रस का भी वर्ण मानना चाहिए। इस सम्बन्ध में विद्वानों की स्वीकृतियों का उल्लेख करते हुए शारदातनय ने अपनी रस वर्ण विषयक मान्यता का समर्थन किया है[4]। वस्तुतः रस के वर्ण को विविध गुणात्मक कोटियों का उल्लेख करते हुए शारदातनय ने लौकिक वर्णों के साम्य को ध्यान में रखकर रस वर्णों को तीन भागों में विभक्त किया है। इस वर्गीकरण का सीधा सम्बन्ध अनुराग के साथ ही स्थापित किया गया है। इसलिये रस वर्ण की इन गुणात्मक स्थितियों का सम्बन्ध शृङ्गार रस के वर्ण गुण से ही जोड़ा जा

---

१. भा० प्र०—ष० अधि० पृ १४२।

२. शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो।

भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ६८, पं० ३।

३. अभिरूप्यमधिष्ठानं शृङ्गारस्य यतो भवेत्।
अभिरूपोत्तमो विष्णुस्तस्मादस्याधिदैवतम्॥

भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ६८, पं० ८-९।

४. यथाधिदैवतं वर्णः कथितः पूर्वसूरभिः।

भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ६९ पं० ४।

सकता है। अनुराग पद में प्रयुक्त राग पद वर्ण के साथ ही साथ रंजनकारी अनुभूति के विशेष अर्थ को भी व्यक्त करता है। इसी श्लिष्ट स्थिति की पृष्ठभूमि में लौकिक वर्णों के तीन रूपों से शृङ्गार रस के वर्ण की स्थितियों का साम्य दिखलाया गया है। इन लौकिक वर्णों में नील, कुसुम्भ एवं मंजीठ (माञ्जिष्ठ) वर्णों का उल्लेख किया गया है। नील वर्ण की विशेषताओं का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि धोने पर भी नील वर्ण मिटता नहीं, किन्तु वह विशेष शोभादायक नहीं है। अनुराग का जो रूप अत्यन्त चमत्कारक न होते हुए भी अमिट होता है वह नीलवर्ण के साथ ही अपना गुण साम्य व्यक्त करता है। इसके विपरीत कुसुम्भ वर्ण अत्यन्त शोभाकारक होते हुए भी धोने से मिट जाता है। इस वर्ण के सदृश जो अनुराग चमत्कारोत्पादक होते हुए भी परिस्थितियों की विपरीत अवस्था में मिट जाता है उसकी स्थिति से कुसुम्भ वर्ण के गुण का साम्य कहा गया है। लौकिक वर्णों में मंजीठ के वर्ण का उल्लेख तीसरे वर्ण रूप में किया गया है जो उपर्युक्त वर्ण गुणों से भिन्न गुणवाला है। यह चमत्कारक होने के साथ-साथ अमिट भी होता है। यही कारण है कि मंजीठ का वर्ण अन्य वर्णों में श्रेष्ठ माना गया है। अनुराग का जो स्वरूप मंजीठ वर्ण के समान शोभाकारक होने के साथ ही साथ अमिट गुण वाला होता है वही अनुराग उत्तम माना गया है। तात्पर्य यह है कि शृङ्गार के देवता का श्याम वर्ण ही शृङ्गार का अपना वर्ण भी है। इसकी पृष्ठभूमि में अनुराग का शोभाकारक एवं अमिट रूप ही इसे श्रेष्ठता प्रदान करने का हेतु है।

दृष्टि—शारदातनय ने भाव तथा रसों के वर्णन प्रसंग में दृष्टि विकारों पर भी विचार किया है। वास्तव में अनुभूति विशेष की दशा में दृष्टि भी बदल जाया करती है। इसी अनुभूतिमूलक विविधता के आधार पर दृष्टिभेद के स्वरूप का भी पृथक्-पृथक् निर्धारण किया गया है। यहाँ हमारे आलोच्य ग्रन्थकार का कहना है कि दृष्टि विषयक विकारों की संख्या ६८ है। इन्होंने प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रत्येक दृष्टि का नामोल्लेख करते हुए उसके परिचयात्मक गुणों तथा प्रभावपूर्ण रूपों की भी अलग अलग छानबीन की है। सर्व प्रथम विकूणित, विहसित, कुञ्चित, न्यञ्चित, स्निग्ध, मुग्ध आदि दृष्टि विकारों के चौंसठ भेदों का उल्लेख किया गया है। तदुपरान्त विभिन्न रसों से सम्बन्ध रखने वाली विविध दृष्टियों का पृथक्-पृथक् वर्णन करते हुए प्रत्येक का परिचयात्मक वर्णन भी उपस्थित किया गया है। इस प्रसंग में विद्वान् आचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि ये दृष्टि विकार कभी भावाश्रित एवं कभी रसाश्रित भी होते हैं[1]। जहाँ तक शृङ्गार रस का सम्बन्ध है—शारदातनय

---

१. भा० प्र० प्र० अधि० पृ० ११८-१२४ तक।

का कहना है कि बहुत से दृष्टि विकार शृङ्गार रस में उपयोगी होते हैं[1]। इन्होंने इस प्रसंग में शृङ्गार विषयक दृष्टियों का अन्य रस विषयक दृष्टियों के समान पृथक् उल्लेख नहीं किया है। केवल इतना ही बताया है कि भावाश्रित तथा रसाश्रित इन ६४ दृष्टियों में ऐसी बहुत सी दृष्टियाँ हैं जो शृङ्गार रस की दृष्टि से महत्वपूर्ण होती हैं। वास्तव में शृङ्गार रस की व्यापकता के आधार पर दृष्टिभेदों में भी इतनी विविधताएँ पायी जाती हैं कि उनका अन्य रसों के समान गणना करना समीचीन नहीं प्रतीत होता। कुशल कलाविदों की कलात्मक सूझ-बूझ पर ही ऐसे दृष्टि विकारों के सन्नियोजन को शारदातनय ने छोड़ दिया है।

आगे चलकर आचार्य भरत के दृष्टि विषयक विचारों का उल्लेख किया गया है। भरत ने इसकी संख्या ३६ बतायी है और इन्हें भावज, रसज तथा संचारीभावज कहा है। स्निग्ध, हृष्ट, क्रोधित, दीन, सभ्य आदि दृष्टि विकार भावज कहे गये हैं। इसी तरह कान्ता, सहास्या, वीरा, अद्भुता, रौद्रिका, करुणाश्रितक, बीभत्सा तथा सभयानका नामक आठ दृष्टियाँ रजसा कही गयी हैं। इसके पश्चात् ग्लाना, शंकिता, विषण्णा, मुत्कुला आदि बीस संचारीभावज दृष्टियों का भी उल्लेख किया गया है। इस प्रकार ८ भावज, ८ रसज तथा २० संचारी भावज सब मिलाकर ३६ दृष्टिभेद आचार्य भरत के अनुसार दिखाये गये हैं।

इस प्रसंग में शारदातनय ने प्रत्येक रस की पृथक्-पृथक् दृष्टियों के स्वरूपों का भी वर्णन किया है। शृङ्गार रस में हर्ष, प्रसाद, ललित, कान्ता, मन्मथशालिनी, विलसद्भ्रूकटाक्ष नामक दृष्टियों का भी उल्लेख किया है और हर्ष दृष्टि में पुतलियों का निश्चल होना, प्रसाद में स्निग्ध हो जाना, कान्ता में व्यक्त प्रसक्ति, ललित में मन्थरता, समन्मथ में सन्नतापांग संचरणवाली होना, कटाक्ष में अपांग पर पुतलियों का विज्ञेय होना बताया गया है[2]।

रस विषयक दृष्टि विवेचन क्रम को ध्यान में रखते हुए विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि दृष्टि विकारों के ६४ भेदों के रूपों का उल्लेख करते हुए शारदा-तनय का ध्यान आचार्य भरत के अतिरिक्त दूसरे रस विचारकों की मान्यताओं की ओर भी रहा है। जैसा कि इन्होंने प्रत्येक विषय को उपस्थित करते समय व्यापक आधार ग्रहण करने का एक विशेष पथ ही स्वीकार किया है। तदनुरूप ही दृष्टि विवेचन प्रसंग में भरतेतर आचार्यों की मान्यताओं का भी संकेत करना आवश्यक समझा है। आचार्य भरत की अपनी स्वीकृतियों का उल्लेख करते समय शारदा-

---

१. दृशोर्विकारा बहवः शृङ्गारस्योपयोगिनः ।

भा० प्र०— पं० अधि० पृ० ११८, पं० १२।

२ भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १३२।

तनय ने मानो भरत की स्वीकृतियों को ही अपनी मान्यता के रूप में भी अपनाया है और प्रत्येक रस की विविध दृष्टियों के गुणधर्मों पर विचार करने के साथ-साथ शृङ्गार रस की विविध दृष्टियों के भी मूल गुण-धर्मों का उल्लेख किया है। यद्यपि यह विवेचन भरतादि पद के उल्लेख द्वारा आचार्य भरत द्वारा समर्थित बताया गया है तथापि इनमें शारदातनय की अपनी मान्यताओं का भी योगदान है।

गति—रसों की विविध गतियों को प्रस्तुत करते हुए शारदातनय का कथन है कि रति नामक स्थायी भाव दर्शनादिकों के माध्यम से पहले जागृत होता है तदुपरान्त सान्निध्यादि स्वकल्पित विभावों द्वारा उद्दीप्त होती हुई रति, कटाक्ष, वीक्षण, उद्यानगमन आदि का सहयोग लेकर इनसे उत्पन्न होने वाले स्मरण, हर्ष, मद आदिकों के साथ वागारम्भानुभावों से उद्दीप्त होकर वृद्धि को प्राप्त करती है। इस तरह वह दर्शनादिकों से उद्दीप्त होकर कम्प, रोमांच आदि आन्तरिक अनुभावों सहित शृङ्गार रूप में अनुभूत होती है। इस प्रकार यह रस के उत्कर्ष को सम्पुष्ट करती है। विद्वानों ने रस की आठ गतियाँ बतायी हैं जो इस प्रकार हैं—आश्लेष, लीन, विच्छेद, सूक्ष्म, व्यतिकर, स्थिर, शोभन और सम। इन सभी गतियों को अभिनयात्मक (अभिनयाश्रित) कहा गया है। शारदातनय ने प्रत्येक गति की विशेषताओं का भी उल्लेख किया है[1]। आश्लेष नामक गति का वर्णन करते हुए आपने कहा है कि जहां वर्तमान किसी रस विशेष का अपनी सामग्री के साथ दूसरे के साथ समागम होता है वहाँ आश्लेष नामक गति होती है। जहाँ दूसरे रस द्वारा तिरस्कृत अथवा दूसरे रस से निसृत किसी रस विशेष की अनुभूति होती है वहाँ लीन गति कही गयी है। जब कहीं प्रबल विरोधी कारणों के प्रभाव से रस का बीच में ही विच्छेद हो जाय और वह पुनः अनुवृत्त न हो सके वहाँ विच्छेद नामक गति होती है। यदि कहीं आलम्बन के गुणों की स्थिरता से संस्कार की अनुवृत्ति होती है और विलीन रस पुनः अनुवृत्त हो जाता है वहाँ सूक्ष्म नामक गति होती है। जब एक काल में उत्पन्न होने वाले दो अथवा तीन रसों से मुख्य रस बाधित होता है वहाँ व्यतिकर नामक गति होती है। किसी रस के बीच में यदि कहीं दूसरे रस प्रकट एवं तिरोभूत होते हैं और मुख्य रस में बाधक बनते हैं किन्तु मुख्य रस की स्थिरता पूर्ववत् विद्यमान रहती है तो वहाँ स्थिर नामक गति मानी गयी है। जब एक समय में उत्पत्ति होने से तथा समकालीन अनुभूतियों के प्रभाव से दो स्थायीभावों तथा सात्त्विकादियों का साम्य दृष्टिगोचर होता है तो वहाँ सम नामक गति होती है। इसी प्रकार जब मित्र तथा शत्रु स्थिति वाले रसों का साङ्कर्य होता है और मुख्य रस अपने प्रभाव से उस समय भी सुशोभित होता है वहाँ शोभन नामक रति होती है।

---

१. भा० प्र०—ष० अधि० पृ० ४ पं० २१–२२।

शारदातनय ने रस विषयक गतियों के स्वरूपों का पृथक्-पृथक् स्थितियों में विशेष रूप से निरूपण करने के उपरान्त भी किसी विशेष रस के साथ किसी गति विशेष का सम्बन्ध निरूपित नहीं किया है। गति के प्रत्येक रूप की जिन विशेषताओं का ऊपर वर्णन किया गया है उन पर विचार करते हुए यही मानना युक्ति संगत प्रतीत होता है कि प्रत्येक रस में इन आठों गतियों का सन्निवेश पाया जाता है। गति के किसी एक या अनेक रूपों से किसी एक रस का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत अवस्था, परिस्थिति और अनुभूति भेद से गति के इन आठों रूपों के साथ प्रत्येक रस का सामान्य सम्बन्ध मान्य है। ऐसी स्थिति में नहीं कहा जा सकता कि शृङ्गार रस के साथ किस अथवा किन-किन गतियों का सम्बन्ध है। इसके विपरीत यही स्वीकार करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि शृङ्गारेतर रसों की तरह ही श्रृङ्गार का सम्बन्ध भी रस की इन आठ गतियों से यथावत् रहता है।

विभाव—शारदातनय द्वारा प्रस्तुत किये गये विभाव नामक भावभेद की चर्चा अनुभावादि भावभेदों की चर्चा के साथ पहले ही की जा चुकी है। शृङ्गार रस के प्रस्तुत विभाव वर्णन प्रसंग में यहाँ हमें केवल शृङ्गार रस के विभावों तक ही सीमित रहना है और शारदातनय की मान्यताओं पर विचार करना है। इन्होंने सर्व प्रथम विभाव के आठ ऐसे गुणों का उल्लेख किया है जिनमें से प्रत्येक का भिन्न-भिन्न रसों के साथ पृथक्-पृथक् सम्बन्ध निरूपित किया गया है। विभाव के इन गुणों में सबसे पहले ललित का वर्णन किया गया है जिसे शृङ्गार का विभाव कहा गया है। शारदातनय ने मन को आह्लादित करने वाली विभिन्न इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य विभावों को ललित कहा है[1]। ललित विभाव ही शृङ्गार रस के उत्कर्ष का कारण है। इस सन्दर्भ में शारदातनय का कथन है कि विभाव जहाँ परस्पर संश्लिष्ट स्थिति में रस की उत्कृष्टता प्रदान करते हैं वहाँ वे उद्दीपन कहे जाते हैं[2]। संश्लिष्ट स्थिति से शारदातनय का अभिप्राय विभावों की ऐसी दशा है जहाँ ललित आदि अनेक गुण एक साथ जुटकर रस के उत्कर्षक हो जाते हैं।

शारदातनय ने शृङ्गार के आलम्बन विभावों की भी चर्चा की है। इन्होंने तन्वङ्गी एवं तरुणादिकों को शृङ्गार का आलम्बन बताया है और इन आलम्बनों के गुण-धर्मों का निरूपण करते हुए शृङ्गार रस की निष्पत्ति के लिये इन आलम्बन

---

१. ये मनोह्लादजननास्तत्तदिन्द्रियगोचराः।
ललितास्ते विभावाः स्युः श्रृङ्गारोत्कर्षहेतव॥

भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ४ पं० २१-२२।

२. संसृष्टाश्चेद्रसोत्कर्षे त एवोद्दीपनाः स्मृताः।

भा० प्र० —प्र० अधि० पृ० ४ पं० २०।

विभावों का मधुर, सुकुमार तथा रूप-यौवनशाली होना आवश्यक बताया है। आगे के प्रसंग में विभावों का कारण रूप में तथा अनुभावों का कार्यरूप में उल्लेख करते हुए शारदातनय ने हृदय स्थित विभाव को भ्रू-विक्षेप, कटाक्षादि अनुभावों का उत्पादक बताया है[1]। इस प्रकार रस निष्पत्ति की दृष्टि से शृङ्गार रस के विभाव का गुण धर्म सहित वर्णन तो किया ही गया है, इसके साथ ही रस सिद्धि में सहायक होने वाले अनुभावों के उत्पादक रूप में भी विभावों की चर्चा की गयी है।

अनुभाव—अनुभाव वर्णन प्रसंग में शारदातनय ने अनुभावों को विभावों का कार्य बताया है। सर्व प्रथम ऐसे दश अनुभावों की चर्चा की गयी है जिसका सम्बन्ध स्त्रियों के साथ निरूपित किया गया है। इनमें कुछ तो ऐसे भी हैं जो उभयनिष्ठ कहे गये हैं। ऐसे अनुभावों का सम्बन्ध, विविध अंग व्यापार, आङ्गिक साज-सज्जा, शारीरिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि एवं प्रियदर्शन तथा विविध भावों के साङ्कर्य की स्थिति आदि के बीच बोधगम्य होता है। विचार करने पर इन सभी का किसी न किसी रूप में शृङ्गार के साथ सम्बन्ध ज्ञात होता है।

गात्रारम्भानुभावों का वर्णन करते हुए जिन अनुभाव भेदों का उल्लेख किया गया है उनमें से अनेक ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध शृङ्गार रस के साथ माना जा सकता है। उदाहरण के लिये दूसरों को न ज्ञात होने वाले जिस भाव को संकेत द्वारा व्यक्त किया जाता है उसकी शृङ्गारिक चेष्टा को ललित कहते हुए शृङ्गार रस के साथ इसके सम्बन्ध का स्पष्ट निरूपण किया गया है। शारदातनय ने शृङ्गार में ऐसे अनुभावों की प्रचुरता का उल्लेख किया है[2]। इसी तरह शृङ्गार रस में स्त्रैण अनुभावों के बीस रूपों का वर्णन किया गया है[3]। इन अनुभावों में स्त्री सुलभ १० अनुभावों के साथ-साथ उभयनिष्ठ अनुभावों के योग को अपनाया गया है। शारदातनय ने ऐसे अनुभावों का रस सन्निवेश विषयक विवेचन भी प्रस्तुत किया है।

वागारम्भानुभावों में जिन अनुभाव भेदों का उल्लेख किया गया है उनके साथ शृङ्गार रस का सम्बन्ध सरलता पूर्वक स्थापित किया जा सकता है। इन अनुभाव भेदों की पृथक्-पृथक् परिचयात्मक चर्चा अनुभाव वर्णन के पूर्व प्रसंग में की जा चुकी है। यहाँ केवल इतन ही कहना यथेष्ट है कि शारदातनय की दृष्टि

---

१. भ्रूविक्षेपकटाक्षादिर्विभावो हृदयं श्रितः।

भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १३ पं० १५।

२. प्राचुर्यमेषां शृङ्गारे।

भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० १० पं० १३।

३. भावास्तु विंशतिस्त्रैणाः शृङ्गारे।

भा० प्र० —प्र० अधि० पृ० १० पं० १५

शृङ्गार रस की निष्पत्ति की ओर ही विशेष रूप से रही है। यद्यपि इन्होंने अनुभाव भेदों का निरूपण करते समय प्रत्येक रस के साथ इन अनुभावों के सम्बन्ध का सन्नियोजन किया है, किन्तु इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि किसी न किसी रूप में अधिकांश भाव भेदों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध शृङ्गार रस की निष्पत्ति के साथ बना हुआ है।

बुद्ध्यारम्भानुभावों में रीति को सर्व प्रथम अनुभाव भेद कहा है और इसके विविध उपभेदों का निरूपण भी किया गया है। यद्यपि इन रीतियों के साथ किसी रस विशेष का स्पष्ट सम्बन्ध निरूपित नहीं किया गया, तथापि शारदातनय का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि जिस देश विशेष की परिधि में जिस रीति विशेष का प्रचलन हो उसी रीति के माध्यम से शृङ्गार रस की अनुभूति परक अभिव्यक्ति रस निष्पत्ति में सहायक होती है। यह बात अन्य रसों के सम्बन्ध में भी शृङ्गार रस के ही समान स्वीकार की जा सकती है।

बुद्ध्यारम्भानुभावों में वृत्ति को दूसरा उपभेद बताया गया है। वृत्ति के भी कई रूपों का शारदातनय ने उल्लेख किया है और शृङ्गार में कैशिकी वृत्ति को स्वीकार किया गया है।

बुद्ध्यारम्भानुभावों में तृतीय उपभेद रूप में प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है। इसे देश, भाषा तथा क्रिया भेद से अनन्त रूपों का बताया गया है। वस्तुतः प्रवृत्ति का निर्णय देश, भाषा तथा क्रिया की अनन्तता के कारण किसी एक व्यक्ति के द्वारा किया जा सकना ही सम्भव नहीं है। इसके लिये तद्विषयक विशेषज्ञों के सम्पर्क को अनिवार्यतः आवश्यक बताया गया है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक रस की प्रवृत्ति का रूप देश, भाषा एवं क्रियाश्रित ठहरता है। अतः तद्विषयक पिशेषज्ञों के सहयोग द्वारा ही प्रवृत्ति के रस विषयक सन्निवेश का निर्णय भी किया जा सकता है। अस्तु, शारदातनय ने इस विषयक में स्पष्ट रूप में कुछ कहने से अपने आपको पृथक् रखा है।

स्थायीभाव—स्थायीभावों के प्रसंग में शारदातनय ने हास, उत्साह आदि विविध स्थायीभावों का हास्य, वीर आदि विविध रसों के स्थायीभाव रूप में जहाँ उल्लेख किया है वहीं रति एवं शृङ्गार रस को क्रमशः मूल स्थायीभाव एवं मूल रस के रूप में ग्रहण करने के नाते दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का पृथक् निरूपण किये बिना ही उसे संकेत ग्राह्य कर दिया है, किन्तु शृङ्गार रस के सुविस्तृत वर्णन के कारण बताते हुए जहाँ रस विषय की पुनःचर्चा की है वहाँ प्रतिपदोक्त रूप में रति को शृङ्गार का स्थायी रूप (भाव प्र० पृ० ७७ में) बताया है इस प्रसंग में मनोनुकूल विषयों में इच्छा के सुख संवेदनात्मक रूप को रति कहा गया है और रति एवं प्रीति नाम से उसके दो भेदों का निरूपण करते हुए प्रीति के विविध भेदों का

अलग-अलग उल्लेख किया है। प्रीति रूप रति को ही विभिन्न स्थितियों के बीच विभिन्न रसों के स्थायीभावों में विकसित होते बताया गया है।

संचारीभाव—व्यभिचारीभावों की चर्चा करते हुए शारदातनय ने सर्व प्रथम विविध व्यभिचारियों के भेदोपभेदों का परिचयात्मक रूप में वर्णन किया है जिसका विस्तृत वर्णन व्यभिचारीभावों के शोर्षक में किया जा चुका है। प्रस्तुत सन्दर्भ में शृङ्गार रस से सम्बन्ध रखने वाले व्यभिचारियों के महत्त्व को 'भावप्रकाशनम्' के अनुसार प्रस्तुत करना अभिष्ट है। सम्भोग शृङ्गार तथा वियोग शृङ्गार की सम्पुष्टि में सहायक होने वाले व्यभिचारियों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है। संभोग श्रृङ्गार विषयक व्यभिचारियों की चर्चा करते हुए शारदातनय ने मद, श्रम, अवहित्था, हर्ष, गर्व, स्मृति, धृति, असूया, ग्लानि, शंका, वितर्क, अपत्रपा, रोमांच, वेपथु और स्वेद का उल्लख किया है। इस तरह वियोग से सम्बद्ध व्यभियचारियों में मोह, आवेग, विषाद, जड़ता, व्याधि, दीनता, चिन्ता, वितर्क, निद्रा, कार्श्य, श्वास, स्तम्भ, कम्प, वैवर्ण्य और गद्गद नामक व्यभिचारीभावों का उल्लेख किया गया है।

'भावप्रकाशनम्' के रचयिता ने प्रत्येक व्यभिचारी के सन्निवेश को ध्यान में रखते हुए उसके अलग-अलग विभावानुभावों का भी उल्लेख किया है। वस्तुत आलम्बन आदि की अवस्था के अनुसार व्यभिचारीभावों की प्रकृति एवं उनके अनुभावों की स्थिति भी प्रभावित होती है। शारदातनय ने व्यभिचारियों के विभानुभावों की चर्चा के प्रसंग में इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए विचार किया है। प्रत्येक व्यभिचारी की स्थिति एवं प्रकृति को ध्यान में रखते हुए क्रमानुसार विवेचन व्यभिचारीभावों के प्रकरण में किया गया है। अतः विषय का पिष्ट-पेषण समझकर उनका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है।

सात्त्विकभाव—शारदातनय ने सात्त्विकभावों को सत्त्वज स्वीकार किया है। सात्त्विकों के सात्त्विक कहे जाने का कारण भी यही माना गया है। विभावों द्वारा उद्दीप्त किये गये स्थायी भाव के अनुभूति परक उत्कर्ष को सात्त्विक भाव ही सम्पुष्ट करते हैं। शारदातलय का कथन है कि सात्त्विक भावों का सम्यक् सन्निवेश रसों के आविर्भाव में सहायक होता है। सात्त्विकभावों की स्थिति के ज्ञापक व्यभिचारी होते हैं। इस प्रकार हमारे विद्वान् आचार्य ने जहाँ एक ओर रसनिष्पत्ति में सात्त्विक भावों के सहयोगमूलक स्वरूप का उल्लेख किया है वहीं दूसरी ओर व्यभिचारीभावों को इन सात्त्विक भावों का ज्ञापक बताते हुए दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को भी स्पष्ट कर दिया है। इन्होंने रसों को पृथक्-पृथक् स्थितियों को ध्यान में रखते हुए सात्त्विकों के सहयोगमूलक वर्गीकृत रूपों का अन्य भावों के

समान कहीं भो विवेचन नहीं किया, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि सात्त्विक भावों के स्वरूप एवं उनके रससन्निवेश की एक सामान्य चर्चा मात्र शारदातनय को यहाँ अभीष्ट रही है।

परिशीलन

'भावप्रकाशनम्' के आधार पर शृङ्गार रस की निम्नलिखित विशेषताएं कही जा सकती हैं—

१. शारदातनय ने चित्त को आह्लादित करने वाले स्वाद को ही रस स्वीकार किया है। आह्लाद की यह स्थिति केवल शृङ्गार रस में ही पायी जाती है। वस्तुतः अन्य रसों में इस आह्लादक स्थिति का अभाव ही रहता है। इसलिये अन्य रसों को भावरूप मात्र माना गया है। रस का वास्तविक रूप तो शृङ्गार में ही अनुभूत होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से शारदातनय की उपर्युक्त मान्यताओं का भोज की मान्यताओं से पूर्ण साम्य हैं।

२. शारदातनय ने रसानुभूति को अहंकार की चरम परिणति के रूप में स्वीकार किया है। पद्मभू, वासुकि एवं नारद आदि पूर्ववर्ती आचार्यों की एतद्विषयक स्वीकृतियों का भी उल्लेख किया है। इस विषय में भोज एवं शारदातनय की मान्यताओं के बीच मौलिक अन्तर है। भोज ने जहाँ केवल अहंकार को ही शृङ्गार मानते हुए दोनों के बीच एकता की स्थिति को स्वीकार किया है जिससे प्रत्येक अहंकार को शृङ्गार स्वीकार करने की अवस्था का भान होता है वहीं शारदातनय की दृष्टि से श्रृङ्गार में अहंकार आवश्यक होता है, किन्तु अहंकार ही शृङ्गार का रूप नहीं ही सकता, क्योंकि रस की स्थिति का सीधा सम्बन्ध मनोगत भावनाओं से ही रहता है।

३. शृङ्गार रस के श्रेष्ठत्व पर विचार करते हुए शारदातनय ने शृङ्गार पद की व्युत्पत्ति एवं तत्सम्बन्ध अर्थप्रकृति का भी उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में शृङ्ग पद को उत्तमता का बोचक बताया गया है और रसों में सर्वोत्तम होने के नाते रति भाव की आनन्दमयी आस्वाद्य स्थिति को शृङ्गार बताया गया है। शृङ्गार रस के विस्तृत विवेचन का आधार बताते हुए शारदातनय ने प्रमदा को सुखाश्रय कहा है और शृङ्गार को ही प्रमदाओं के आमोद का कारण सिद्ध किया है। इसलिये आनन्द अर्थात् अलोकिक सुख की अनुभूति शृङ्गार में ही सम्भव हो पाती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने शृङ्गार के सुविस्तृत वर्णन की उपयोगिता सिद्ध की है। तात्पर्य यह है कि आनन्दात्मक अनुभूति के आधार पर भी शृङ्गार रस का रस श्रेष्ठत्व सिद्ध होता है। इसी प्रकार रति-नामक स्थायी भाव से ही अन्य रसों के स्थायी भावों का विकास दिखलाते हुए शृङ्गार को मूल रस रूप में सिद्ध किया गया है।

४. रसोत्पत्ति का विवेचन करते हुए शृङ्गार को सामवेद से उत्पन्न बताया गया है और ऐतिहासिक दृष्टि से भी शृङ्गार को प्रथम रस के रूप में उपस्थित किया गया है। इस विषय में शारदातनय का कहना है कि सृष्टि-कर्त्ता की सृष्टि-विषयक इच्छा ही रति को व्यक्त करने वाली होती है। यही इच्छा आनन्द की आस्वाद्य स्थिति में शृङ्गार रस का रूप प्राप्त करती है। रस-विषयक आनन्दानुभूति को पूर्णतया अलौकिक माना जा सकता है, क्योंकि एक ओर जहाँ सृष्टि कर्त्ता की सृष्टि-विषयक रति रूप इच्छा का आधार सर्वथा अलौकिक है वहीं दूसरी ओर आनन्दानुभूति के स्तर पर लौकिक भावों की बद्धदशा का पूर्णतः अन्त करके हृदय को अलौकिकता के मुक्तस्तर पर उपस्थित कर देने के कारण रस-विषयक आनन्द का रूप भी सर्वथा अलौकिक ही होता है। इस प्रकार शृङ्गार-विषयक रसानुभूति की अलौकिकता भी सर्वथा स्पष्ट है।

५. शारदातनय ने रति नामक स्थायी भाव को हास-नामक स्थायी भाव के रूप में विकसित होने वाला बताया है। इस प्रकार शृङ्गार एवं हास्य-रस के बीच जन्य-जनक भाव का वर्णन किया गया है। इस सन्दर्भ में रति-नामक स्थायी भाव के आधार पर शृङ्गार को हास्य का जनक माना गया है।

६. शृङ्गार रस की अनुभूति के बाह्य माध्यमों को ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने शृङ्गार के तीन रूपों का उल्लेख किया है। इनमें वाचिक नामक शृङ्गार के प्रथम रूप का सम्बन्ध अभिव्यक्ति के भाषा मूलक माध्यम से है तथा नैपथ्याश्रित नामक शृङ्गार के दूसरे रूप का सम्बन्ध नैपथ्य में किये जाने वाले रूप सौन्दर्य के बाहरी साज-सज्जा मूलक उपकरणों से है तथा क्रियाश्रित नामक शृङ्गार के तृतीय भेद का सम्बन्ध कार्य व्यापार मूलक उन आङ्गिक चेष्टाओं तथा शारीरिक गतिविधियों से है जो शृङ्गार रस की अनुभूति में सहायक होती है।

७. भोग की सम्प्राप्ति एवं अप्राप्ति के आधार पर शृङ्गार के तीन भेद बताये गये हैं जिन्हें क्रमशः अयोग, वियोग एवं सम्भोग कहा गया है। अयोग नामक शृङ्गार की दशा में रस निष्पत्ति के विभावादि सभी भाव तत्त्वों का समुचित सहयोग रहने पर भी नायक-नायिकाओं के बीच संगति नहीं हो पाती। वियोग की दशा में मान अथवा प्रवास के कारण नायक नायिकाओं की संगति बाधित रहती है यद्यपि विभावादि आवश्यक तत्त्वों का समुचित सहयोग विद्यमान रहता है और नायक-नायिकाओं में पारस्परिक संगति के लिये छट-पटाहट आदि की अवस्थाएं विद्यमान रहती हैं। मरण की स्थिति वाले वियोग को शारदातनय ने करुण रस में स्वीकार करने पर बल दिया है, क्योंकि इसमें शोक नामक स्थायीभाव की ही स्थिति रहती है। जहाँ पुनरुज्जीवन की अवस्था स्वीकार की गयी हो वहाँ इस प्रकार के करुण को भी शृङ्गार के ही अन्तर्गत स्वीकार करना उपयुक्त बताया गया है।

८. सम्भोग नामक शृङ्गार के प्रमुख रूप पर विचार करते समय शारदातनय ने भोग की विविध स्थितियों पर भी विचार किया है तथा अवस्था एवं भावात्मक स्थितियों के आधार पर सम्भोग के मित्त, संकर तथा समृद्धिमान् नामक चार रूपों का विवेचन किया है। इस प्रसंग में सम्भोग के प्रत्येक रूप का वर्णन करते हुए शारदातनय ने अनुभूतिगत सूक्ष्म स्थितियों का पूरा-पूरा संरक्षण किया है।

९. साङ्कर्य की दशा में शृङ्गार के विरोधी रूपों का उल्लेख करते हुए वैमनस्य, व्यलीक, विप्रिय, मन्यु तथा विक्रिय आदिकों में भावनामूलक ऐसी विविध स्थितियों का उल्लेख किया गया है जो शृङ्गार रस विषयक आनन्दानुभूति में बाधा उपस्थित करती हुई प्रतीत होती हैं, किन्तु प्रत्येक की अन्तिम परिणति शृङ्गार रस की सिद्धि में ही होती है। मित की दशा को युवक-युवतियों के प्रथम प्रेम में दिखलाया गया है और विरोधी भावों के साङ्कर्य की अवस्था को संकर नामक सम्भोग के रूप में दिखलाया गया है। इसी प्रकार प्रवास के अनन्तर की सम्भोग प्राप्ति को सम्पन्न तथा पुनरुज्जीवन के बाद उपलब्ध होने वाले सम्भोग को समृद्धिमान् सम्भोग कहा गया है।

१०. शृङ्गार रस की निष्पत्ति में शारदातनय ने विविध चेष्टाओं के साथ-साथ देश एवं काल के महत्त्व का भी उल्लेख किया है। सम्भोग की चेष्टाओं का स्वरूप वियोग की चेष्टाओं के स्वरूप से भिन्न होने के साथ ही साथ भावात्मक दृष्टि से सर्वथा सुसंगत माना जा सकता है। जहाँ तक देश एवं काल का सम्बन्ध है विद्वान् आचार्य ने देश की स्थितियों का विभाजन कृत्रिम एवं अकृत्रिम रूपों में उपस्थित करते हुए ग्रामादिकों की स्थिति को कृत्रिम के अन्तर्गत एवं सरिता, सरोवर, समुद्रतट तथा वन एवं पर्वत आदि की स्थितियों को अकृत्रिम कह कर व्यक्त किया है। शृङ्गार रस की सिद्धि में देशगत इन दोनों स्थितियों का अपना अपना महत्त्व प्रदर्शित किया गया गया है। काल को ध्यान में रखते हुए ऋतु, दिन-रात, सूर्य-चन्द्र आदिकों के आधार पर रसानुभूति की स्थितियों का विवेचन किया गया है। वसन्त, शिशिर, आदि ऋतुओं तथा दिन और रात जैसे काल के लघु रूपों के साथ आश्रम, महल, उपवन आदि स्थानगत स्थितियों का सम्यक् सन्निवेश भी दिखाया गया है। इन प्रसंगों में मानसिक विकारों का भी महत्त्वपूर्ण ढंग से विवेचन किया गया है।

११. शारदातनय ने विष्णु को शृङ्गार रस का देवता कहा है और विष्णु के वर्ण को ध्यान में रखते हुए श्याम वर्ण को शृङ्गार रस का वर्ण कहा गया है। इस सम्बन्ध में शृङ्गार रस विषयक विभिन्न दृष्टियों तथा गतियों के साथ-साथ शृङ्गार के विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव तथा संचारीभावों का भी पृथक्-पृथक्

विवेचन किया है। जहाँ तक सात्त्विक भावों का सम्बन्ध है—शारदातनय ने इस विषय में सात्त्विकों की परिगणना करते हुए उनके रस विषयक महत्त्व का सामान्य रूप में निरूपण किया है, किन्तु किसी रस विशेष के साथ सात्त्विक भाव के किसी विशेष रूप का पृथक्-पृथक् सम्बन्ध नहीं दिखाया गया। इस प्रकार सात्त्विक भावों के विवेचन की प्रस्तुत शैली से अन्य भावों के विवेचन की शैली का स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

१२. शृङ्गार रस की उत्पत्ति के विवेचनक्रम में शारदातनय ने रसोत्पत्ति के व्यासोक्त मार्ग का भी वर्णन किया है। ब्रह्म-सभा में त्रिपुरदाह नामक नाटक का भरतों द्वारा भावाभिनय किये जाने पर शिव-शिवा के सम्भोगाभिनय प्रसंग में कैशिकी वृत्ति से शृङ्गार रस की उत्पत्ति ब्रह्मा के पूर्व मुख से बतायी गयी है।

हास्यरस वर्णन

उपस्थापन

हास्य की चर्चा करते हुए शारदातनय ने शृङ्गार के अनुकरण को ही हास्य बताया है[1]। वास्तव में हास्य की स्थिति शृङ्गार पर ही निर्भर करती है। शारदातनय ने रसों की प्रधानता तथा अप्रधानता पर विचार करते हुए शृङ्गार, वीर, रौद्र और बीभत्स इन चार रसों को ही प्रधान रस के रूप में ग्रहण किया है[2]। इन रसों में हास्य का सम्बन्ध शृङ्गार से ही बताया गया है जैसा कि ऊपर के कथन से स्पष्ट है कि शृङ्गार का अनुकरण ही हास्य है। शारदातनय ने हास्य रस की भावात्मक स्थिति के साथ उसकी अर्थ-प्रकृति के लोक प्रचलित स्वरूप का सामञ्जस्य बताते हुए हास्य पद की व्युत्पत्तिगत स्थिति पर भी विचार किया है।

व्युत्पत्ति

आपने 'हस्' धातु से हास पद की व्युत्पत्ति को स्पष्ट करते हुए हस् पद के साथ 'अप् तथा 'घञ्' प्रत्ययों की चर्चा की है। अप् प्रत्ययान्त हस् धातु से हस् पद की रचना होती है। इस हस् को हास तक पहुँचने में पुनः घञ् प्रत्यय जैसे किसी प्रत्यय के सहयोग की अपेक्षा बनी रहती है। घञ् प्रत्ययान्त हस् धातु से हास पद

---

१. शृङ्गारस्यानुकरणं हास्य इत्यभिधीयते।

भा० प्र० – तृ० अधि० पृ० ५५ पं० १०।

२. तस्मात् प्रधानाः शृङ्गाररौद्राः पृथक् पृथक्।

स बीभत्साःस्वतन्त्रत्वादेषां प्राधान्यकल्पना॥

भा० प्र० – तृ० अधि० पृ० ५५ पं० १८-१९।

त्रिपुरवहन

इण्डियन टेम्पुल्स एण्ड स्कल्प्चर

की व्युत्पत्ति का सीधा सम्बन्ध दिखायी देता है। यही कारण है कि शारदातनय ने हास पद को घञन्त अथवा दोनों प्रत्ययों से व्युत्पन्न बताया है[१]। दोनों ही अवस्थाओं में हास पद का सीधा सम्बन्ध हस् धातु की मूल प्रकृति से माना गया है।

हास्य

हास पद की उपर्युक्त व्युत्पत्तिमूलक प्रकृति का निरूपण करते हुए शारदातनय ने इस पद को लोक प्रचलित अर्थ-प्रकृति के आधार पर भी विचार किया है। इनका कथन है कि जिस के द्वारा हँसाया जाय वही हास्य है। हँसाने की क्षमता के कारण ही यह हास्य कहलाता है[२]। विकृतांग, वय, द्रव्य, भाषा, अलंकार एवं अन्य चेष्टामय कार्यों से लोकों को हँसाने के कारण ही यह हास्य कहलाता है[३]। विद्वान् आचार्य ने विविध रसों के विभाव गुणों की चर्चा करते हुए ललिताभास को हास्य रस का विभाव गुण बताया है[४]। ललिताभास की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए शारदातनय ने कहा है कि हास-कारक वे सभी संसूचित, श्रुत, दृष्ट एवं विस्मृत-भाव ललिताभास कहे जाते हैं जो हास एवं सौन्दर्य के प्रकाशक होते है[५]।

हास्य पद के आलम्बन विभावों की चर्चा करते हुए शारदातनय ने व्यंग्य, विकृत आकार, परचेष्टानुकरण एवं कुहुक आदि की गणना की है[६]। हास्य रस की निष्पत्ति का विवेचन करते हुए आपका कथन है कि जब स्थायी भाव (हास) ललिताभास तथा सत्त्वादि अन्य उत्कर्षक तत्त्वों की सहायता से जागृत, उद्दीप्त एवं सम्पुष्ट

---

१. घञन्तो हासशब्दस्तु द्वयोः प्रत्यययोरपि।
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४८ पं० १०।

२. हास्यतेऽसाविति यतस्तस्माद्धास्यस्य निर्वहः।
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४८, पं० १२।

३. विकृताङ्गवयोद्रव्यभाषालङ्कारकर्मभिः।
जनान् हासयतीत्येवं तस्माद्धास्यः प्रकीर्तितः॥
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४८, पं० १३-१४।

४. ललिता ललिताभासा भावाः शृङ्गारहास्ययोः।
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ४, पं० १५।

५. संसूचिताः श्रुता दृष्टाः स्मृता ये हासकारिणः।
ते भावा ललिताभासा हास्यसम्पत्प्रकाशकाः॥
भा० प्र० – प्र० अधि० पृ० ५, पं० १-२।

६. व्यङ्गाश्च विकृताकाराः परचेष्टानुकारिणः।
हास्यस्यालम्बना भावाः प्रायेण कुहकादयः॥
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ५, पं० १९-२०।

होकर रज: स्पृष्ट प्रेक्षक चित्त को आस्वादित करता है तो वह हास्य रस कहलाता है। हास्य रस की उत्पत्ति के प्रसंग में शारदातनय ने शृङ्गार नामक प्रधान रस की मूल स्थिति को ही आधार बताया है। वास्तव में अहंकारमुक्त रज:स्थित चित्त की आस्वाद्यमयी अनुभूति का अभिव्यक्त रूप शृङ्गार माना गया है। जहाँ तक हास्य रस का सम्बन्ध है शारदातनय का कहना है कि रजो हीन सत्त्वयुक्त शृङ्गार से ही हास्य की उत्पत्ति होती है[1]।

शारदातनय की उर्युक्त मान्यता के आधार पर यदि शृङ्गार एवं हास्य के बीच की विशेष स्थितियों का अलग-अलग विश्लेषण करते हुए उनके पार्थक्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाय तो कहना होगा कि शृङ्गार में रजोविशिष्ट अनुभूति विशेष का सामञ्जस्य विद्यमान है। इसके विपरीत हास्य की दशा को रजो विहीन बताया गया है। यह एक सामान्य सूत्र है जो शृङ्गार को हास्य से पृथक् करता है। शृङ्गार से हास्य की उत्पत्ति का आधार भी यहीं है, क्योंकि रजोगुण के अतिरिक्त शृङ्गार की ही समस्त विशेषताएँ हास्य में यथावत् विद्यमान रहती हैं।

उत्पत्ति

व्यासोक्त मार्ग से समस्त रसों की उत्पत्ति के वर्णन प्रसंग में शारदातनय ने हास्य-रस की उत्पत्ति का भी सप्रसंग वर्णन किया है। ब्रह्म-सभा में भरतों द्वारा किये गये भावाभिनय क्रम मे शिव-शिवा के सम्भोग की स्थिति का जो रूप उपस्थित हुआ उसमें शिव के विशेष रूप ने हास्य को जागृत, उद्दीप्त एवं सम्पुष्ट रूप में आस्वाद्यता प्रदान की। जटा एवं चर्म धारण करने वाले सर्प विभूषण रूप वाले शिव ने प्रज्वालिताग्नि युक्त नेत्र एवं भस्मांग रागमय शरीर से शिवा के साथ जब रति की कामना की तब शिवा के साथ-साथ अन्य सखियों में भी हास का भाव जागृत हुआ उसी से हास्य रस की उत्पत्ति हुई। शारदातनय का कहना है कि इसी ऐतिहासिक प्रसंग को ध्यान में रखते हुए शृङ्गार रस से हास्य रस की उत्पत्ति बतायी जाती है[2]। हास्य रस की उत्पत्ति से सम्बद्ध ऊपर के दोनों ही

---

१. साहङ्काराद् विकारो य: स शृङ्गार इतीरित:।
तस्मादेव रजोहीनात् ससत्त्वाद्धास्य सम्भव:॥
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४७, पं० १४-१५।

२. जटाजिनधरो भोगिभूषण: साग्निलोचन:।
भस्माङ्गरागश्च यदा देव्या कामयते रतिम्॥
तदा सखीनां देव्याश्च हास: समुदभून्महान्।
तस्माद्धास्यसमुत्पत्ति: शृङ्गारादिति कथ्यते॥
भा० प्र० द्वि० अधि० पृ० ५७ पं० १२-१५।

प्रसंगों से शृङ्गार को ही हास्य की उत्पत्ति का आधार कहा जा सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शारदातनय को शृङ्गार ही मूल एवं प्रधान रस के रूप में स्वीकार्य है। हास्य की स्थिति तो शृङ्गार रस से उत्पन्न अप्रधान रस की ही है। इस प्रकार हास्य एक अवान्तर रस है जिसकी स्थिति शृङ्गार रस पर निर्भर है।

भेद

हास्य के भेदों की चर्चा करते हुए शारदातनय ने अन्य रसों के ही समान हास्य रस की उत्पत्ति के अभिनयात्मक स्वरूप को स्वीकार करते हुए इसके तीन भेद किये हैं—वाचिक, आङ्गिक[1] एवं नैपथ्याश्रित। शृङ्गार रस-भेदों से हास्य रस के उपर्युक्त भेदों के नामकरण में यदि कुछ अन्तर है तो वह इतना ही है कि शृङ्गार में जिसे शारदातनय ने क्रियाश्रित शृङ्गार कहा है हास्य के उसी रूप को इन्होंने आङ्गिक हास्य की संज्ञा दी है। वस्तुतः रसोत्पत्ति से सम्बद्ध किसी भी कार्य व्यापार की स्थिति आङ्गिक ही होती है। इसलिये निष्पत्ति के आधार रूप में यदि आङ्गिक हास्य को क्रियाश्रित हास्य के रूप में भी अपनाकर विचार करें तो अनुभूतिगत स्वरूप में किसी प्रकार का अन्तर नहीं दिखलायी देगा।

हास्य के वाचिक रूप की चर्चा करते हुए शारदातनय का कहना है जो भी प्रहसन-परक वाक्य हैं उनसे उद्‌भूत हास्य वाचिक होता है। इसी प्रकार हास्य के नैपथ्याश्रित स्वरूप पर विचार करते हुए शारदातनय ने शारीरिक साज-सज्जा की विपरीतात्मक प्रक्रिया की ओर संकेत किया है। आपका कथन है कि माला, आभूषण तथा वस्त्रादिकों का उल्टे ढंग से प्रयोग किये जाने पर जो हास्य निष्पन्न होता है उसे नैपथ्याश्रित हास्य समझना चाहिये। आङ्गिक हास्य के प्रसंग में शारदातनय ने अभिनय के ऐसे रूप पर ध्यान दिया है जब स्वभावतः अथवा कपट के रूप में अभिनेता अपने अंगों में अभिनय का कोई ऐसा विकट रूप प्रदर्शित करता है जो हास्य का जनक रहता है तो उस अभिनय से उत्पन्न हास्य को आङ्गिक हास्य कहा जाता है[2]।

हास्य की विशेष प्रकृति को ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने हास्य के प्रकारों का उल्लेख किया है। इस प्रसंग में सबसे पहले हास्य का परिचयात्मक वर्णन किया गया है। विकट आकार, विकट वेश, विकृत आचार एवं कर्म, विकृत वाक्य, धृष्टता तथा लोलुपता की अनुभूति, विकृत अभिनय, विकृत अंग दर्शन, प्रहसनपूर्ण असत्-प्रलाप, तथा दोषादि के उदाहरणों से हास्य की निष्पत्ति होती है जो स्त्री तथा

---

१. हास्योऽपि त्रिप्रकारः स्याद्वाङ्नैपथ्याङ्गभेदतः।

भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ६४ पं० ५।

२. भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ६५।

नीच पात्रों में अधिकाधिक पायी जाती है। यों तो आश्रयगत भेद के आधार पर शारदातनय ने आत्माश्रित तथा पराश्रित रूप में हास्य के दो प्रकारों का उल्लेख किया है, किन्तु विद्वान् आचार्य ने इसकी मूल प्रकृति को ध्यान में रखते हुए हास्य के छः भेद किये हैं—१. स्मित, २. हसित, ३. विहसित, ४. उपहसित, ५. अपहसित, ६. अतिहसित। स्मित नामक हास्य को चर्चा करते हुए शारदातनय का कथन है कि इसमें कपोलस्थल कुछ विकसित रहता है, निरीक्षण में कटाक्ष की स्थिति विद्यमान रहती है तथा दोनों की ज्योति कुछ अलक्षित रहती है। उत्तम व्यक्तियों का ऐसा ही हास स्मित कहा जाता है। जिस हास में मुखमण्डल खिले उठे, कपोलस्थल विकसित हो जाय, दातों की ज्योति स्पष्ट दृष्टिगोचर हो उसे हसित कहते हैं। इसी तरह हास्य की वह दशा जब आँखों के साथ कपोलस्थल की स्थिति आकुञ्चित दिखलायी पड़े और मुख-मण्डल रक्तिम हो उठे तथा मधुर ध्वनि श्रुतिगोचर हो उस दशा के हास्य को विहसित कहा गया है। उपहसित की चर्चा करते हुए शारदातनय का कथन है कि इस हास्य में सिर की दशा निकुञ्चित रहती है, दृष्टि का रूप कुटिल हो उठता है और नासिका सहित मुख मण्डल विकसित दिखलायी देता है। जिस हास्य में हास की ध्वनि स्पष्ट सुनायी दे, आँखें अश्रुपूर्ण हो जायें, अंग, सिर तथा समस्त शरीर काँप उठे उसे अपहसित हास्य कहा जाता है। इसी प्रकार अतिहसित नामक हास्य से तात्पर्य हास्य के ऐसे रूप से है जिसमें ध्वनि अस्पष्ट तथा हास्य व्यापार में औद्धत्य एवं आँखों में जलपूर्णता और हाथों से पार्श्व भाग को ढकने की स्थिति विद्यमान रहती है।

हास्य की प्रकृति के आधार पर शारदातनय ने इसके जो छः भेद गिनाये हैं उनकी विवेचनात्मक स्थितियों में आङ्गिक प्रक्रियाओं के प्रभावात्मक रूपों को ध्यान में रखकर विचार किया गया है। विशेष रूप से गण्डमडल, अस्थियुगुल, दन्तज्योति, एवं ध्वनि के श्रूयमाण विविध गुणों के पारस्परिक रूपों पर विचार किया गया है। वस्तुतः आन्तरिक अनुभूति के विशेष रूप से सम्बन्ध रखने वाले हास का बाह्य प्रभाव मुखमण्डल तथा उसके अवान्तर अंगों से ही विशेष रूप में रहता है। इसीलिये शारदातनय ने हास्य की विविध स्थितियों के साथ मुखमण्डल के विविध अंगों की प्रक्रियामूलक बाह्यावस्थाओं पर विशेष ध्यान दिया है।

हास्य रस के देवतादि का परिचय

हास्य रस के देवता पर विचार करते समय शारदातनय ने कामदेव को इस रस का देवता बताया है[1]। अन्य रसों के देवता विषयक नामोल्लेख के ही समान

---

१. शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रथमदैवतः।

भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ६८ पं० ३।

हास्य रस के देवता का नाम मात्र ही यहाँ बताया गया है। इस प्रसंग में किसी भी ऐसे गुणात्मक आधार का उल्लेख नहीं किया गया है जो कामदेवता के साथ हास्य रस के सम्बन्ध को प्रतिष्ठित कर सके। कामदेव का उज्ज्वल रूप, हास्य रस की उज्ज्वलता के मान्य गुण से यदि स्वीकार किया जाय तो दोनों के निर्वाह में सुगमता प्रतीत होती है। कामदेव के ही आधार पर हास्यरस में श्वेत वर्ण का उल्लेख किया गया है जिसे शारदातनय ने रसों के समस्त वर्णों का एक ही साथ उल्लेख करते हुए यथाक्रम उपस्थित किया है[1]।

शारदातनय ने रस विषयक गतियों का सामान्य रूप में उल्लेख किया है और इनके आश्लेष, लीन आदि आठ भेदों का पृथक्-पृथक् विश्लेषण भी किया है। इन सभी गतियों का प्रत्येक रस के साथ सामान्य रूप से एक सा सम्बन्ध है। किसी रस विशेष के साथ किसी गति विशेष का सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है।

हास्य विषयक दृष्टियों की चर्चा करते समय शारदातनय का कथन है कि रस एवं भावाश्रित दृष्टि विकारों के रूप में जिन ६४ भेदों का उल्लेख किया गया है उनके साथ-साथ कुछ ऐसी दृष्टियाँ हैं जो अद्भुत एवं हास्य दोनों रसों में विद्यमान रहती हैं[2]। इस प्रसंग में शारदातनय ने ६४ दृष्टियों के अतिरिक्त १०४ दृष्टियों का भी उल्लेख किया है और प्रत्येक दृष्टि का पृथक्-पृथक् विवेचन भी किया है। शारदातनय को विकूणित आदि १०४ दृष्टियों के रूप में हास्य एवं अद्भुत रस के उपयोग में आने वाले दृष्टि विकारों का ही उल्लेख अपेक्षित है[3]। भावज, रसज तथा संचारीभावज दृष्टियों के रूप में भरत के मतानुसार ३६ दृष्टियों का उल्लेख किया गया है। इनमें ८ भावज दृष्टियों, ८ रसज दृष्टियों तथा २० संचारीभावज दृष्टियों का उल्लेख किया गया है। इस सन्दर्भ में हास विषयक दृष्टियों की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए शारदातनय का कहना है कि हास्य में दृष्टि का रूप ऐसा रहता है जिसमें दृष्टिपुट का रूप आकुञ्चित हो उठता है, तारिकाएँ कुछ विभ्रान्त सी रहती हैं और दृष्टि में अव्यक्त संचार की दशा पायी जाती है[4]। इस

---

१. श्यामः श्वेतश्च गौरश्च पीतो रक्तश्च पञ्चमः।
मा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ६९ पं० १।

२. केचित् साधारणास्तेषु भवन्त्यद्भुतहास्ययोः।
मा० प्र०—पं० अधि० पृ० ११९ पं० १९।

३. एते शतं समाख्याताश्चत्वारश्च ततोऽधिकम्।
मा० प्र०—पं० अधि० पृ० ११९-१२४।

४. आकुञ्चितपुटापाङ्गा विभ्रान्तस्वल्पतारका।
अव्यक्तसञ्चारवती दृष्टिर्हास्ये प्रकीर्त्तिता॥
मा० प्र०—पं० अधि० पृ० १२५ पं० १२-१३।

प्रसंग में विद्वान् आचार्य ने प्रत्येक दृष्टि से सम्बद्ध विविध गुणों का भी पृथक्-पृथक् वर्णन किया है। रस-भावज दृष्टियों की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए हास की हृष्टा दृष्टि को चंचल, हसितगर्भ, बड़ी तारिकाओं वाली तथा अनिमेषिणी और किञ्चित् आकुञ्चित कहा गया है। इसी प्रकार हास्यगर्भा, स्थिता, हृष्टा आदिक दृष्टियों का भी पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है। शारदातनय ने उपर्युक्त दृष्टियों का सम्बन्ध हास्यरस के साथ बताया है[1]।

शारदातनय ने बीभत्स मिश्रित हास्य के रूप को हास्याभास कहा है। इनका कहना है कि जहाँ रक्त, मांस, विष्ठादि के लेप से हास्य बाधित होता है वहाँ हास्याभास मानना चाहिए[2]। वास्तव में रक्त. मांस, विष्ठा आदि का लेप बीभत्स की ही अनुभूति को उद्बुध करता है। ऐसी अवस्थाओं में आकृति की विलक्षणता तथा वेश-भूषा विषयक विचित्रता से जो हास्य के जागरण की अवस्था विद्यमान रहती है उसमें बीभत्स मूलक अनुभूति के प्रभाव से बाधा उपस्थित होती है। हास्य के बाधित रूप की यही अवस्था हास्याभास के रूप में स्वीकार की गयी है।

विभाव—हास्य रस के विभाव गुणों में ललिताभास की चर्चा की गयी है और साथ ही यह भी कहा जा चुका है कि व्यंग्य, विकृताकार, परचेष्टानुकरण ही हास्य के आलम्बन विभाव होते हैं।

अनुभाव—रसों के अनुभावों का वर्णन करते हुए शारदातनय ने मन आरम्भ, गात्रारम्भ, वागारम्भ तथा बुद्ध्यारम्भानुभावों के रूप में जिन अनुभावों तथा अनुभाव भेदों का उल्लेख किया है उनमें किसी रस विशेष के साथ अनुभाव रूप में रसनिष्पत्ति के अनुरूप सहायक सिद्ध होने वाले किसी अनुभाव का पृथक् निर्देश नहीं किया है। सम्भवतः अनुभावों की विशद चर्चा में इतने व्यापक तत्त्वों का समावेश कर दिया है कि किसी रस विशेष के साथ अनुभाव भेद का सामञ्जस्य दिखाये बिना भी इतना स्पष्ट हो ही जाता है कि सभी तरह के रसों को सूचित करनेवाले अनुभावों का प्रभावकारी रूप इन अनुभाव भेदों में यथावत् विद्यमान है। शारदातनय की विचारसरणी को ध्यान में रखते हुए स्त्री, पुरुष एवं उभयनिष्ठ मन आरम्भानुभावों तथा हास्य रस की निष्पत्ति में सहायक सिद्ध होनेवाले अन्य वर्ग के समस्त अनुभाव भी तत्-तत् वर्गीय अनुभावों में उल्लिखित हैं। विषय

---

१. किञ्चिदाकुञ्चिता हृष्टा दृष्टिर्हासे प्रकीर्तिता।

भा० प्र०—पं० अधि पृ० १२६–१२७ तक।

२. पूयशोणितमांसादिविष्ठालेपादयोऽपि च।

हास्यं भिन्दन्ति यत्रैते स हास्याभास ईरितः॥

भा० प्र —षष्ठ अधि० पृ० १३३ पं० ५–६।

के वर्गीकृत विश्लेषण को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि शारदातनय ने जितना ध्यान अनुभाव भेदों के संकलनात्मक सन्निवेश की ओर दिया है उतना ध्यान प्रत्येक रस की निष्पत्ति में सहायक सिद्ध होने वाले अनुभाव विशेष के योगदान की चर्चा पर नहीं दिया।

हास्यरस के स्थायीभाव रूप में हास की स्थिति को स्वीकार किया जाता है। शारदातनय ने प्रीतिपरक चित्त के विशेष विकास को हास माना है और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यह हास नामक स्थायीभाव छः प्रकार के वैकल्पिक रूपों को ग्रहण करते हुए आस्वाद्य स्थिति में हास्यरस का स्वरूप प्राप्त करता है।[1]

जहाँ तक सात्त्विकभावों का सम्बन्ध है शारदातनय ने इनकी संख्या आठ बतायी है। इस सम्बन्ध में विद्वान् आचार्य ने रस परिपाक में सात्त्विकों के सहयोग का भी वर्णन किया है। इतना होते हुए भी सात्त्विकभाव के किसी रूप विशेष से किसी रस विशेष के सम्बन्ध पर प्रकाश नहीं डाला गया है।

हास्यरस के संचारिभावों का वर्णन करते हुए शारदातनय ने हास्य में शंका, त्रपा, चपलता, श्रम, ग्लानि, अपत्रपा, हर्ष, प्रबोध, अवहित्था, स्वेद एवं अश्रुपुलक आदिकों का उल्लेख किया है। संचारियों की विशेष प्रकृति को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि ये ही भाव हास्य नामक स्थायीभाव रूपी सागर में उठने वाली तरंगों के समान तरंगित होकर पुनः उसी में विलीन हो जाते हैं और हास्यरस को सम्पुष्ट करते हैं।

परिशीलन

शारदातनय द्वारा 'भावप्रकाशनम्' में वर्णित हास्य विषयक तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हास्यरस की निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

१. हास्यरस का परिचय देते हुए उसकी स्थिति को शृङ्गार रस का अनुकरण मात्र स्वीकार किया है।

२. शृङ्गार रस की गणना प्रधान रस के रूप में करते हुए शारदातनय ने हास्य को अप्रधान रस के रूप में ग्रहण किया है और उसे शृङ्गार पर ही आश्रित बताया है।

३. हास्य पद की प्रकृति, प्रत्यय मूलक व्युत्पत्तिगत स्थिति पर विचार करते समय हस् + घञ् अथवा हस् + अप् के आधार पर हास्य पद की लोक प्रचलित अर्थ प्रकृति के साथ व्युत्पत्तिमूलक संरचनात्मक स्थिति का सामञ्जस्य दिखलाया गया है।

---

१. एवं रूपं प्रकारश्च देशं कालमृतुं वयः।
प्रकृतिं भावलिङ्गे च ज्ञात्वा विद्याद्रसास्थितम्॥
भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १३४ पं० २१-२२।

४. हास्य रस के विभावगुण की चर्चा करते हुए ललिताभास का उल्लेख किया गया है और संसूचित, श्रुत दृष्ट एवं स्मृत आदि का उल्लेख करते हुए ललिता-भास का स्पष्टीकरण किया गया है।

५. हास्य के आलम्बन विभाव के विशेष गुणों का उल्लेख करते हुए व्यंग्य, विकृतांग, परचेष्टानुकरण आदि को हास्य का आलम्बन बताया गया है।

६. हास्य रस की निष्पत्ति के क्रमिक विकास की अनुभवगम्य स्थितियों का प्रभावपूर्ण रूप में उल्लेख किया गया है। वास्तव में शारदादनय ने हास्य रस की निष्पत्ति का उल्लेख करते हुए रसपरिपाक के सहायक तत्त्वों का नाम लिये बिना ही प्रत्येक की प्रभावात्मक स्थिति को सूचित कर दिया है।

७. हास्य रस की उत्पत्ति पर विचार करते हुए शारदातनय ने दो आधारों को स्वीकार किया है।

(क) पहला आधार शृङ्गार तथा हास्यरस के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रतिष्ठित है। इस आधार पर शृङ्गार के रजोहीन रूप को ही हास्य की संज्ञा दी गयी है और रजोगुण के अतिरिक्त शृङ्गार की सभी विशेषताओं को हास्य रस में स्वीकार किया गया है।

(ख) दूसरा आधार व्यासोक्त मार्ग का निर्देश करते हुए ब्रह्मसभा में भरतों द्वारा किये गये शिव-शिवा विषयक भावात्मक अभिनय की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया गया है। जटा-चर्मधारी, सर्प-विभूषण वाले शिव ने जब शिवा से रति की कामना की तब शिवा के साथ सखियों के चित्त में हास के भाव का विकास हुआ जिसने हास्य-रस का आस्वाद्य रूप प्राप्त किया।

८. हास्यरस के भेदों की चर्चा करते हुए शारदातनय ने अन्य रसों के ही समान सर्वप्रथम अभिनयात्मक आधार पर हास्य के तीन भेद किये हैं जिन्हें क्रमशः वाचिक, आङ्गिक तथा नैपथ्याश्रित कहा गया है। वाचिक का सम्बन्ध वाक्य-विन्यास तथा नैपथ्याश्रित का सम्बन्ध शारीरिक साज-सज्जा एवं आङ्गिक का सम्बन्ध शारीरिक चेष्टाओं से जागृत होने वाले हास्य के साथ दिखलाया गया है। शारदातनय ने हास्य की प्रकृति को भी ध्यान में रखते हुए इसके स्थित, हसित आदि छः भेदों का उल्लेख किया है। विद्वान् आचार्य ने प्रत्येक हास्य भेद का इस रूप में परिचयात्मक विवरण उपस्थित किया है जिससे इनके पारस्परिक अन्तर को सरलता-पूर्वक ग्रहण किया जा सके। ऐसा करते समय गण्डस्थल, दृष्टि, दन्तज्योति तथा ध्वनि की विशेष अवस्थाओं को ध्यान में रखा गया है।

९. हास्य के देवता रूप में कामदेव का उल्लेख करते हुए इस रस के वर्ण को श्वेत बताया गया है और वर्ण तथा देवता के बीच सामञ्जस्य दिखलाया गया है।

१०. हास्य रस की गतियों के विषय में कहीं भी पृथक् चर्चा नहीं दिखलायी देती। रस विषयक गतियों की सामान्य चर्चा से ही हास्य की गतियों का सम्बन्ध स्थापित किया गया प्रतीत होता है।

११. रस विषयक दृष्टियों के ६४ स्वरूपों का उल्लेख करने के साथ ही साथ १०४ अन्य दृष्टियों तथा भावज, रसज एवं संचारीभावज रूप में आचार्य भरत द्वारा उपस्थित की गयी ३६ दृष्टियों का उल्लेख किया किया गया है। इस प्रसंग में अद्भुत एवं हास्य से सम्बद्ध कतिपय साधारण दृष्टियों की भी चर्चा की गयी है।

१२. हास्याभास का विवेचन करते हुए बीभत्समिश्रित हास्य का उल्लेख किया गया है। ऐसा करते समय हास्य रस के आलम्बन रूपों में बीभत्स के भाव को हास्य के भाव का बाधक माना गया है।

१३. शारदातनय ने भाव भेदों के विवेचनक्रम में अनुभाव तथा सात्त्विक भावों का भेदोपभेद सहित विस्तृत विवेचन करते हुए भी किसी रस विशेष के साथ भाव विशेष का कहीं भी सन्निवेश नहीं दिखलाया है। यह एक ऐसी बात है जो रस विकास की दशा को अनुभवगम्य बनाने की दृष्टि से खटकने वाली है।

१४. स्थायी एवं संचारीभावों की चर्चा के क्रम में हास्य विषयक संचारियों का पृथक् वर्णन करते हुए हास्य रस की सम्पुष्टि में संचारियों के योगदान पर प्रकाश डाला गया है।

वीररस वर्णन

उपस्थापन

शारदातनय ने रसों के वर्णन प्रसंग में वीररस को उन प्रधान रसों में स्वीकार किया है जिन पर एक क्रम से अन्य अप्रधान रस निर्भर हैं। इन्होंने प्रधान रस के रूप में शृङ्गार के उपरान्त वीररस की स्थिति बतलायी है[1]। वीररस की निष्पत्तिगत प्रकृति पर विचार करते हुए शारदातनय का कथन है कि जब स्थायीभाव (उत्साह) में विभावादि अनुरूप भाव सहयोगी संचारी आदिक भावों द्वारा सम्पुष्ट स्थिति का सृजन करते हैं तब प्रेक्षकों की रजोमिश्रित सत्त्ववृत्ति अभिमानयुक्त रूप में जिस आस्वाद्य मनोविकार को उद्‌बुद्ध करती है वही वीररस के नाम से प्रसिद्ध है। यही वह रस है जो प्रेक्षकों के लिये आस्वाद्य रूप में अलौकिक भाव भूमि तक पहुँचाने में सहायक होता है[2]। शारदातनय की उपर्युक्त मान्यता के आधार पर कहा जा

---

१. तस्मात् प्रधानेतरयोर्ज्ञानं नाट्योपकारकम्।
तस्मात् प्रधानाः शृङ्गारवीररौद्राः पृथक् पृथक्॥
भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ५५ पं० १७–१८।

२. स वीररसनामा स्याद् रस्यते च स तैरपि।
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४४ पं० १०।

सकता है कि वीररस में सामाजिकों की मनोदशा ऐसी रहती है जिसमें रजोगुण के साथ-साथ अभिमानयुक्त सत्त्ववृत्ति का योग रहता है।

व्युत्पत्ति

वीर पद की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए शारदातनय ने ज्ञानार्थक तथा खण्डनार्थक 'रा' दाने तथा 'ला' दाने धातुओं का उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध में हमारे विद्वान् आचार्य ने शब्दशास्त्रियों द्वारा स्वीकृत 'र' तथा 'ल' वर्णों की अभिन्नता का भी संकेत किया है। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर यदि विचार किया जाय तो 'रा' तथा 'ला' दोनों ही धातुओं में अभेद-भाव की दशा माननी पड़ेगी। तात्पर्य यह है कि दोनों धातुओं के मूल रूपों में 'र' एवं 'ल' वर्णों की ध्वन्यात्मक भिन्नता के अतिरिक्त कोई दूसरा अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों ही एकार्थ-वाची धातुएँ हैं। शब्दशास्त्रियों द्वारा स्वीकृत 'र' तथा 'ल' वर्णों की अभेदमूलक स्थिति के आधार पर दोनों के बीच किसी प्रकार का अन्तर रह ही नहीं जाता। इस मूल तथ्य की पृष्ठभूमि में रखते हुए शारदातनय का कथन है कि 'वि' = विरुद्धान् (विरोधियों को) राति = हन्ति (जो नष्ट करता है) इति वीरः अर्थात् विरोधियों को जो नष्ट करने तथा उनमें पाये जाने वाले आस्वाद्यभाव का नाम ही वीर रस है।

वीररस की व्युत्पत्ति के दूसरे प्रकार पर विचार करते हुए शारदातनय ने 'वि' पद का विविध एवं विचित्र अर्थ भी किया है तथा लाति पद से जानाति एवं कृन्तति अर्थों का सम्बन्ध जोड़ते हुए वीर शब्द का अर्थ विविधता एवं विचित्रता को जानने अथवा विच्छिन्न करने वाले के साथ जोड़ दिया है। इसी तरह 'वि' पद का विद्विष्ट अर्थ करते हुए इनका कहना है कि विद्वेषियों को जो प्रेरित अर्थात् उद्विग्न करता है, उस भाव को वीर कहा जाता है[1]।

उत्पत्ति

वीररस की उत्पत्ति पर विचार करते हुए शारदातनय ने इसे ऋग्वेद से उत्पन्न बताया है[2]। इसी प्रकार वासुकि एवं नारद के विचारों का उल्लेख करते हुए शारदातनय का कहना है कि रजोगुण विशिष्ट सत्त्ववृत्ति वाले अहंकार से बाह्यार्थ की संगति होने पर जो मानसिक विकार उत्पन्न होता है उसे वीर

---

१. प्रेरयत्यत्र विद्विष्टानिति वीरो निरुच्यते।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४८ पं० २१।

२. वीरोऽभूद् विततो ऋचः।

भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ५४ पं० १५।

कहा जाता है[१]। व्यासोक्त मार्ग से त्रिपुरदाह के भावाभिनय प्रसंग से वीररस की उत्पत्ति बताते हुए शारदातनय का कथन है कि भरतों द्वारा जब त्रिपुर मर्दन का सम्यक् अभिनय किया गया तो सात्त्वती वृत्ति से ब्रह्मा के दक्षिण मुख से वीररस उत्पन्न हुआ[२]।

वीररस के भेदों की चर्चा करते हुए शारदातनय ने इसके तीन प्रकारों का उल्लेख किया है जिन्हें क्रमशः युद्धवीर, दयावीर तथा दानवीर की संज्ञा दी गयी है[३]। युद्धवीर की चर्चा करते हुए शारदातनय का कहना है कि जहाँ कोई ऐसा व्यक्तित्व दृष्टिगोचर हो जो स्वयं निरस्त्र एवं सहायकों से सर्वथा हीन रहते हुए भी निर्भय होकर बहुतों के साथ युद्ध करने में मदोन्मत्त होकर प्रवृत्त रहे तथा शस्त्रास्त्रों के आघात को सहने में प्रसन्नता का अनुभव करते हुए युद्ध भूमि से भागने का नाम न ले एवं भयाक्रान्त व्यक्तियों को अभयदान देता हुआ शरणागत के कष्ट को नष्ट करता दिखायी दे, उस व्यक्ति के व्यक्तित्व में प्रकट होने वाले उत्साह के आस्वाद्य रूप को युद्धवीर की संज्ञा दी गयी है[४]। इसी तरह दयावीर की चर्चा करते हुए शारदातनय का कथन है कि व्याधि, दारिद्रय, शस्त्रास्त्र, क्षुधा, पिपासा आदि से पीड़ितों को जो प्रेमपूर्वक अनुगृहीत करता है उसी के व्यक्तित्व में आस्वाद्य भाव के रूप में दयावीर की स्थिति पायी जाती है[५]। दानवीर की चर्चा करते हुए 'भाव-प्रकाशनम्' के विद्वान् आचार्य का कथन है कि जो व्यक्ति याचकों की याचना से

---

१. अहङ्काररजःसत्त्वयुक्ताद् वाह्यार्थसङ्गतात् ।
मनसो यो विकारस्तु स वीर इति कथ्यते ॥

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४७ पं० १६-१७ ।

२. यदाऽभिनीतं भरतैः सम्यक्त्रिपुरमर्दनम् ।
सात्त्वतीवृत्तितो जज्ञे वीरो दक्षिणतो मुखात् ॥

भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ५७ पं० ४-५ ।

३. वीरो युद्धदयादानभेदेन त्रिविधो मतः ।

भा० प्र०- तृ० अधि० पृ० ६४ पं० ६ ।

४. निरायुधस्याप्येकस्य हीनस्यापि परिच्छदैः ।
अभीतिर्बहुभिर्योद्धुं व्यवसायो रणे मदः ॥
हर्षः शस्त्रास्त्रघातेषु समरादपलायनम् ।
भीताभयप्रदानं च प्रपन्नस्यार्तिभञ्जनम् ॥
एवं युद्धात्मको वीरः तज्ज्ञैः कविभिरीरितः ॥

भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ६५ पं० १०-१४ ।

५. व्याधिदारिद्रयशस्त्रास्त्रक्षुत्पिपासादिपीडितान् ।
अनुगृह्णाति यः प्रीत्या स वीरः स्याद् दयात्मकः ॥

भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ६५ पं० १९-२० ।

बहुत अधिक प्रदान करता हुआ भी उपस्थित होने वाले अभ्यर्थियों में स्वजनों से इतर व्यक्तियों को भी प्राथमिकता प्रदान करता है तथा दान के साथ ही साथ उनका मधुर वचनों द्वारा समादर करता है, उसमें दानवीर का आस्वाद्य रूप प्राप्त होता है[1]।

भेद

शारदातनय ने वीररस के भेदों का उल्लेख करते समय अन्य रसों के प्रसंग में अपनाये गये वचन, नैपथ्य तथा क्रिया के आधार की शैली से सर्वथा पृथक् एवं स्वतन्त्र शैली का आश्रय लिया है। वीर भेदों की चर्चा में वीर भावों के परम्परागत रूपों का पूर्ण संरक्षण तो किया ही गया है, किन्तु साथ ही साथ युद्ध, दया एवं दान के स्थलों में लोकमानस के भीतर विद्यमान महनीय स्थितियों को ध्यान में रखते हुए वीरभेद के प्रत्येक प्रकार का लोकसम्मत विवेचन किया है। विवेचन के इस क्रम को व्युत्पत्तिमूलक रचनाप्रकृति के परिचयात्मक स्वरूपों की अपेक्षा अधिकाधिक व्यापक तथा पूर्णतया व्यावहारिक कहा जा सकता है।

वीररस के देवता, वर्ण, दृष्टि, गति, विभावादि का वर्णन

वीररस के देवता की चर्चा करते हुए शारदातनय ने महेन्द्र को इस रस का देवता बताया है तथा देवता के वर्ण को ध्यान में रखते हुए गौरवर्ण को वीररस का वर्ण कहा है। प्रत्येक प्रसंग की युक्तिसंगत विवेचना करने वाले इस विद्वान् आचार्य ने कार्य-कारण भाव के आधार पर किसी ऐसे तथ्य का उल्लेख नहीं किया जिसको ध्यान में रखते हुए महेन्द्र देवता के साथ वीररस के सम्बन्ध का निर्वचन किया जा सके। सम्भव है कि महेन्द्र के सुरेश होने में वीरभाव के उत्कर्ष का आधार ग्रहण करते हुए वीररस के साथ महेन्द्र के देवत्व की प्रतिष्ठा की गयी हो। वर्ण विषयक निर्देश में भी इसी तथ्य का सम्भावित आधार स्वीकार किया जा सकता है।

जैसा कि शृङ्गार एवं हास्यरस विषयक पूर्ववर्णित प्रसंगों में पहले कहा जा चुका है कि शारदातनय ने रस सामान्य को ध्यान में रखते हुए आश्लेष, लीन आदि आठ गतियों का उल्लेख किया है। पूर्वोक्त उभय रसों के ही समान वीररस से सम्बद्ध किसी गति विशेष का कहीं भी पृथक् निर्देश नहीं किया गया है।

---

१. अर्थिनामीप्सितादर्थात् प्रदायैभ्योऽधिकं बहु।
अर्थिनः पुनरायातान् स्वजनानितरानपि॥
यन्मानयति दानेन वाक्येन मधुरेण।
एतद् दानात्मको वीरः कथ्यते दानशीलिभिः॥

भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ६५ पं० १५-१८।

दृष्टि विषयक पूर्व प्रसंगों में यह देखा जा चुका है कि शारदातनय ने भावज, रसज एवं संचारीभावज दृष्टियों का उल्लेख करते हुए जहाँ सर्वप्रथम दृष्टि के ६४ प्रकारों की चर्चा की है वहीं १०४ दृष्टियों का भी पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। इस प्रसंग में आपने आचार्य भरत का उल्लेख करते हुए दृष्टि के ३६ रूपों पर भी विचार किया है जिनमें भावज, रसज तथा संचारीभावज दृष्टियों की पृथक्-पृथक् संख्याओं का भी निर्देश किया गया है। वीररस विषयक दृष्टियों का उल्लेख करते हुए आपने मन्थर, बन्धुर, धीर, अविक्रिय, अकृत्रिम, अनुल्वण, असम्भ्रान्त, अव्याज, अनुपस्कृति एवं सहर्ष तथा सगर्व नामक दृष्टियों का नाम ग्रहण किया है[1]।

वीररस के विभाव गुण एवं आलम्बन की विशेषताओं का वर्णन करते हुए शारदातनय ने स्थिर को वीररस का विभाव गुण बताया है। स्थिर नामक विभाव गुण की चर्चा करते हुए श्रुत, दृष्ट, स्मृत तथा ध्यान को स्थिरता का कारण बताया गया है[2]। वीररस के आलम्बन भाव की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए शारदा-तनय ने त्यागी, सत्त्वसम्पन्न, शूर, वीर, विक्रमशाली तथा शस्त्रास्त्र से क्षतविक्षत रूप में सुशोभित होने वाले व्यक्तियों को वीररस का आलम्बन स्वीकार किया है[3]।

रस विषयक अनुभावों के प्रसंग में शारदातनय ने अनुभाव के चार प्रकारों का उल्लेख किया है जो क्रमशः मन-आरम्भानुभाव, गात्रारम्भानुभाव, वागारम्भानु-भाव तथा बुद्ध्यारम्भानुभाव के रूपों में वर्णित हैं। यद्यपि अनुभावों की विविध प्रक्रियाओं का रस के सामान्य प्रसंग में विशद विवेचन किया है, किन्तु बुद्ध्या-रम्भानुभावों में वृत्ति नामक अनुभाव भेद की चर्चा करते हुए सात्त्वती नामक वृत्ति के साथ वीररस का सम्बन्ध निरूपित किया गया है। अनुभाव-वर्णन के सातत्य में अनुभाव भेद के प्रत्येक रूप का पृथक्-पृथक् विवेचन पहले ही किया गया है।

सात्त्विक भावों के जिन आठ रूपों पर शारदातनय ने अपना विवेचन प्रस्तुत किया है उनकी स्थिति रस सामान्य से ही सम्बद्ध रखी गयी है। सात्त्विक भावों

---

१. मन्थरं बन्धुरं धीरमविक्रियमकृत्रिमम् ।
अनुल्बणमसम्भ्रान्तमव्याजमनुपस्कृति ॥
सहर्षञ्च सगर्वञ्च वीरस्यैते प्रकीर्तिताः ।
भा० प्र०—पं० अधि० पृ० ११९ पं० १३-१५ ।

२. श्रुता दृष्टाः स्मृता ध्याता भवन्ति स्थैर्यहेतवः ।
ते स्थिरा इति विज्ञेयाः वीराख्यरसपोषकाः ॥
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ५ पं० ३-४ ।

३. त्यागिनः सत्त्वसम्पन्नाः शूरा वीराः सविक्रमाः ।
वीरस्यालम्बना भावाः शस्त्रास्त्रक्षतिशोभिनः ॥
भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ५ पं० २१-२२ ।

के वर्णन प्रसंग में इन समस्त भाव भेदों का उल्लेख किया जा चुका है। ये भाव जिस प्रकार अन्य रसों की आस्वाद्यता में सहायक होते हैं उसी प्रकार परिस्थिति एवं प्रकृति के अनुसार वीररस की निष्पत्ति में भी अपने अपने ढंग से सहायक सिद्ध होते हैं।

स्थायीभावों के वर्णन प्रसंग में वीररस के स्थायीभाव का विशद विवेचन किया जा चुका है। 'भावप्रकाशनम्' में वर्णित संचारीभावों में आवेग, हर्ष, गर्व, असूया, उग्रता, तर्क, धृति, बोध, स्मृति, मति, मद, स्वेद, रोमांच आदि का उल्लेख वीररस में किया गया है जो स्थिति विशेष के अनुरूप वीररस की सम्पुष्टि में सहयोग प्रदान करते हैं[1]।

परिशीलन

शारदातनय को ध्यान में रखते हुए वीररस की निम्नलिखित सामान्य विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

१. वीररस, प्रधान वर्ग में गिने गये शृङ्गार आदि चार रसों में एक है। इसकी प्रधानता का आधार यह है कि यह, अपनी आस्वाद्य स्थिति के लिये किसी दूसरे रस पर निर्भर नहीं है।

२. वीररस की निष्पत्ति पर विचार करते समय ऐसी मनोवृत्ति का उल्लेख किया गया है जिसमें भाव का जागरण, उद्दीपन, संसूचन, सम्पोषण तथा अभिमान-युक्त रजोगुणमिश्रित सत्त्ववृत्ति की दशा विद्यमान रहती है। इस प्रकार वीररस की निष्पत्ति में अभिमान के साथ ही साथ रजोगुण एवं सत्त्ववृत्ति का अस्तित्व स्वीकार किया गया है।

३. वीररस की व्युत्पत्तिमूलक संचरना प्रकृति पर विचार करते हुए इसका सम्बन्ध 'वि' उपसर्गक 'रा' दाने अथवा 'ला' दाने धातुओं से स्थापित किया गया है। इस सन्दर्भ में 'र' तथा 'ल' वर्णों के अभेद भाव को स्वीकार किया गया है। अर्थ की दृष्टि से 'वि' उपसर्ग के तीन अभिप्राय उपस्थित किये गये हैं, जो क्रमशः विरुद्ध, विविध एवं विचित्र तथा विद्विष्ट रूपों में गृहीत हैं। 'वि' पद की विरुद्धार्थक स्थिति में 'रा' पद का अर्थ वध्य=हन् के रूप में ग्रहण किया गया है। विविध एवं विचित्र अर्थ की दशा में 'ला' धातु से जानने अथवा खण्डन करने का भाव दिखलाया गया है। इसी तरह विद्वेष अर्थ की दशा में 'रा' धातु का सम्बन्ध प्रेरणा के साथ दिखलाते हुए उद्विग्नता का भाव प्रकट किया गया है।

---

१. हास्येऽमी वीरगाभावा आवेगो हर्ष एव च।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३३ पं० ११।

४. वीररस की उत्पत्ति पर विचार करते हुए इसे ऋग्वेद से उत्पन्न बताया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में वासुकि, नारद तथा व्यासोक्त मार्गों का भी परिचयात्मक रूप दिखलाया गया है जो वीररस की भावमूलक स्थिति के पूर्णतः मेल में है।

५. वीररस के भेदों पर विचार करते समय वीरेतर रसों के वर्गीकरण में अपनायी गयी सामान्य पद्धति से भिन्न मार्ग अपनाया गया है। यह विवेचन क्रम अन्य रसों से सर्वथा स्वतन्त्र होते हुए वीररस की भावमूलक स्थिति के साथ पूर्ण सामञ्जस्य रखता है। वीररस-भेदों में युद्धवीर, दयावीर तथा दानवीर का उल्लेख किया गया है तथा प्रत्येक की विशेषताओं का लोकसम्मत रूप दिया गया है।

६. वीररस के देवता एवं वर्ण पर विचार करते हुए महेन्द्र को वीररस का देवता तथा गौरवर्ण को इस रस का वर्ण माना गया है। देवता तथा वर्ण की स्थितियों में सामञ्जस्य भाव की प्रतिष्ठा को शारदातनय के तद्विषयक विवेचन क्रम का सामान्यरूप कहा जा सकता है।

७. रस विषयक दृष्टियों के प्रसंग में वीररस की विविध दृष्टियों का मार्मिक रूप में विवेचन किया गया है। सामान्यतया भावज, रसज एवं संचारीभावज दृष्टियों का बाहुल्य है, किन्तु वीररस के सन्दर्भ में उन विशेष दृष्टियों का ही उल्लेख किया गया है जिनका सम्बन्ध केवल उसी रस विशेष से है।

८. प्रस्तुत रस के विभावगुण का उल्लेख स्थिर नाम से किया गया है। इस सन्दर्भ में स्थिर गुण की विशेषताओं का भी वर्णन किया गया है। वीररस के आलम्बन की गुणात्मक एवं योग्यतामूलक प्रकृति का भी विवेचन मार्मिक रूप में किया गया है।

९. यद्यपि विविध जातीय अनुभावों के पृथक्-पृथक् रूपों से किसी रस विशेष का पृथक् सन्निवेश नहीं दिखाया गया है, केवल विस्तृत विवेचन के लिये शृङ्गाररस में ही सामञ्जस्य भाव की प्रतिष्ठा का प्रयास किया गया है, फिर भी बुद्ध्या-रम्भानुभावों के वृत्ति नामक अनुभाव भेद की सात्वती वृत्ति को वीररस की वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।

१०. संचारीभावों के वर्णन प्रसंग में वीररस की सम्पुष्टि में सहायक सिद्ध होने वाले कतिपय संचारियों का पृथक् निर्देश किया गया है।

४—अद्भुत रस परिचय

उपस्थापन

अद्भुत रस का परिचयात्मक वर्णन करते हुए शारदातनय का कथन है कि जब चित्र संज्ञक विभाव सत्त्वादिभावों तथा स्वाश्रित अभिनयों से युक्त होकर स्वकीय

स्थायीभाव (विस्मय) में विद्यमान रहते हुए प्रेक्षकों के मन को रजः सत्त्वोज्ज्वल कर देता है तो वहाँ बुद्धियुक्त विकार आस्वाद्य स्थिति में अद्भुत रस कहलाता है[1]।

शारदातनय ने अद्भुतरस में चित्तवृत्ति की विचित्रता का उल्लेख किया है। इन्होंने अन्य रसों की तरह नाम पदों की व्युत्पत्तिपरक रचनात्मक प्रकृति के समान अद्भुत रस की व्युत्पत्तिगत स्थिति का विवेचन नहीं किया है, केवल चित्तवृत्ति की विचित्रता का संकेत मात्र कर दिया है।

अद्भुतरस की उत्पत्ति

अद्भुतरस की उत्पत्ति पर विचार करते हुए शारदातनय का कहना है कि अहंकारहीन रजोमिश्रित वीररस की आधारभूत स्थितियों से ही अद्भुत की उत्पत्ति होती है[2]। व्यासोक्त मार्ग से अद्भुत रस की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए शारदा-तनय का कहना है कि असुरों का वध करते हुए जब शंकर ने पार्वती की ओर देखते तथा मुस्कराते हुए असुरों के असंख्य बाणों को एक ही बाण से जला दिया, उस समय समस्त प्राणियों में अद्भुत का भाव जागृत हुआ। इसलिये वीर रस से ही अद्भुत रस की भी उत्पत्ति मानी जाती है[3]।

भेद

शारदातनय ने रसभेदों के विवेचन क्रम में अद्भुत रस के तीन भेदों का उल्लेख किया है जो मानस, आङ्गिक तथा वाचिक कहे गये हैं। मानस नामक अद्भुत की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए शारदातनय का कहना है कि ध्यान नेत्रविस्तार, मुख तथा दृष्टि में आह्लाद का रूप, आँखों में आनन्द के अश्रु, पुलकित रोमराशि, अपलक दृष्टि, मन की चंचलता जिस भावात्मक स्थिति में विद्यमान रहती है उसे अद्भुत रस का मानस रूप समझना चाहिए। इसी तरह अंगुलियों का घर्षण, उठ-उठ कर कुछ बोलते हुए भ्रमण करना, पारस्परिक आश्लेष का अभिनय, भुजाओं का परस्पर आश्लेष एवं पैर पटकना आदि विकार जिस भावात्मक स्थिति में विद्यमान रहते हैं उसे अद्भुत रस का आङ्गिक रूप माना जाता है। अद्भुत रस के वाचिक रूप की चर्चा करते हुए शारदातनय ने वाग्व्यापार की विभिन्न स्थितियों का उल्लेख किया है। इस प्रसंग में आपका कहना है कि जिस भावात्मक स्थिति में

---

१. यदा चित्रा विभावास्तु⋯रस्यते च तैः।

भा० प्र०—द्वि० अधि पृ० ४४ पं० ११-१५।

२. तस्मादेवाद्भुतो जातो रजोऽहङ्कारवर्जितात्।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४७ पं० १८।

विचित्रता, आचार मूलक स्थिति का विलक्षणता आदि की स्थिति स्वीकार की गयी है, और ऐसे आलम्बनों को माया-लीला-विलासी माना गया है। रसों के अनुभाव एवं सात्त्विक भावों के विवेचन में समस्त भाव-भेदों का उल्लेख करते हुए प्रत्येक का परिचयात्मक वर्णन किया गया है, किन्तु अद्भुतरस के साथ किसी विशेष भाव की स्थिति का सन्नियोजन कहीं भी नहीं किया गया है। इसी तरह स्थायीभावों की चर्चा के प्रसंग में क्रमानुसार विस्मय को अद्भुत का स्थायीभाव माना गया है।

अद्भुत के संचारीभावों का वर्णन करते हुए हर्ष, गर्व, स्मृति, मतिभ्रम, धृति, मद, तर्क, विबोध, चिन्तन, रोमांच, स्तम्भ, वेपथु तथा स्वेद को अद्भुतरस का संचारीभाव कहा गया है।

परिशीलन

शारदातनय द्वारा प्रस्तुत किये गये अद्भुत रस विषयक विवेचन को ध्यान में रखते हुए अद्भुत रस की निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

१. अद्भुतरस का परिचयात्मक विवरण उपस्थित किया गया है और इस रस में रजोगुण के सत्त्ववृत्ति की उज्ज्वलता का भी उल्लेख किया गया है। इस परिचयात्मक विवरण में चित्तवृत्ति की विचित्रता को विशेष महत्त्व दिया गया है। स्मरणीय है कि अन्य रसों के परिचयात्मक विवरण प्रसंग में जहाँ लोकप्रसिद्ध विशेषताओं की ओर ध्यान रखा गया है वहीं रस विशेष के नाम पद की व्युत्पत्तिगत स्थिति के साथ उसका सामञ्जस्य भी दिखाया गया है, किन्तु अद्भुत रस के परिचयात्मक विवरण में केवल लोकप्रचलित मान्यताओं का ही उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। इस पद की व्युत्पत्तिगत स्थिति पर कहीं भी विचार नहीं किया गया है।

२. अद्भुतरस की उत्पत्ति पर विचार करते हुए रसोत्पत्ति विषयक दो स्थितियों का उल्लेख किया गया है। अद्भुतरस की उत्पत्ति से सम्बद्ध प्रथम स्थिति के अनुसार इस रस को वीररस की ही स्थितियों से उत्पन्न हुआ बताया गया है। दोनों में दिखायी देने वाले अन्तर को यह कहकर स्पष्ट किया गया है कि अद्भुत में अहंकार का अभाव तथा रजोगुण का भाव विद्यमान रहता है। उत्पत्ति विषयक द्वितीय स्थिति का उल्लेख व्यासोक्त मार्ग के आधार पर किया गया है। इस प्रसंग में शारदातनय का कहना है कि असुरों के साथ युद्ध करते समय जब शंकर ने पार्वती की ओर देखते हुए मुस्कराकर असुरों द्वारा प्रयुक्त बाणों का एक ही बाण से विनाश कर दिया तब समस्त प्राणियों में अद्भुत का भाव जागृत हुआ और सभी ने अद्भुतरस का आस्वाद्य रूप ग्रहण किया।

३. अद्भुतरस के भेदों पर विचार करते हुए मानस, आङ्गिक तथा वाचिक नामों से इसके तीन भेदों का उल्लेख किया गया है और प्रत्येक की अभिनयात्मक स्थिति का लोकसम्मत विवेचन भी पृथक्-पृथक् किया गया है।

४. ब्रह्म देवता को अद्भुतरस का देवता तथा पीतवर्ण को अद्भुतरस का वर्ण कहा गया है। इस सम्बन्ध के किसी सामञ्जस्य विधायक आधार का उल्लेख 'भावप्रकाशनम्' में नहीं पाया जाता।

५. रसों की गतियों का जो सामान्य रूप उपस्थित किया गया है उसी में अद्भुतरस की स्थिति भी गतार्थ हो जाती है यही कारण है कि इसका कहीं भी अलग से वर्णन नहीं किया गया है।

६. रस विषयक दृष्टियों के क्रम में अद्भुतरस से सम्बन्ध रखने वाली कतिपय विशेष दृष्टियों का वर्णन किया गया है। इसी तरह बीभत्स एवं करुणरस के साथ अद्भुतरस की श्लिष्ट स्थिति को अद्भुताभास की संज्ञा दी गयी है।

७. विभावगुणों की चर्चा करते समय चित्र को अद्भुत का विभावगुण कहा गया है एवं अद्भुतरस से सम्बद्ध इस विशेष विभाव में विचित्रता तथा विलक्षणता को जागृत करने की शक्ति का सन्निवेश बताया गया है। अद्भुतरस के आलम्बन विभाव की चर्चा करते हुए इस रस के आलम्बनों में आवृत्ति, वेश एवं विलक्षणता को विशेष महत्त्व दिया गया है।

८. अनुभाव तथा सात्त्विकभावों के क्रम में जिन भेदोपभेदों का वर्णन यहाँ सामान्य रूप में किया जा चुका है उन्हीं में अद्भुतरस की गति भी गतार्थ हो जाती है। अद्भुतरस के किसी विशेष अनुभाव तथा सात्त्विक भाव का पृथक् निर्देश नहीं किया गया है।

९. व्यभिचारीभावों के गणना प्रसंग में अद्भुतरस को सम्पुष्ट करने वाले व्यभिचारीभावों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है जो रस विवेचन की परम्परा के सर्वथा अनुरूप है।

५. रौद्र-रस

उपस्थापन

रौद्ररस का परिचय देते हुए शारदातनय का कहना है कि खर गुण युक्त विभाव जब स्वानुकूल अन्य भावों के साथ स्थायीभाव (क्रोध) में विद्यमान रहता है, तब वह स्वकीय अभिनय के सहारे प्रेक्षकों का रजोगुण तथा तमोगुण युक्त मन अहंकार के साथ स्थायीभाव के जिस आस्वाद्य रूप का अनुभव कराता है उसे रौद्ररस कहा जाता है[१]। शारदातनय की इस मान्यता के अनुसार रौद्ररस की अनुभूति के अवसर पर सामाजिकों की मनोदशा अहंकार से युक्त तथा रजोगुण एवं तमोगुण

---

१. स रौद्ररसनामा स्याद् रस्यते च स तैरपि।
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४४ पं० २०।

विशिष्ट रहती है। इस रस के विभाव में खर नामक विभाव गुण विद्यमान रहता है। इसकी अनुभूति, अनुकूल भावों के सहयोग से स्वानुरूप अभिनय का माध्यम प्राप्त करके ही आस्वाद्यता ग्रहण करती है।

व्युत्पत्ति

शारदातनय ने रौद्ररस की व्युत्पत्ति के आधार पर भी तद्विषयक लोक-प्रचलित मान्यताओं का सामञ्जस्य दिखाने की चेष्टा की है। इस सम्बन्ध में इन्होंने रौद्र पद को रुद्र शब्द के साथ सम्बद्ध करके विचार किया है, जिसमें रुद्र, हाथ लगा दें, उसे रौद्र कहा गया है तथा ऐसे कर्म एवं कर्तृत्व के कारण को रौद्र कहा गया है। इसी तरह जो कर्म दूसरों को रुला दे उसे भी रौद्र कहा गया है[1]। शारदातनय ने व्युत्पत्तिमूलक उपर्युक्त विवेचन में रौद्र पद की व्युत्पत्तिगत स्थिति के दो प्रकारों का उल्लेख किया है। प्रथम विश्लेषणक्रम में रुद्र शब्द से रौद्र की व्युत्पत्ति दिखायी गयी है, दूसरे विश्लेषणक्रम में 'रुद्र' धातु से रौद्र पद की रचना का रूप उपस्थित किया गया है। दोनों ही स्थितियों में रौद्र पद की व्युत्पत्तिगत अर्थप्रकृति का लोक-प्रचलित परिचयात्मक स्वरूप के साथ पूर्ण सामञ्जस्य विद्यमान है।

उत्पत्ति

रौद्ररस की उत्पत्ति पर विचार करते हुए शारदातनय ने रजः, तमः एवं अहंकार के मनोगत प्रभाव पर विशेष बल दिया है। आपका कहना है कि बाह्यार्थ का सम्पर्क रजः, तमः एवं अहंकार से युक्त होकर मन के जिस विकार को जन्म देता है उसी को रौद्र कहा जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से रौद्र रस की उत्पत्ति का मूल स्रोत अथर्ववेद को बताया गया है[2]।

व्यासोक्त मार्ग से रौद्ररस की उत्पत्ति पर विचार करते हुए शारदातनय का कहना है कि जब भरतों ने ब्रह्मसभा में दक्ष के यज्ञ के विध्वंस का भावाभिनय प्रस्तुत किया तब ब्रह्मा के पश्चिम मुख से आरभटी-वृत्ति के माध्यम से रौद्र रस उत्पन्न हुआ[3]।

---

१. यत्कर्म रोदयत्यन्यान् स रौद्र इति वा भवेत्।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४९ पं० ४।

२. अथर्ववेदतो रौद्रो बीभत्सो यजुषः क्रमात्।

भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ५४ पं० १६।

३. यदा दक्षाध्वरध्वंसोऽभिनीतो भरतैर्दृढम्।
अभूदारभटीवृत्ते रौद्रः पश्चिमवक्त्रतः॥

भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ५७ पं० ६–७।

भेद

रौद्ररस के भेदों पर प्रकाश डालते हुए शारदातनय ने अंग, नैपथ्य एवं वाग् भेद से रौद्र के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है[1]। रौद्र के आङ्गिक रूप पर विचार करते हुए शारदातनय का कथन है कि अनेक-बड़े सिरों से तथा खड़े हुए पिंगल केशों से, अनेक शस्त्रास्त्रों को धारण करने वाले छोटे-बड़े अनेक हाथों से तथा चढ़े हुए लाल नेत्रों एवं काले-काले विशाल शरीरों से जो रौद्ररस उत्पन्न होता है उसे आङ्गिक रौद्र रस कहते हैं। इसी प्रकार काले तथा लाल वस्त्रों तथा काले एवं रक्त रंग के अनुलेप और काले एवं रक्त रंग की माला और काले तथा रक्त रंग के आभूषण धारण करते हुए जहाँ रौद्ररस की अनुभूति होती है, वहाँ नैपथ्याश्रित रौद्ररस माना जाता है। इसी तरह तोड़ो, फोड़ो, बाँधो, खाओ, मारो, आज तुम्हारा खून पी जाऊँगा आदि वाक्यों का जहाँ व्यवहार किया जाता है वहाँ रौद्ररस का वाचिक भेद स्वीकार किया गया है[2]।

देवता, वर्ण, गति, दृष्टि, विभावादि का परिचय

रौद्ररस के देवता पर विचार करते हुए शारदातनय ने रुद्र को इस रस का देवता बताया है। इस विषय में इन्होंने रस एवं देवता के पारस्परिक सामञ्जस्य का आधार भी उपस्थित किया है। इनका कहना है कि रोग रुजात्मक कार्य ही रौद्र के अधिष्ठान हैं। वे सब रुद्र देवता में विद्यमान हैं, इसलिये रुद्र को रौद्र रस का देवता माना गया है। देवता विषयक वर्ण क्रमानुसार रक्तवर्ण को रौद्ररस का वर्ण कहा गया है। रसों के सामान्य प्रसंग में उपस्थित की गयी गतियों को ही रौद्ररस की गति के स्वानुरूप प्रकार में अपना लेना यहाँ अभीष्ट है।

शारदातनय ने रौद्ररस की दृष्टियों का भी उल्लेख किया है। भावज, रसज एवं संचारीभावज दृष्टियों के रूप में जहाँ ६४ दृष्टियों का उल्लेख किया है उसी प्रसंग में उद्वर्तित, उद्वृत्त, विवृत्त, विवर्तित, स्तब्ध, उत्फुल्ल, उल्लोल, उद्धुर, विश्लिष्ट, निष्ठुर, शुष्क, कुटिल, चटुल दृष्टियों का रौद्ररस की दृष्टियों के रूप में वर्णन किया गया है। इस विषय में कतिपय अन्य दृष्टियों का शारदातनय ने पुनः उल्लेख किया है जो रस प्रकार है—क्रूरा, रूक्षा, अरुणा, पूर्ववृत्ता, निष्ठसपुटतारका भ्रूकुटी, कुटिला और रौद्रा इन दृष्टियों को रौद्ररस की निष्पत्ति में सहायक बताया है।

रौद्ररस के विभावगुण को खर की संज्ञा दी गयी है। इस गुण के सम्बन्ध में शारदातनय का कथन है कि इस वर्ग के विभाव ग्रहण मात्र से मन को कातर

---

१. अङ्गनैपथ्यवाग्भेदात् त्रिविधो रौद्र उच्यते।

भा० प्र० — तृ० अधि० पृ० ६४ पं० ८।

२. एवमादिर्विकारो यः स भवेद् वाचिकोऽद्भुतः।

भा० प्र० — तृ० अधि० पृ० ६६ पं० ८।

बना देने में सक्षम होते हैं। ऐसे ही विभाव रौद्ररस के उत्कर्ष को बढ़ाने में सहायक सिद्ध होते हैं। रौद्ररस के आलम्बनों का वर्णन करते हुए अनेक बाहु, अनेक मुख, श्वेत एवं दीर्घदन्त तथा क्रूर व्यवहारों को रौद्ररस का आलम्बन बताया गया है। अनुभावों के वर्णन प्रसंग में आरभटी को इस रस की वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी तरह रौद्ररस के संचारीभावों का उल्लेख करते हुए हर्ष, आवेग, उग्रता, उन्माद, मद, गर्व, चपलता, ईर्ष्या, असूया, श्रम, अमर्ष, अवहित्था, अपत्रपा, निश्वास, स्तम्भ, रोमांच और स्वेद की गणना रौद्ररस के संचारीभावों में की गयी है। शोक संयुक्त रौद्र को रौद्राभास बताया गया है।

स्थायीभावों के वर्णन प्रसंग में शारदातनय ने क्रोध को रौद्र के स्थायीभाव रूप में ग्रहण करते हुए तद्विषयक भेदों का विशद विवेचन किया है। रसविषयक सात्त्विकभावों की चर्चा का सामान्य रूप ही सभी रसों के मध्य निर्वहणीय है।

शारदातनय ने रौद्ररस की गणना प्रधान रसों में की है, क्योंकि यह रस भी प्रधान रस के अन्य भेदों के समान ही उत्पत्ति की दृष्टि से अपना स्वतन्त्र अस्तित्त्व रखता है[१]।

परिशीलन

शारदातनय द्वारा रस विवेचन को ध्यान में रखते हुए रौद्ररस सम्बन्धी निम्नलिखित सामान्य विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

१. रौद्ररस का सामान्य परिचय देते हुए विद्वान् आचार्य ने लोकप्रचलित मान्यताओं का पूर्ण संरक्षण किया है और इस रस की आस्वाद्य स्थिति के लिये रजोगुण तथा तमोगुण विशिष्ट अहंकारयुक्त मनोदशा को आवश्यक स्वीकार किया है। रौद्र रस विषयक सामान्य परिचय के साथ रौद्रपद की व्युत्पत्तिमूलक अर्थ प्रकृति का सामञ्जस्य दिखलाते हुए इस पद का सम्बन्ध रुद्र पद तथा रुद्र धातु से जोड़ा गया है। इस प्रकार लोक प्रचलित मान्यताओं तथा व्युत्पत्तिमूलक अर्थप्रकृतियों में समानार्थकता स्थापित की गयी है।

२. रौद्ररस की उत्पत्ति के ऐतिहासिक क्रम को अन्य प्रधान रसों की तरह वैदिक वाङ्मय से ही स्वीकार किया गया है तथा अथर्ववेद से रौद्ररस की उत्पत्ति मानी गयी है। उत्पत्ति के प्रस्तुत प्रसंग में व्यासोक्त मार्ग का भी उल्लेख किया गया है और दक्ष प्रजापति के यज्ञ-विध्वंस-काल में उपस्थित हुई स्थिति के भावाभिनय से रौद्ररस की उत्पत्ति बतायी गयी है।

---

१. तस्मात् प्रधानाः श्रृङ्गारवीररौद्राः पृथक्-पृथक्।

भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ५५ पं० १८।

३. अङ्ग, नैपथ्य तथा वाग् विषयक आधार क्रमों के अनुरूप रौद्ररस के तीन भेद किये गये हैं। इस प्रसंग में प्रत्येक प्रकार का विश्लेषणात्मक वर्णन भी किया गया है।

४. रौद्ररस के विभावों की चर्चा करते हुए इसका सम्बन्ध खर नामक विभाव गुण से जोड़ा गया है। प्राप्त प्रसंग के अनुरूप खर गुण की विशेष स्थिति का भी वर्णन किया गया है। विभाव गुण की चर्चा के साथ ही साथ अन्य रसों के ही समान रौद्ररस के आलम्बन विभाव की विशेष स्थितियों का भी परिचय दिया गया है। ऐसा करते समय हमारे विद्वान् आचार्य की दृष्टि आलम्बनगत बाह्य रूपों के साथ ही साथ आन्तरिक अनुभूतियों तथा क्रियात्मक प्रवृत्तियों तक व्याप्त दिखायी देती है।

५. शारदातनय ने रुद्र को रौद्ररस का देवता बताया है, और रौद्ररस की विशेषताओं से रुद्रदेव की विशेष प्रकृतियों की संगति भी दिखायी गयी है। इसी सन्दर्भ में रक्त वर्ण को रौद्ररस का वर्ण भी सिद्ध किया गया है।

६. शारदातनय ने रस विषयक दृष्टियों के क्रम में रौद्ररस की दृष्टियों का दो रूपों में पृथक्-प्रथक् उल्लेख किया है। दृष्टि विषयक इन चर्चाओं में रौद्र रस की निष्पत्ति में सहायता करने वाली उन दृष्टियों का ही रौद्ररस की दृष्टि के रूप में विवेचन किया है जिनका प्रस्तुत रस से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

७. रौद्ररस की गणना प्रधान रसों में की गयी है और इस वर्ण के अन्य रसों की तरह रौद्र रस की उत्पत्ति को स्वतन्त्र बताया गया है।

८. अनुभावों के विविध रूपों में रस सामान्य की ओर शारदातनय की जो दृष्टि रही है उसका वर्णन पिछले प्रसंगों में किया जा चुका है। इस सन्दर्भ में शारदातनय ने बुद्ध्यारम्भानुभावों में वर्णित आरभटी वृत्ति का सम्बन्ध रौद्ररस से बताया है।

९. सात्त्विक भावों की स्थिति रौद्ररस में भी अन्य रसों की विवेचना शैली से पूर्ण मेल रखती है। क्रोध नामक स्थायी भाव को रौद्ररस के साथ सम्बद्ध बताते हुए क्रोध के विविध रूपों का भी वर्णन किया गया है जिसका उल्लेख स्थायीभाव विषयक पिछले प्रसंग में किया गया है।

१०. रौद्ररस के संचारिभावों का अन्य रसों के संचारिभावों की तरह पृथक् उल्लेख किया गया है। अन्य रसाभासों की तरह रौद्ररसाभास का भी संक्षिप्त रूप में उल्लेख किया गया है।

६—करुण-रस

उपस्थापन

करुण रस का परिचय देते हुए शारदातनय का कथन है कि जब रूक्ष गुण युक्त विभाव अन्य सहयोगी भावों के साथ शोक नामक स्थायीभाव में विद्यमान रहते हैं

तब स्वानुरूप अभिनय के सहयोग से चिन्तावस्थ तमोरूढ़ जड़ात्मक मन जिस विकार की आस्वाद्य स्थिति का अनुभव करता है उसे करुणरस कहा जाता है[1]। इस परिचयात्मक विवरण में शारदातनय ने रूक्ष नामक विभाव गुण की करुणरस परक स्थिति को स्वीकार किया है तथा करुणरस से सम्बद्ध मनोवृत्ति को चिन्तावस्थ जड़ात्मक एवं तमोगुण युक्त बताया है।

उत्पत्ति

करुणरस के उपर्युक्त परिचयात्मक विवरण से करुण पद की व्युत्पत्तिगत अर्थ प्रकृति का सामञ्जस्य भी दिखाया गया है। इस प्रसंग में 'करु' पद को क्लेशार्थक बताते हुए यह कहा गया है कि जिसकी बुद्धि क्लेश न सह सके उस स्थिति के बोधक पद को करुण कहा जाता है[2]। इस प्रसंग में शारदातनय ने करुण पद के लोकसम्मत अर्थ की संगति का भी निर्वाह किया है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए आपका कहना है कि जहाँ पराश्रित क्लेश की असहिष्णुता रहती है वहाँ मन का जैसा भाव होता है उसे करुण कहा जाता है[3]।

अपने व्युत्पत्तिमूलक उपर्युक्त विवेचन में शारदातनय ने सबसे पहले करुण शब्द के 'करु' अंश का सम्बन्ध क्लेशार्थ से जोड़ते हुए करुण पद के दुःखमूलक भाव का पूर्ण संरक्षण किया है। विद्वान् आचार्य ने इस दुःखात्मक स्थिति को स्वाश्रित दुःख से सर्वथा पृथक् सिद्ध करते हुए विवेचना क्रम में पराश्रित क्लेश का स्पष्ट उल्लेख किया है। यह एक ऐसा तथ्य है जो करुण पद के लोकसम्मत अर्थ का पूरा प्रतिनिधित्व करता है। वस्तुतः लोक प्रसिद्ध मान्यताओं के अनुसार दूसरे के दुःख को देखने वाले के मन में उत्पन्न होने वाले दुःख को ही करुण कहा जाता है। पराश्रित क्लेश विषयक शारदातनय द्वारा किया गया उपर्युक्त संकेत करुणपदमूलक लोकप्रचलित इस मान्यता से साम्य प्रकट करता है।

उत्पत्ति

अन्य रसों के समान 'भावप्रकाशनम्' में करुणरस की उत्पत्ति पर भी विचार किया गया है। यहाँ रजोहीन अहंकारवर्जित रौद्र से ही करुण की उत्पत्ति बतायी

---

१. प्राप्नोति सोऽपि करुणरसतां रस्यते च तैः।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४५ पं० ३।

२. करुः क्लेश इति''''''करुणो भवेत्।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४९ पं० १०–११।

३. पराश्रितानां लेशानाम्''''''करुण उच्यते।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४९ पं० १२–१३।

गयी है[1]। व्यासोक मार्ग से करुणरस की उत्पत्ति बताते हुए शारदातनय का कहना है कि रुद्र की आज्ञा से वीरभद्र ने दक्षयज्ञ को ध्वस्त कर दिया और विविधप्रहारों से देवताओं को दण्डित कर दिया तब आँख, कान, नाक आदि से विहीन उन्हें (देवताओं) दीन भाव से रुदन करते देखकर सखियों के साथ शिवा के मन में महती करुणा का उदय हुआ। इसी आधार पर रौद्र रस से करुणरस की उत्पत्ति बतायी गयी है।

भेद

शारदातनय ने रसों के वर्णन-प्रसंग में मन, वाक् एवं अंग व्यापारों के आधार पर करुणरस के तीन भेद बताये हैं जिन्हें मानसिक, वाचिक एवं आङ्गिक कहा गया है। मानसिक करुण की चर्चा करते हुए आपने स्पष्ट कर दिया है कि वाक्यार्थों का अनुसन्धान, निश्वास तथा उच्छवास की दीर्घता, केश, वस्त्र तथा अंग संस्कारों की अपेक्षा, अनुभूत भावों की अनभिज्ञता, चित्त की चंचलता स्नेहमय समस्त विषयों के प्रति विरक्ति एवं अनासक्ति तथा आकाश-वीक्षण दशा वाले करुण को मानसिक करुण कहा गया है। वाचिक करुण की चर्चा करते हुए आपने इसे करुण का ऐसा रूप बताया है जिसमें हाहाकार, रुदन, प्रलाप, दीर्घभाषण, दूर से आह्वान एवं क्रन्दन की स्थिति विद्यमान हो। इस प्रसंग में शारदातनय ने आङ्गिक करुण का पृथक् विवेचन नहीं किया है। सम्भवतः करुण की अनुभूति के अवसर पर शारीरिक अंगों में दिखायी देने वाली क्रियात्मक गति-विधियों को ध्यान में रखते हुए ही आङ्गिक भेद का पृथक् उल्लेख किया हो, किन्तु सम्भवतः क्रियामूलक प्रसिद्ध स्थितिवश करुण के इस भेद का पृथक् विवेचन न किया गया हो।

करुणरस के देवता, वर्ण, जाति, दृष्टि, विभावादि परिचय

रस विषयक चर्चा के देवता क्रम में शारदातनय में यम को करुणरस का देवता माना है। इस रस के साथ यम देवता की स्थिति का सामञ्जस्य बताते हुए शारदतनय का कथन है कि दया को करुण का अधिष्ठान कहा जाता है। यह देवता, दया की अनुभूति के साथ ही पाप को नियन्त्रित करता है। इसलिये करुणा का दया से और दया का यमराज के पापनियन्त्रण से निकट सम्बन्ध मान्य है। इसी पृष्ठ-भूमि में यम देवता को करुणरस का देवता बताया गया है[2]। करुणरस के वर्ण पर विचार करते हुए कपोतवर्ण को इस रस का वर्ण कहा गया है।

---

१. करुणस्तत एव स्याद् रजोऽहङ्कारवर्जितात्।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४७ पं० २१।

२. रुद्रस्य च तदस्तीति······सोऽस्याधिदैवतम्।

भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ६८ पं० १७-१९।

रस विषयक गतियों पर विचार करने पर इस रस की गतियों का भी वर्णन पूर्ववर्णित अन्य रसों के ही समान है। शारदातनय ने भावज, एवं रसज आदि दृष्टियों के सन्दर्भ में शोक एवं करुण विषयक दृष्टियों का विशेष वर्णन उपस्थित किया है। इन दृष्टियों में ससम्भ्रम, जड़, सम्भ्रम, सव्यय, आर्त्त, परिम्लान, तप्त एवं मलिन आदि के साथ ही साथ पतिता, ऊर्ध्वपुटा, शास्त्रा, मन्युमन्थरतारका, नासाग्रा, अनगता नामक दृष्टियों का उल्लेख किया है। विद्वान् विवेचक ने शोक आदि स्थायी-भावों से सम्बद्ध कतिपय अन्य दृष्टियों का भी उल्लेख किया है, जिनमें कतिपय दृष्टियों की विशिष्ट प्रकृतियाँ विषय के पिष्टपेषण को व्यक्त करती हैं।

करुणरस के विभावों की चर्चा करते हुए रूक्ष गुण विशिष्ट विभाव का उल्लेख किया गया है। रूक्ष की प्रकृति में शारदातनय ने ऐसी विशेषता का उल्लेख किया है जिसके प्रभाव में विषय का साक्षात्कार होते ही नेत्रों के तत्क्षण पीड़ित होने की अवस्था विद्यमान रहती है। करुणरस के आलम्बन विभाव का विश्लेषण करते हुए कृश, विषण्ण, मलिन, रुग्ण, दुःखी तथा दरिद्रता से पीड़ित व्यक्ति को करुण का आलम्बन बताया गया है। शोक को करुण का स्थायीभाव स्वीकार करते हुए स्थायीभावों के वर्णन प्रसंग में उसकी विविध स्थितियों का प्रभावपूर्ण रूप से विश्लेषण किया गया है।

सात्त्विक भावों की दृष्टि से करुण की स्थिति अन्य रस भेदों की विश्लेषणात्मक प्रकृति से पूर्ण साम्य रखती है। व्यभिचारी भावों की चर्चा के सन्दर्भ में आवेग, जड़ता, उन्माद, वितर्क, मोह, आलस्य, अपस्मृति, व्याधि, कार्श्य, श्वास, विवरणता तथा स्तम्भादि आठ संचारियों का संकेत किया गया है।

परिशीलन

शारदातनय द्वारा वर्णित करुणरस-विवेचनक्रम को ध्यान में रखते हुए इस की निम्नलिखित सामान्य विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

१. करुणरस का सामान्य परिचय देते हुए शारदातनय ने तद्विषयक मनोभूति की दशा को चिन्तावस्थ, तमोरूढ़ तथा जड़ात्मक कहा है। इस सन्दर्भ में करुण पद की लोकप्रसिद्ध अर्थप्रकृति के साथ व्युत्पत्तिगत स्थिति का सामञ्जस्य भी दिखाया गया है। व्युत्पत्ति के इस विशेष विवरण में 'करु' पद को क्लेशार्थक बताते हुए करुण पद के दुःखभाव का पूर्ण संरक्षण किया गया है। आगे के प्रसंगों में पराश्रित क्लेश को ही करुण विषयक क्लेश से सम्बद्ध बताते हुए करुण के लोक-प्रचलित अर्थ के प्रति पूरी तरह से न्याय किया गया है।

२. शारदातनय ने करुणरस की उत्पत्ति पर विचार किया है तदनुसार यह एक अप्रधान रस है जिसकी स्थिति रौद्ररस पर निर्भर है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति रौद्र से ही होती है। दोनों में अन्तर केवल यही है कि रौद्र में रजोगुण तथा अहंकार की स्थिति

विद्यमान रहती है, किन्तु करुण में इन दोनों ही स्थितियों का अभाव रहता है। व्यासोक्त मार्ग से भी करुणरस की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार वीरभद्र द्वारा यज्ञविध्वंस की स्थिति में देवताओं पर जो विकट प्रहार किया गया उससे रुदन, क्रन्दन की ध्वनि व्याप्त हो उठी इसी ने सखियों के साथ-साथ पार्वती के मन में करुण भाव को जागृत किया। इस विवेचनक्रम के अनुसार भी रौद्र से ही करुणरस की उत्पत्ति बतायी गयी है।

३. रस भेदों के प्रसंग में मानसिक, वाचिक तथा आङ्गिक रूप में करुण के तीन भेदों का निरूपण किया गया है। आङ्गिक के अतिरिक्त अन्य करुण भेदों का सम्यक् विवेचन भी किया गया है।

४. विविध रसों के देवताओं पर विचार करते हुए यमराज को करुणरस का देवता बताया गया है। इसके आधार रूप में करुणा का दया तथा दया का यमदेवता से सम्बन्ध दर्शाते हुए देवता विषयक मान्यता की युक्ति-युक्त संगति बैठायी गयी है। इसी प्रसंग में रसों के वर्णों पर विचार करते हुए करुणरस का कपोत वर्ण बताया गया है।

यद्यपि रस विषयक गतियों की चर्चा में रस सामान्य पद्धति को ही अपनाया गया है, किन्तु रसज, भावज आदिक दृष्टियों के सन्दर्भ में करुणरस विषयक कतिपय विशेष दृष्टियों का उल्लेख करते हुए प्रत्येक के विषय में गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

६. रस के विभावों का उल्लेख करते हुए करुणरस के रूक्ष विभाव को चर्चा की गयी है और रूक्षता की विशेषताओं का भी प्रभावपूर्ण ढंग से विवेचन किया गया है। इस प्रसंग में करुणरस के आलम्बन विभाव की विशेष प्रकृतियों का भी संकेत किया गया है। शोक को करुण का स्थायीभाव मानकर इस पद की भावात्मक चर्चा को गयी है। सात्त्विक भावों के प्रसंग में अन्य रसों जैसी सामान्य पद्धति का ही आश्रय लिया गया है।

७. करुणरस के संचारीभावों का पृथक् निर्देश करते हुए इस वर्ग के प्रत्येक संचारीभाव का परिचयात्मक वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

७—बीभत्स-रस

उपस्थापन

शारदातनय ने बीभत्सरस की गणना रसों के प्रधान वर्ग में की है और उत्पत्ति विषयक स्वतन्त्रता के आधार पर इस रस की प्रधान स्थिति का उल्लेख किया है। बीभत्सरस का परिचय देते हुए आपका कथन है कि निन्दित गुणयुक्त विभाव जब स्थायीभाव (जुगुप्सा) में अन्य सहयोगी भावों के साथ विद्यमान रहते

हुए सामाजिकों के बुद्ध्यवस्थ एवं असत्त्वयुक्त चिदन्वयी मन में विकार उत्पन्न करता है तो तत्कालीन भाव के आस्वाद्य रूप को बीभत्स कहा जाता है[१]।

व्युत्पत्ति

शारदातनय ने सन्नन्त 'बध्' धातु से बीभत्सपद की रूप-रचना को स्वीकार किया है और जिस पदार्थ में बीभत्सता रहती है उसे बीभत्स कहा है। इस सन्दर्भ में विद्वान् आचार्य ने गर्हा, निन्दा, बीभत्सा, उत्साह आदि को पर्यायवाची बताया है और स्पष्ट कर दिया है कि गर्हणीय, निन्द्य, कुत्सनीय जो भाव रहता है वही बीभत्स नाम से व्यवहृत होता है। इस प्रकार शारदातनय ने सन् प्रत्ययान्त 'बध्' धातु से बीभत्स रस की व्युत्पत्ति को स्वीकार करते हुए उसे गर्हणीय, निन्दनीय और कुत्सनीय अर्थों से समन्वित कर बीभत्स विषयक लोकप्रसिद्ध मान्यताओं की पूरी तरह रक्षा की है और शास्त्रीय प्रक्रिया से प्राप्त अर्थ को लोकप्रसिद्ध अर्थ के साथ समन्वित कर दिया है[२]।

उत्पत्ति

शारदातनय ने बीभत्सरस की उत्पत्ति पर विचार करते हुए इसे यजुर्वेद से उत्पन्न बताया है और तम एवं सत्त्व युक्त मन से बाह्यार्थ का आश्रय लेकर बीभत्स-रस को उत्पन्न होने वाला सिद्ध किया है। व्यासोक्त मार्ग से बीभत्सरस की उत्पत्ति पर विचार करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थकार का कहना है कि ब्रह्मसभा में नटों ने जिस समय शंकर के कल्पान्त कर्म का अभिनय किया उस समय ब्रह्मा के उत्तरमुख से भारती वृत्ति के सहारे बीभत्सरस उत्पन्न हुआ[१]।

बीभत्सरस के प्रकारों की चर्चा करते हुए सर्वप्रथम परिस्थितियों के आधार पर बीभत्स के दो रूपों का निर्वचन किया गया है। इसका पहला रूप रुधिरादिक क्षोभकारक वातावरण में अनुभूत होता है। इसी तरह इसका दूसरा रूप विष्ठादिक उद्वेगकारक वातावरण में बोधगम्य होता है। इस सन्दर्भ में विद्वान् आचार्य ने वाक्, काय तथा मन के आधार पर बीभत्स के तीन प्रकारों का पुनः उल्लेख किया है। इस विषय में आपका कहना है कि बीभत्स का मानस रूप ही उसकी स्वा-भाविक दशा को व्यक्त करता है। इस रस के आङ्गिक रूप को कृतक (कृत्रिम) बताया गया है। वाचिक रूप पर इस सन्दर्भ में कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। विशेष चर्चा के अगले क्रम में आङ्गिक विकार को उद्वेगज कहा गया है। इसी

---

१. निन्दिता ये विभावाः······लभते रस्यते च तैः।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४५ पं० ४-८।

२. बधेर्धातोस्सनन्तस्य······बीभत्स इति संज्ञया।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४९. पं० १४-१८।

तरह मानस बीभत्स का विस्तृत विवेचन करते हुए शारदातनय का कहना है कि रुधिरादि को देखने पर मन क्षुब्ध एवं चंचल हो उठता है, अतः मानस बीभत्स का रूप क्षोभकारक होता है। इस क्षोभ के प्रभाव से भय, म्लानता, बारम्बार विद्वेष का अनुभव एवं बोध तथा क्रन्दन, अपक्रमण, खेद, निन्दा, दया, भ्रमणादिक स्थिति, स्थिरता, मौनता, गोपनीयता आदि के भाव जागृत होते हैं। जहाँ तक उद्वेग से उत्पन्न आङ्गिक बीभत्स का सम्बन्ध है, इसमें वस्त्रावगुण्ठन, नासाच्छादन, नेत्रकूणन, अस्पष्ट रूप में पादविक्षेपण तथा मुखमुद्रा में विकृति, तेजी से पैर बढ़ाकर हटना तथा बार बार थूकना आदि कार्य व्यापार के बाह्यरूप दृष्टिगोचर होते हैं[1]।

देवता-वर्ण-गति-अनुभावादि

रसों के देवता विषयक वर्णनक्रम में शारदातनय ने महाकाल को बीभत्स एवं भयानक रसों का देवता बताया है। महाकाल के बीभत्सरस का देवता कहे जाने में उनकी विशेष प्रकृति के साथ बीभत्स की स्थिति का साम्य ही आधार है। महाकाल अस्त्रिगात्मक देवता है। प्रलय में बीभत्स की भी ऐसी ही स्थिति मानी गयी है। इसी आधार पर महाकाल को बीभत्स का देवता माना गया है। रसों के वर्णों की विवेचना के अवसर पर नील वर्ण को बीभत्सरस का वर्ण कहा गया है और उसे देवता के अनुरूप बताया गया है।

रस विषयक गतियों में बीभत्स की स्थिति अन्य रसों जैसी ही है। बीभत्स रस की दृष्टियों का विवेचन करने में शारदातनय ने अन्य रसों की दृष्टि विषयक पद्धति का ही आश्रय लिया है। इस सन्दर्भ में अरोचक, अनुत्सेक, आविद्ध, विद्ध, विकृष्ट, विनिष्क्रान्त, विनिगीर्ण, विलोहित, निकुञ्चित, पुटापांगा, उपप्लुततारका, संश्लिष्ट और स्थिरपक्ष्मा, नामक दृष्टियों का उल्लेख किया है। 'भावप्रकाशनम्' में निन्दित को बीभत्स का विभाव गुण बताया गया है और इसकी विवेचना करते हुए कहा गया है कि इस वर्ग के भावों को देखते ही आँखें शीघ्र बन्द हो जाती हैं और इसकी स्पृहा नहीं रह जाती। ऐसे ही भाव बीभत्सरस के उल्लासक होते हैं। बीभत्स के आलम्बनों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि निन्दित आकृति तथा वेश वाले, रुग्ण शरीर वाले मनुष्य एवं पिशाच आदि इस रस के आलम्बन होते हैं।

अनुभावों के वर्णन प्रसंग में बीभत्स की स्थिति अन्य रसों जैसी ही है। मुख्य रस के रूप में इस रस की आरभटी वृत्ति का उल्लेख किया गया है। व्यासोक्त मार्ग से रसों की उत्पत्ति के वर्णन प्रसंग में भारतीवृत्ति का भी उल्लेख पाया जाता है। इस विषय में ज्ञातव्य है कि भारती वृत्ति को शारदातनय ने सर्वरसोपयोगी

---

१. उद्वेगजो यो बीभत्सः.........बीभत्स उच्यते।
भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ६७ पं० १०-१४।

वृत्ति के रूप में ग्रहण किया है। सात्त्विक रसों की स्थिति बीभत्स रस में भी अन्य रसों के समान सामान्यमूलक है।

रस विषयक प्रसंग में संचारीभावों पर प्रकाश डालते हुए शारदातनय ने मोह, अपस्मृति, उन्माद, विषाद, चपलता, आवेग, जाड्य, दैन्य, ग्लानि, श्रम तथा स्तम्भादि आठ संचारियों को बीभत्सरस के संचारीभावों में गिना है।

परिशीलन

शारदातनय ने रस विवेचन क्रम में बीभत्स विषयक जो वर्णन प्रस्तुत किया है उसकी निम्नलिखित विशेषताएं कही जा सकती हैं—

१. बीभत्स एक प्रधान वर्गीय रस है जो निन्दा गुण युक्त विभाव की स्थिति द्वारा बुद्ध्यवस्थ असत्त्वयुक्त चिदन्वयी मन में आस्वाद्यभाव के रूप में ग्राह्य होता है। इस परिचयात्मक प्रसंग में शारदातनय ने बीभत्सरस ग्राहक मन की तीन स्थितियों का स्पष्ट उल्लेख किया है जो क्रमशः बुद्ध्यवस्थ, असत्त्वयुक्त तथा चिदन्वयी रूप में मान्य है। व्युत्पत्ति के अनुसार सन् प्रत्ययान्त बध् धातु से बीभत्स पद की संरचनात्मक प्रकृति का सम्बन्ध दिखाया गया है तथा बीभत्स को गर्हणीय, निन्दनीय तथा कुत्सनीय बताते हुए लोकप्रसिद्ध अर्थ प्रकृति से बीभत्स का सामञ्जस्य दिखाया गया है।

२. बीभत्सरस की उत्पत्ति पर विचार करते हुए शारदातनय ने इसे यजुर्वेद से उत्पन्न बताया है और इस रस की उत्पत्ति के आधार रूप में मन की दशा को तम तथा सत्त्व से विशिष्ट स्वीकार किया है। इस सन्दर्भ में व्यासोक्त मार्ग पर प्रकाश डालते हुए कल्पान्त की स्थिति से इस रस को उत्पन्न बताया है।

३. बीभत्सरस के भेदों का वर्णन करते हुए शारदातनय ने दो आधारों का उल्लेख किया है जिन्हें क्रमशः वातावरणमूलक तथा अभिनयात्मक कहा जा सकता है। वातावरण के आधार पर बीभत्स के दो रूपों की चर्चा की गयी है। इस स्थिति के अनुरूप बीभत्सरस का प्रथम रूप क्षोभकारक होता है जो रुधिर आदि की विपुलता के बाह्यरूप से प्रभावग्रहण करता है। दूसरा रूप उद्वेगकारक कहा गया है जो विष्ठादिक बाह्य स्थितियों में बोधगम्य होता है। अभिनय गर्भ की दृष्टि से बीभत्स के तीन भेदों का उल्लेख किया गया है जिन्हें क्रमशः वाचिक, आङ्गिक तथा मानसिक बीभत्स की संज्ञा दी गयी है। इनमें आङ्गिक तथा मानसिक बीभत्स की विशेषताओं का विस्तृत विवेचन दिखायी देता है, किन्तु वाचिक विषय में परिचयात्मक चर्चा का अभाव खटकता है।

४. शारदातनय ने महाकाल को बीभत्सरस का देवता स्वीकार किया है और कल्पान्त की बीभत्सपूर्ण स्थिति से महाकाल देवता का सामञ्जस्य स्थापित किया

गया है। रस विषयक वर्णों की चर्चा के प्रसंग में नीलवर्ण को बीभत्सरस का वर्ण कहा गया है।

५. रस विषयक गतियों के वर्णन में अन्य रसों जैसी सामान्य शैली का उपयोग किया गया है, किन्तु बीभत्सरस की दृष्टियों का विश्लेषणात्मक विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

६. बीभत्स के विभाव की चर्चा करते हुए शारदातनय ने निन्दित विभाव का उल्लेख किया है तथा इस रस के आलम्बन विभावों की विशिष्ट स्थितियों का प्रभावपूर्णरूप में विवेचन किया है।

७. अनुभाव विषयक विश्लेषण प्रसंग में बीभत्स की स्थिति अन्य रसों जैसी ही है, किन्तु बीभत्सरस की आरभटीवृत्ति का विशेष रूप में उल्लेख किया गया है। व्यासोक्त मार्ग के वर्णन प्रसंग में बीभत्स के साथ भारतीवृत्ति का जो सम्बन्ध दिखाया गया है उसे भारती के सभी रसों में सामान्य रूप से सहयोगी स्वीकार किये जाने के फलस्वरूप ही प्रासंगिक रूप में उल्लिखित माना जा सकता है।

८. बीभत्स के संचारियों का विशेष रूप से पृथक् उल्लेख किया गया है जो विश्लेषण की दृष्टि से संकेत ग्राहक मात्र ही है।

८. भयानक-रस

उपस्थापन

भयानकरस का परिचयात्मक वर्णन करते हुए शारदातनय ने बीभत्स के कर्म को ही भयानक बताया है[1]। इस सन्दर्भ में भयानक को बीभत्स का आश्रित रस बताया गया है। इस रस का परिचय देते हुए शारदातनय ने कहा है कि जब विकृत नामक विभाव अपने उपयोगी अन्य भावों के सहयोग से स्थायीभाव (भय) में विद्यमान रहता हुआ सामाजिकों के चिन्तावस्थ तमोन्वयी सत्त्वान्वित मन को आस्वाद्य स्थिति में उपस्थित करता है तब आस्वाद्यभाव को भयानक रस माना जाता है। इस सन्दर्भ में शारदातनय ने नाट्य व्यापार के अनुकूल अभिनय को भी उचित महत्त्व प्रदान किया है[2]।

व्युत्पत्ति

भयानक पद की व्युत्पत्तिमूलक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए शारदातनय ने भय पद का सम्बन्ध 'ञिभी भये' धातु से स्थापित किया है और उसी से भयार्थकता

१. बीभत्सस्यापि यत्कर्म स भयानक ईरितः।
भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ५५, पं० १३।

२. यदा तु विकृता भावाः······रस्यते च तैः।
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४५, पं० ९-१३।

को व्युत्पन्न रूप में दिखलाया है[१]। इस सन्दर्भ में विद्वान् आचार्य ने डरने, डराने, किसी के चलने, चलाने में भय की भावना का निरूपण किया है। इस प्रकार भयानक पद के लोकप्रसिद्ध अर्थ से व्युत्पत्तिमूलक अर्थ का सामञ्जस्य दिखाया है।

उत्पत्ति

भयानक रस की उत्पत्ति पर विचार करते हुए शारदातनय ने सत्त्वबुद्धि-विहीन तामस मन की दशा में बाह्यस्थिति से ही भयानक को उत्पन्न बताया है, व्यासोक्त मार्ग से भयानकरस की उत्पत्ति बताते हुए शारदातनय का कथन है कि भस्मीभूत आदि-देवों की हड्डियों को फेंक कर भैरव जब भस्म का लेप करके श्मशान में नृत्य करने लगे तो उन्हें देखकर प्रमथगण तथा प्राणियों के अन्य समूह भयवश भ्रान्तचित्त होकर उन्हीं (भैरव) की शरण में उपस्थित हुए। इसीलिये बीभत्स से भयानक की उत्पत्ति मानी जाती है[२]।

भेद

रस भेदों की चर्चा के प्रसंग में भयानक के मानस, वाचिक तथा आङ्गिक भेदों का उल्लेख किया गया है। इसके आङ्गिक रूप पर विचार करते हुए शारदातनय का कहना है कि दिङ्मोह होना, बार-बार सहायक का अन्वेषण करना, पार्श्व भागों में दृष्टि दौड़ाना, हाथ पैरों में कम्पन होना, अंगुली-काटना, अभययाचना करना, दाँत दिखाना आदि विभिन्न स्थितियों द्वारा बोधगम्य होने वाले भयानक को आङ्गिक कहा गया है। मानस भयानक को स्वाभाविक बताते हुए शारदातनय का कहना है कि ऊरुस्तम्भ, हृत्कम्प, स्वेद, पुतलियों की चंचलता, गले तथा ओष्ठ का सूख जाना, गद्-गद एवं विवर्ण हो जाना, विषय के स्पष्टबोध की असमर्थता, उक्त एवं अनुक्त की अनभिज्ञता आदि से भयानक के जिस रूप का बोध होता है उसी को भयानक का मानस रूप समझना चाहिए। शारदातनय ने वाचिक भयानक की विशेषताओं की चर्चा नहीं की है।

भयानक के देवता, वर्ण, गति, दृष्टि, विभावादि का परिचय

रस के देवताओं पर विचार करते हुए काल को भयानक रस का देवता बताया है। इस सन्दर्भ में शारदातनय का कहना है कि विकृत आकार ही भयानक का आधार होता है। संहार के समय काल की ऐसी ही अवस्था रहती है। इस

---

१. ञि-भीभय इति······जायते स भयानकः।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ४९ पं० १९ से पृ० ५० पं० २ तक।

२. दग्धानामादि देवानाम्······बीभत्सादिति गण्यते।

भा० प्र०—तृ० अधि० पृ० ५८ पं० ८-१२।

प्रकार भयानक रस के साथ काल देव का पूर्ण मेल है। रसों के वर्ण का उल्लेख करते हुए कृष्ण वर्ण को भयानक रस का वर्ण कहा गया है।

रस विषयक गतियों में भयानक रस की स्थिति अन्य रसों के ही समान है। रस विषयक दृष्टियों पर विचार करते हुए शारदातनय ने अरोचक, अनुत्सेक एवं अविद्ध तथा विद्ध आदि बीभत्स की दृष्टियों की भयानक की दृष्टियों के साथ एकरूपता बताते हुए उपस्थित किया है। दृष्टि विषयक अग्रिम प्रसंग में प्रोद्वृत्त, विष्टव्यपुट फड़फड़ाती हुई पुतलियों वाली विशिष्ट दृष्टियों को भयानक रस से सम्बद्ध बताया है। इन दृष्टियों के साथ ही साथ भय से विस्फारिता, कम्पिता, निष्क्रान्ता तथा मध्या आदिक दृष्टियों का सम्बन्ध भयानक रस के साथ बताया गया है[1]।

भयानक रस विषयक विभाव की चर्चा करते हुए शारदातनय ने विकृत नामक विभाव को भयानकरस का विभाव बताया है। विकृत की विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए आपका कथन है कि जो विषय इन्द्रियों के स्पर्शमात्र से ही विकृति उत्पन्न कर देते हैं वे ही विकृत विभाव के अन्तर्गत आते हैं। भयानक के आलम्बन विभाव की चर्चा के प्रसंग में भयंकर अरण्य में प्रविष्ट तथा महासंग्राम में विचरण करने वाले एवं गुरुजनों के प्रति अपराध करने वाले को आलम्बन विभाव रूप में यहाँ स्वीकार किया गया है। भयानकरस विषयक अनुभावों तथा सात्त्विकभावों की स्थिति अन्य रसों की स्थितियों से पूर्णतः साम्य भाव में उपस्थित की गयी है। भय को भयानक का स्थायी भाव बताते हुए शारदातनय ने उसके विविध भाव रूपों पर विचार किया है।

वीर तथा रौद्र के साथ सम्मिलित स्थिति प्रकट करने वाले भयानकरस को भयानकाभास कहा गया है। शारदातनय ने भयानकरस का करुणरस के साथ पारस्परिक मेल बताया है।

भयानक रस के संचारीभावों का उल्लेख करते हुए शंका, निर्वेद, चिन्ता, जड़ता, ग्लानि, दीनता, आवेग, मद, उन्माद, विषाद, व्याधि, मोह, अपस्मृति, त्रास, आलस्य, बीच-बीच में स्तम्भ, कम्प, रोमाञ्च, स्वेद आदि का होना तथा विवर्णता, मृत्यु भय, गद्गद आदि स्थितियों का उल्लेख किया है।

परिशीलन

शारदातनय के भयानक रस वर्णन को ध्यान में रखते हुए इस रस की निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती है—

---

१. शङ्कानिर्वेदचिन्ताश्च·········गद्गदाद्या भयानके।
भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३४ पं० १-५।

१. इस रस के परिचयात्मक विवरण में भयानकरस को बीभत्सरस का आश्रित रस बताया है। इस रस की अनुभूतिपरक दशा में सामाजिकों का मन चिन्तावस्थ तमोन्वयी तथा सत्त्वान्वित रहता है। व्युत्पत्तिगत स्थिति के अनुसार भय पद को भयार्थक 'ञि' अनुबन्ध युक्त 'भी' धातु से व्युत्पन्न बताया गया है और लोकप्रसिद्ध अर्थप्रकृति के साथ भयानक पद का सामञ्जस्य सिद्ध किया गया है।

२. इस रस की उत्पत्ति पर विचार करते हुए विद्वान् आचार्य ने इसे सत्त्व-बुद्धिविहीन तामस मन से निष्पन्न बताया है। व्यासोक्त मार्ग से भयानकरस की उत्पत्ति पर विचार करते हुए शारदातनय का कहना है कि आदि देवों के भस्मीभूत हो जाने पर श्मशान की भीषण भूमि में भैरव ने भयंकर रूप ग्रहण कर नृत्य किया था जिससे भयभीत प्रथमादि ने भैरव की शरण का आश्रय लिया था। इस प्रकार तत्कालीन बीभत्स की स्थिति से ही भयानकरस उत्पन्न हुआ।

३. भयानकरस के भेदों पर विचार करते हुए वाक्, मन तथा अंग के आधार पर इसके तीन भेद किये गये हैं जिनमें मानस एवं आङ्गिक रूपों पर विशेष रूप से विचार भी किया गया है।

४. काल को भयानक का देवता बताते हुए दोनों में संगति दिखायी गयी है और कृष्ण वर्ण को भयानकरस का वर्ण स्वीकार किया गया है।

५. यद्यपि इस रस की गति के विषय में विशिष्ट चर्चा का अभाव है, किन्तु भयानकरस की दृष्टियों का विस्तार पूर्वक युक्तिसंगत विचार गया है।

६. इस रस के विभावों की चर्चा करते हुए परिचय पूर्वक विकृत का उल्लेख किया गया है तथा इसकी आलम्बनगत विशेषताओं का भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

७. अनुभाव एवं सात्त्विक भावों के प्रसंग में किसी विशेष स्थिति का उल्लेख नहीं प्राप्त होता, किन्तु इस रस के संचारीभावों का स्पष्ट रूप में विवेचन प्राप्त है।

८. वीर एवं करुणरस के साथ भयानकरस की श्लिष्ट स्थिति को भयानका-भास कहा गया है और करुणरस के साथ इस रस के मेल का उल्लेख भी किया गया है।

९—शान्तरस

उपस्थापन

शारदातनय ने शान्तरस के वर्णन प्रसंग में अपना स्वतन्त्र विचार व्यक्त किया है। सर्व प्रथम आपने रसों की पृष्ठभूमि के रूप में मनोवृत्तियों की आठ संख्याओं का ही उल्लेख किया है और शान्तरस की आधारभूत मनोवृत्ति को उन्होंने कहीं स्थान नहीं दिया है। इस सन्दर्भ में अन्य आचार्यों की मान्यताओं का उल्लेख

करते हुए आपका कहना कि कुछ आचार्यों ने मानोवृत्तियों की संख्या नौ बतायी है और नाट्य में भी शान्तरस की स्थिति को स्वीकार किया है। शारदातनय का इस विषय में अन्य आचार्यों से स्पष्ट मतभेद है। आपकी मान्यता है कि नाटकादि निबन्धों में तपश्चर्या की स्थितियों का इसलिये निरूपण नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनमें अभिनेयता का अभाव रहता है। इस प्रकार नाटक की विशेष प्रकृति से शान्तरस की प्रतिकूलता व्यक्त करते हुए भी आपका कहना है कि यदि कहीं यथास्थान प्रयुक्त विभावादिकों के सहयोग से 'शम' नामक स्थायीभाव उद्बुद्ध होकर शान्तरस की स्थिति को व्यक्त करता है तो भी यह सब प्रकार के विकारों से शून्य होने के कारण रस रूप में परिणत नहीं हो सकता। अतः शारदातनय को शान्तरस का नाटक में उद्भव स्वीकार्य नहीं है। इस सन्दर्भ में शारदातनय ने आचार्य 'पद्मभू' का उल्लेख करते हुए अपनी मान्यताओं का समर्थन किया है[1]।

नाट्य विषयक शान्तरस का खण्डन

शारदातनय की शान्तरस विषयक दृष्टि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन्हें नाटक में शान्तरस की स्थिति मान्य नहीं है, किन्तु काव्य में इस रस को इन्होंने स्वीकार किया है। इस रस की उत्पत्ति पर विचार करते हुए आपने रजस्तमोविहीन चित्त की सत्त्वावस्था से बाह्यार्थ का स्वल्प स्पर्श न होने पर ही शान्त रस की उत्पत्ति स्वीकार की है।

शान्त पद की व्युत्पत्तिमूलक स्थिति पर विचार करते हुए शारदातनय का कहना है कि जिसके भाव को आभ्यन्तर एवं बाह्य विकार सम्मिलित रूप में शान्त करते हैं उसे शान्त कहा जाता है[2]।

रसों की चर्चा के प्रसंग में शारदातनय ने शान्तरस के महत्त्व का विस्तृत विवेचन किया है। इनका कहना है कि वर्णित रसों के क्रमानुसार भावात्मक रूपों को स्वयं देखने, सुनने, अनुभव करने तथा दूसरों को दिखाने, सुनाने तथा अनुभव कराने के उपरान्त सब तरह से सन्तुष्ट मन वाले पूर्णकाम सामाजिकों को अन्त में शान्तरस से ही मुक्ति प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में विद्वान् आचार्य ने शान्तरस के विभाव रूपों की कतिपय स्थितियों का भी उल्लेख किया है। आपका कहना है कि धर्माख्यान,

---

१. रजस्तमोविहीनात्तु सत्त्वावस्थात्सचित्ततः।
मनागस्पृष्टबाह्यार्थात् शान्तो रस इतीरितः॥
भा॰ प्र॰—द्वि॰ अधि॰ पृ॰ ४८ पं॰ ४-५।

२. आभ्यन्तराश्च बाह्याश्च विकारा यत्र संयुताः।
यस्य भावस्य शाम्यन्ति स शान्त इति कथ्यते॥
भा॰ प्र॰—द्वि॰ अधि॰ पृ॰ ५०, पं॰ ३-४।

पुराण, पवित्र तीर्थों का अवगाहन, पुण्य आश्रमों में निवास करना, योगियों का नित्य सम्पर्क, जड़-अन्ध एवं बधिरों के दर्शन, व्याधि, दरिद्रता, मरण, नारकीय यातनाओं का श्रवण, पुण्य के नष्ट होने पर पतन रूप में अन्य योनियों की प्राप्ति, दुःखपूर्ण प्रयत्नों की विफलता आदिक विभावों से 'शम' नामक स्थायीभाव भी किसी रस विशेष की अवस्था प्राप्त करता है। इस दशा में सब तरह के दुःखियों की यथाशक्ति रक्षा, सर्वत्र अनासक्त भाव से सुखियों का समर्थन, शाक-मूल फल आदि खाकर जीवन निर्वाह, नियम पूर्वक व्रत-उपवास आदि का निर्वाह, वल्कल तथा मृगचर्म का धारण करना, समस्त प्राणियों पर बिना किसी भेदभाव के अहिंसा पूर्ण अनुग्रह, अंगों में कृशता तथा कर्कशता, त्रिकाल-स्नान, विविध आसनों का अभ्यास, नाक के अग्र भाग पर दृष्टि रखकर ध्यान लगाना, इन्द्रियों को वश में करने के लिए उन्हें विषयों से अलग रखना आदिक विशेषताएँ पायी जाती हैं। यह अवस्था योगियों में विद्यमान रहती है।

शान्तरस के अनुभावों की स्थिति पर विचार करते हुए शारदातनय का कहना है कि इसमें अनुभावों का अभाव रहता है, क्योंकि जब तक मानापमान, शोक-हर्ष, सुख-दुःख आदिक द्वन्द्वात्मक स्थितियों में 'शम' भाव बना रहता है तब तक अनुभाव उत्पन्न हो ही नहीं सकता। शारदातनय ने आनन्द, वाष्प, रोमांच, स्वेद और स्तम्भ को शान्त संचारीभाव के रूप में ग्रहण किया है। इस सम्बन्ध में अन्य मतों का उल्लेख करते हुए आपका कहना है कि कुछ लोग एक रोमांच को ही शान्तरस का अनुभाव बताते हैं। इनकी मान्यताओं के अनुसार शान्तरस की सम्पुष्टि में संचारी भावों का सहयोग नहीं रहता। इसी आधार पर शान्त को विकलांग कहा गया है।

अनुभाव विषयक इन मान्यताओं के विपरीत शारदातनय का कहना है कि विषयासक्ति के निवृत्त हो जाने तथा अन्तःकरण के शान्त रहने पर निर्वेद आदि का उदय नहीं होता इसीलिये इस रस में अनुभाव दृष्टिगोचर नहीं होते। यही कारण है कि हर्षादि के अनुभव न होने से शान्तरस मे विकलांगता रहती है। तब केवल शान्तरस की सत्तामात्र का बोध होता है। जब अनुभाव का अभाव, अभिनय की स्थिति का अभाव भी शान्त में विद्यमान है तो 'शम' नामक स्थायीभाव में हर्ष आदि भाव कैसे रह सकते हैं ? अर्थात् 'शम' में हर्षादिक भावों का भी अभाव ही रहता है। इतना होते हुए पुरुषार्थों में श्रेष्ठ मोक्ष नामक पुरुषार्थ से सम्बन्ध रहने के नाते शान्त को सब रसों में श्रेष्ठ माना जाता है[1]।

परिशीलन

शारदातनय के रस विवेचन को ध्यान में रखते हुए शान्तरस की निम्न-लिखित विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

१. भा० प्र०—ष० अधि० पृ० १३५ तथा १३६।

१. अभिनेयता के अभाव में शारदातनय ने शान्तरस को नाट्योपयोगी स्वीकार नहीं किया है।

२. विषयविवेचन को ध्यान में रखते हुए शारदातनय की दृष्टि में शान्तरस को काव्योपयोगी स्वीकार किया जा सकता है।

३. शारदातनय ने शान्तरस के विभावादि का भी उल्लेख किया है और युक्तियुक्त आधारों पर शान्तरस में अनुभावों की स्थितियों का अभाव माना है।

४. अनुभाव के सन्दर्भ में विरोधी मतों का उल्लेख करते हुए अपने-अपने पक्ष का युक्तिसंगत समर्थन किया है।

५. मोक्ष की स्थिति के आधार पर शान्तरस की श्रेष्ठता का यहाँ प्रतिपादन किया गया है।

रस विषयक परिशीलन

शारदातनय द्वारा प्रस्तुत किये गये समस्त रस-विमर्श को ध्यान में रखते हुए रस की निम्नलिखित सामान्य विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

१. शारदातनय ने अपनी रस विषयक मान्यताओं का मूल आधार वृद्धभरत के 'बृहन्नाट्यशास्त्र' को बताया है।

२. भरतमुनि के वर्तमान 'नाट्यशास्त्र' को बृहन्नाट्यशास्त्र का ही निष्कर्ष रूप मानते हुए इन्होंने भरत मुनि के रस-सूत्र के ही अनुरूप रस की निष्पत्ति का वर्णन किया है। इसी सूत्र के आधार पर विभाव द्वारा जागृत तथा उद्दीप्त, अनुभाव द्वारा संसूचित तथा सात्त्विक एवं व्यभिचारीभावों द्वारा सम्पुष्ट स्थायीभाव के आस्वाद्य रूप को ही शारदातनय ने रस स्वीकार किया है।

३. शारदातनय की रस विषयक मान्यताओं में रस-सम्प्रदाय के पूर्ववर्त्ती आचार्यों की युक्ति-युक्त उपलब्धियों का अद्भुत संगम दिखायी देता है। इस स्थिति में भी शारदातनय की रस विषयक स्वतन्त्र दृष्टि का जहाँ जिस सिद्धान्त से मेल दिखायी देता है वहाँ उस सिद्धान्त को स्वीकार करने में आपने उदार भाव का परिचय दिया है, किन्तु अपनी दृष्टि से विपरीत प्रतीत होने वाले किसी तथ्य का विरोध करने में आपने संकोच भी नहीं किया। इसलिये एक ही आचार्य की कतिपय सैद्धान्तिक बातों से जहाँ आपकी सहमति दिखायी देती है, वहीं उसी आचार्य की अन्य मान्यताओं से पूर्ण असहमति भी व्यक्त होती है। यही कारण है कि शारदातनय को भरतमुनि के अतिरिक्त किसी दूसरे का अनुगामी नहीं माना जा सकता।

४. रस निष्पत्ति के विषय में भोज्य-भोजक भाव जैसे कुछ ऐसे प्रसंग भी दिखायी देते हैं जिनकी मूल स्थिति भरत के रस-सूत्र में नहीं पायी जाती, किन्तु

किसी दूसरे आचार्य के रस-विवेचन में प्राप्त होती है। ऐसे स्थलों को ग्रहण करते समय शारदातनय ने सम्भवतः यह स्वीकार करके अपना विचार उपस्थित किया है कि इसकी वास्तविक स्थिति वृद्धभरत के 'बृहन्नाट्यशास्त्र' से ही प्रचलित हुई है।

५. 'भावप्रकाशनम्' में रसोत्पत्ति से सम्बद्ध पाँच सिद्धान्तों का उल्लेख विद्यमान है जो इस प्रकार है—

(क) वृद्धभरत एवं भरतमुनि का रस सिद्धान्त—शारदातनय की रस विषयक चर्चा का सैद्धान्तिक आधार इन्हीं आचार्यों की मान्यताओं से लिया गया है।

(ख) भट्टलोल्लट का सिद्धान्त—भट्टलोल्लट नाम लिये बिना ही शारदातनय ने उत्पत्तिवाद एवं रसाश्रय विषयक इनके विचारों से अपना विपरीत मत व्यक्त किया है। इनके अनुसार रसानुभूति वास्तव में सामाजिक को होती है, इसीलिये नट को रसाश्रय नहीं माना जा सकता। इसी तरह आह्लादक मात्र को रस कहने पर शृङ्गारेतर रसों की स्वीकृति में बाधा उपस्थित होती है। शारदातनय के अनुसार कटु आदि लौकिक रसों की तरह रुचि वैचित्र्य के कारण शृङ्गारेतर रस भी आस्वाद्य होते हैं।

(ग) शारदातनय के अनुसार अहंकार की अभिमानात्मक स्थिति ही रसत्व को प्राप्त होती है। ामाजिकों को अभिमानवश रामादि अनुकार्यों के रूप में अनुभूति होती है। भरत के विवेचनों में इस व्याख्यात्मक आधार का अभाव दिखायी देता है। अतः शारदातनय की इस मान्यता को भोज की मान्यताओं के निकट कहा जा सकता है। सम्भवतः वृद्धभरत का अनुपलब्ध 'बृहन्नाट्यशास्त्र' ही इस मान्यता का उद्गम स्रोत रहा हो।

(घ) अभिनेयता की स्थिति में असाध्यता के कारण शान्तरस को नाटकोपयोगी न मानते हुए भी शारदातनय ने पद्मभू का उल्लेख अपनी मान्यताओं के समर्थन में किया है। इस सन्दर्भ में यह भी बताया गया है कि 'शम' में अहंकार के परिवर्तन की दशा नहीं रहती, इसलिये भी शान्त को रस स्वीकार करने में सैद्धान्तिक बाधा उपस्थित होती है।

तृतीय भाग

शब्दार्थ सम्बन्ध प्रकरण

शब्दार्थ सम्बन्ध

उपस्थापन

काव्यगत भाव की अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द ही होते हैं, क्योंकि अनुभूति को शब्दों के सहारे ही सामाजिकों तक पहुँचाने का प्रयत्न कुशल कवियों द्वारा किया जाता है। इसलिये शब्दों के माध्यम से अनुभूतिगत सूक्ष्म स्थिति को आस्वाद्य रूप में सामाजिकों तक पहुँचाने के यत्न विशेष को ही यदि काव्य कहें तो कोई असंगति न होगी। इस प्रकार काव्यगत भावात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से शब्दों की विशेष प्रकृति एवं विशिष्ट स्थितियों का सर्वाधिक महत्त्व होता है। शब्दों के इस महत्त्व का आधार उनकी अर्थप्रकृति ही होती है। काव्यगत प्रत्येक शब्द का किसी न किसी विशेष अर्थ के साथ अनिवार्य सम्बन्ध रहता है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में स्पष्ट ही कहा है–"नास्ति सम्प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥" अर्थात् लोक में ज्ञान के किसी भी रूप की ऐसी सत्ता नहीं है जो शब्द के माध्यम के बिना विदित हो सके। ज्ञान, शब्द के मध्य में ही सन्निहित रहता है तथा उसी के माध्यम से व्यक्त भी होता है। भर्तृहरि की उपर्युक्त मान्यताओं में शब्दार्थ की पारस्परिक स्थिति का स्पष्ट परिचय दिया गया है। शब्द से पृथक् रहने वाले ज्ञान का लौकिक स्वरूप अज्ञात ही रह जाता है। इस सन्दर्भ में अर्थ प्रकृति के भावात्मक स्वरूप को ज्ञान के समानार्थक रूप में व्यक्त किया गया है। वास्तव में काव्य के अभिप्रेत उद्देश्य तक पहुँचने के लिये शब्दार्थ के भावात्मक पथ से ही यात्रा करनी पड़ती है। काव्यगत शब्दों का अनुभूतिगतभावों से तथा इन भावों का अभिप्रेत रस की आस्वाद्य स्थितियों से एवं रसात्मक स्थितियों का सामाजिकों से जो सम्बन्ध रहता है, उसका परिचय कवि एवं सामाजिकों के लिये नितान्त आवश्यक है।

शब्दार्थ-सम्बन्ध विषयक शारदातनय की दृष्टि

शारदातनय ने शब्द एवं अर्थ के भावपरक काव्यगत रूप की विविध स्थितियों का भाषा-शास्त्रीय दृष्टि के साथ ही साथ मनोवैज्ञानिक एवं काव्यशास्त्रीय दृष्टि के अनुरूप विश्लेषण किया है। ऐसा करते समय इन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं पर भी विचार किया है। जहाँ किसी स्वीकृत सिद्धान्त में इन्हें युक्ति-संगत स्थिति दिखलायी पड़ी है वहाँ निःसंकोच होकर इन्होंने उस सिद्धान्त का ग्रहण किया है। यदि विचार करके देखा जाय तो विभिन्न स्थलों में शारदतनय की सारग्राहिणी प्रवृत्ति की ही प्रधानता दिखलायी पड़ेगी, किन्तु प्रत्येक विवेचन में इनकी मौलिक प्रतिभा का पूर्ण सन्निवेश वर्तमान है। शारदातनय की अपनी दृष्टि

है, साथ ही साथ काव्य-सिद्धान्त के प्रत्येक पक्ष की युक्तिसंगत स्थिति के निर्धारण का बौद्धिक सन्निवेश भी है। इसीलिये पूर्ववर्त्ती मान्यताओं के सारगर्भित विश्लेषणों में इन्होंने शास्त्रीय-दृष्टि से विचार किया है और उपयुक्त प्रतीत होने वाले युक्तिसंगत विचारों को स्वीकार करने तथा ऐसे विचारों के मनोवैज्ञानिक प्रभावों का मूल्यांकन करने में भी अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। ऐसे स्थलों पर पूर्ववर्त्ती विवेचनाओं की साम्य-वैषम्य-परक तुलनात्मक स्थितियों को ध्यान में रखते हुए ही पूर्वाचार्यों के किसी स्वीकृत पक्ष को ग्रहण किया गया है। यद्यपि तुलनात्मक विवेचनों में भी किसी विशेष आग्रह का अभाव ही है। अपनी विवेचनाओं एवं स्वीकृतियों में शारदातनय एक ऐसे संगम बिन्दु पर खड़े हैं जहाँ शास्त्रीय-मान्यताओं तथा शब्दार्थपरक काव्यगत अनुभूतियों से सम्बद्ध विविध सैद्धान्तिक विचारधाराएँ एक साथ जुटती दिखायी देती है। प्रत्येक विचार धारा का अपना एक विशेष पक्ष होता है और उसकी एक मात्र महनीयता का प्रबल आग्रह भी। ऐसे स्थलों पर किसी एक पक्ष को दूसरे पक्ष की मान्यताओं के प्रति प्रायः न्याय करते नहीं देखा जाता। जहाँ तक शारदतनय का सम्बन्ध है—इन्हें विचार विशेष की संकुचित परिधि से सर्वथा परे ही कहा जा सकता है। इन्हें किसी भी पक्ष के प्रति कोई अभिनिवेश नहीं है। जहाँ भी युक्तिसंगत तथ्य दिखलायी पड़ा है शारदातनय ने निःसंकोच भाव से उसका समर्थन किया है। ऐसा करते समय कहीं तो आप किसी आदिम आचार्य के समीप पहुँच जाते हैं ओर उसी के अनुरूप अपने विचारों को उपस्थित करते हुए सैद्धान्तिक समर्थन प्रदान करने लगते हैं और कहीं किसो निकटवर्ती आचार्य के विचारों को ही युक्तिसंगत मानकर अपना पक्ष प्रस्तुत करते दिखायी देते हैं। इसीलिये सैद्धान्तिक दृष्टि से शारदातनय को एक ऐसे व्यक्तित्व के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जो काव्य के रूप एवं उद्देश्य की यथार्थ स्थिति को ही बोधगम्य रूप में प्रस्तुत करने के लिये सचेष्ट है तथा बिना किसी अभिनिवेश, विरोध एवं आग्रहभाव को अपनाये ही सभी युक्तिसंगत तथ्यों को स्वीकार करता तथा विपरीत प्रतीत होने वाले विचारों का खण्डन करते हुए अपने स्वीकृत पक्ष को उपस्थित करता है।

शब्दार्थ-सम्बन्ध विषयक तीन मत

शारदातनय ने शब्दार्थ-सम्बन्ध पर विचार तथा उनकी सम्बन्धगत स्थितियों का निरूपण करते समय भोज, अभिनवगुप्त तथा मम्मट की तद्विषयक मान्यताओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। इन्होंने प्रत्येक विचार धारा के स्वीकृत आधारों को सम्यक् विवेचना भी की है। ऐसे क्रमों में निरीक्षण-परीक्षण की वैज्ञानिक-शैली का पूरी तरह निर्वाह किया गया है। जहाँ कहीं आवश्यक हुआ है अपने विचारों के समर्थन में इन्होंने पूर्ववर्ती काव्यग्रन्थों के समर्थन-परक उदाहरण भी उपस्थिति किये हैं, जिनका सैद्धान्तिक स्वीकृतियों को हृदयङ्गम बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

प्रथम-मत

शब्दार्थ-सम्बन्ध के विवेचन क्रम की अवतारणा के रूप में शारदातनय ने स्थायीभाव के रसत्व की सिद्धि का प्रसंग उपस्थित किया है और रस-निष्पत्ति के वाक्यार्थतत्व पर विचार करते हुए शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन किया है। आपका कहना है कि विभावानुभाव आदि के सहयोग से स्थायीभाव की रसरूपता उसी प्रकार बोधगम्य हो जाती है जिस प्रकार क्रिया, कारकादि की विधिवत् उपस्थिति द्वारा वाक्यार्थ प्रकट होता है। कहीं-कहीं वाक्यार्थ के बोध में प्रकरणादि द्वारा वाच्य रूप में बुद्धिस्थ क्रिया भी व्यक्त होती है जो कारकादिकों के सहयोग से वाक्यार्थ का बोध कराती है। स्थायीभाव भी विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा संचारीभावों के सहयोग से रस के आस्वाद्य रूप को ग्रहण कर लेता है और ऐसे स्थलों पर स्पष्ट रूप में स्थायीभाव का रसरूप ही वाक्यार्थ होता है। इसीलिये कहीं-कहीं रत्यादि पदों का प्रयोग किये बिना भी तत्-तत् वाक्यों में रस-भाव की प्रतीति सिद्ध होती है। काव्य का रस के साथ वाक्यार्थता के प्रभाव से ही सम्बन्ध रहता है। काव्य-प्रणयन का एकमात्र उद्देश्य सामाजिक ही होते हैं। अतः काव्य के प्रभाव से सामाजिकों में होने वाली रसानुभूति को ही वाक्यार्थ के समान माना जाता हैं। काव्यगत रस तथा स्थायीभाव के वाक्यार्थत्व को शब्दार्थ सम्बन्ध से ही समझा जा सकता है। इसी पृष्ठभूमि के आधार पर शारदातनय ने शब्दार्थ के विविध रूपों की चर्चा की है। इनका कहना है कि भोज आदि विद्वानों ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को बारह प्रकार का बताया है। इनका निरूपण चार-चार के क्रम में तीन वर्गों में किया गया है, जो इस प्रकार है—

(क) १—वृत्ति, २—विवक्षा, ३—तात्पर्य, ४—प्रविभाग।

(ख) ५—व्यपेक्षा, ६—सामर्थ्य, ७—अन्वय, ८—एकार्थीभाव।

(ग) ९—दोषाभाव, १०—गुणोपादान, ११—अलंकारयोग, १२—रसयोग[१]।

---

१. सम्बन्धो द्वादशविधः स्मृतः शब्दार्थयोर्बुधैः।
द्वादशधा सम्बन्धः शब्दस्यार्थस्य यः स साहित्यम् ॥
त्रिस्कन्धः स चतुर्भिस्तनुभिः स्याच्चतुश्चतुर्भिश्च ॥
वृत्तिर्विवक्षा तात्पर्यप्रविभागाविहोदितौ ।
ततो व्यपेक्षासामर्थ्यान्वयाश्चैकार्थभावना ।
दोषहानं गुणादानं तथाऽलङ्कारयोगिता ।
रसावियोग इत्येते सम्बन्धाः कथिताः बुधैः ॥
भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १४५, पं० ६-१२।

१. वृत्ति-निरूपण

पदार्थों में पदों के सम्बन्ध को वृत्ति स्वीकार करते हुए शारदातनय ने वृत्ति के तीन भेदों का उल्लेख किया है जिनको क्रमशः—अभिधा, लक्षणा तथा गौणी कहा गया है। अभिधा की चर्चा करते हुए शारदातनय का कहना है कि शब्द-शक्ति के परामर्श से अभिधेय में जो व्यापारात्मिका प्रवृत्ति होती है उसे अभिधा कहा जाता है। इस प्रकार अभिधा-नामक वृत्ति की तीन विशेषताएँ कही गयी हैं—

(१) अभिधा एक व्यापारात्मिका वृत्ति है, अर्थात् लौकिक व्यवहारों में सामान्य वार्तालाप के बीच अभिधावृत्ति का ही उपयोग किया जाता है।

(२) यह अभिधेयार्थ में दिखायी देने वाली प्रवृत्ति के रूप को ही प्रकट करती है, अर्थात् शब्द, अपने लोकप्रसिद्ध अर्थ को अभिधा वृत्ति के माध्यम से व्यक्त करता है।

(३) लोकप्रसिद्ध अर्थ को व्यक्त करने में शब्द की जो शक्ति विद्यमान रहती है, उसी के सहारे अभिधावृत्ति अर्थाभिव्यक्ति में सहायक होती है।

लक्षणा—नामक दूसरी वृत्ति को शारदातनय ने अभिधेयार्थ के सम्पर्क द्वारा अभीष्टार्थ की प्रतीति का रूप बताया है। इसे विदग्ध वक्रोक्ति-जीवित वृत्ति भी कहा है और 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यादि में इस वृत्ति का उपयोग भी दिखलाया है। इस विवेचन को ध्यान में रखते हुए रस-वृत्ति की निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

१. यह एक अभिधेयार्थ के सम्पर्क द्वारा अर्थ की प्रतीति कराने वाली वृत्ति है, अर्थात् शब्द अपने प्रसिद्ध अर्थ के सम्पर्क द्वारा प्रसिद्धार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति जहाँ कराता है, वहाँ लक्षणावृत्ति मानी जाती है।

२. यह प्रतीति-परक वृत्ति है, अर्थात् अभिधावृत्ति के माध्यम से शब्द अपने प्रसिद्ध अर्थ को व्यक्त करता है, किन्तु लक्षणा जिस अर्थ को बोध कराती वह प्रसिद्ध अर्थ से भिन्न होते हुए भी उसी के सम्पर्कवश प्रतीत होता है। इस विषय में शारदातनय ने लक्षणावृत्ति के परिचायक रूप में प्रतीति पद का व्यवहार अत्यन्त मार्मिकता के साथ किया है।

३. लक्षणा के परिचय प्रसंग में विदग्ध-वक्रोक्ति-जीवित पद का प्रयोग किया गया है, जो यह स्पष्ट करता है कि लक्षणा द्वारा प्रत्याय्य अर्थ के लिये अभिधा की अपेक्षा वक्ता एवं श्रोता में विदग्धता की आवश्यकता रहती है। वक्ता को ऐसे अर्थ की प्रतीति के लिये वक्रोक्ति का भी आश्रय ग्रहण करना पड़ता है।

शारदातनय ने लक्षणा के प्रसंग में 'मञ्चाः क्रोशन्ति' पद का उदाहरण उपस्थित किया है। यहाँ 'क्रोशन्ति' पद से जिस अभिधार्थ का बोध होता है, उसकी कर्तृत्वमूलक स्थिति मञ्च में बाधित है। इसलिये मञ्च पर स्थित व्यक्तियों के अर्थ की

प्रतीति लक्षणा-वृत्ति द्वारा ही 'मञ्च' पद से होती है। शारदातनय ने मञ्च पद से मञ्च पर स्थित व्यक्तियों के अर्थ को प्रत्याय्य रूप में ही ग्रहण किया है। वस्तुतः यह प्रतीति सन्दर्भ के अनुसार ही गृहीत हो पाती है। उपर्युक्त उदाहरण में 'क्रोशन्ति' पद के प्रसिद्धार्थ का सन्दर्भ ग्रहण करके ही मञ्च पद से मञ्च पर स्थित व्यक्तियों का अर्थ बोधगम्य होता है।

गौणी—गौणी नामक वृत्ति की चर्चा करते हुए शारदातनय ने इस वृत्ति को लक्ष्यमाण गुणों के योग से होने वाली अर्थ-प्रतीति में स्वीकार किया है। इसके अनुसार गौणीवृत्ति की ये विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

१. यह एक गुणपरक वृत्ति है, अर्थात् शब्द के प्रसिद्धार्थ रूप में जिस अर्थ का बोध होता है उसके गुण मात्र को बोधगम्य बनाने में इस वृत्ति का महत्त्व रहता है, अर्थात् गौणी वृत्ति द्वारा शब्द के प्रसिद्धार्थ की व्यापकता को सीमित कर दिया जाता है। स्मृतिं के प्रभाव से शब्द अपने प्रसिद्धार्थ के समग्र रूपों से सर्वथा पृथक् होकर केवल ऐसे गुण का ही बोध कराने लगता है जो सन्दर्भ के अनुसार अपेक्षित रहता है।

२. गौणी वृत्ति द्वारा प्रस्तुत किये गये अर्थ को लक्ष्यमाण अर्थ बताया गया है। तात्पर्य यह है कि शब्द के प्रसिद्धार्थ में अगणित विशेषताएँ विद्यमान रहती हैं, किन्तु गौणी वृत्ति द्वारा उन समस्त विशेषताओं में से केवल उन्हीं गुणमूलक अंशों का बोध हो पाता है जो सन्दर्भ के अनुसार आवश्यक रहते हैं।

शारदातनय ने गौणी वृत्ति द्वारा होने वाली अर्थपरक दशा को 'सिंहोऽयं देवदत्तः' पद का प्रयोग करते हुए व्यक्त किया है। यहाँ मानवी आकृति वाले 'देवदत्त' पद से हिंसक जन्तु विशेष का प्रसिद्धार्थ प्रकट करने वाले सिंह पद की समानार्थक स्थिति असम्भव है। रूप, रंग, आकार, प्रकारगत सभी विशेषताएँ दोनों को एक दूसरे से पृथक् घोषित करती हैं, किन्तु गौणी वृत्ति के माध्यम से 'सिंह' पद की वीरता-मूलक गुणात्मक प्रकृति से 'माणवक' पद के प्रसिद्धार्थ की गुणात्मक प्रकृति का साम्य देखा जा सकता है। सम्पूर्ण पद गौणी-वृत्ति के सहारे यह घोषित करता है कि माणवक में भी 'सिंह' की जैसी वीरता विद्यमान है।

वृत्तियों में शारदातनय ने वक्ता एवं श्रोता की विशेष मानसिक दशाओं तथा अभिधार्थ की स्थितियों का आधार ग्रहण किया है। आपका कहना है कि रूढिवश कहीं-कहीं सामाजिक जीवन में शब्दों का प्रयोग ऐसे अर्थों में भी किया जाता है जो प्रसिद्धार्थ से भिन्न रहते हैं। ऐसे ही अर्थों को शारदातनय ने असदर्थ रूप में ग्रहण किया है। जहाँ प्रसिद्धार्थ से भिन्न असदर्थ तथा प्रसिद्धार्थ दोनों ही प्रस्तुत होते हैं वहाँ रूढ्यर्थ ही मुख्य हो जाता है और प्रसिद्धार्थ की गति बाधित हो जाती है। वस्तुतः कहीं-कहीं रूढ़ि के प्रभाव से प्रत्याय्य अर्थ ही शब्द के प्रसिद्धार्थ का स्थान

ग्रहण कर लेता है। ऐसे स्थलों पर गौणी वृत्ति के सहारे शब्द अपने रूढ़िगत अर्थ में ही प्रचलित हो जाता है। ऐसी अवस्था में अभिधा द्वारा प्रस्तुत किया गया प्रसिद्धार्थ बाधित हो जाता है[1]।

२. विवक्षा निरूपण

विवक्षा नामक शब्दार्थ-सम्बन्ध पर विचार करते समय शारदातनय ने शब्द एवं अर्थ में सम, न्यून एवं अधिकता नामक तीन आधारों का उल्लेख किया है। वस्तुतः कहीं शब्द की अपेक्षा अर्थ में ही विस्तार की स्थिति रहती है, अर्थात् थोड़े शब्दों में ही अधिक अर्थ व्यक्त कर दिया जाता है। इसके विपरीत कहीं-कहीं स्वल्प अर्थ को व्यक्त करने में ही अनेक शब्दों का व्यवहार करना पड़ता है, अर्थात् सामान्यतया किसी अर्थ को व्यक्त करने में जितने शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है उसमे कहीं-कहीं अधिक शब्दों का प्रयोग करने पर भी कम अर्थ की ही अभिव्यक्ति हो पाती है। इन दोनों स्थितियों के प्रतिकूल कहीं-कहीं शब्द और अर्थ का प्रयोग नपे-तुले रूप में ही होता है। शारदातनय ने शब्द और अर्थ की इस स्थिति को तराजू के दोनों पलड़ों पर रखे गये सममात्रिक वस्तुओं का उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया है। तात्पर्य यह है कि जैसे तराजू के एक पलड़े पर तौलने वाला घनीभूत पिण्ड रख दिया जाता है और उसके दूसरे पलड़े पर रखी गयी वस्तु को उसी परिमाण के अनुरूप तौल लिया जाता है। ऐसा करते समय दोनों ही पलड़ों की परिमाणात्मक भारमयी स्थिति सर्वथा समान रहती है, उसी तरह शब्द एवं अर्थ की दशा अभिव्यक्ति के ऐसे स्थलों में सर्वथा साम्यभाव प्रकट करती है। अर्थात् सामान्य अवस्था में किसी अर्थ को व्यक्त करते समय शब्दों की जितनी मात्रा अपेक्षित रहती है तथा जितने शब्दों से सामान्य अवस्थाओं में अर्थ की जितनी मात्रा का बोध होता है उसी के अनुरूप शब्दों का प्रयोग कर साम्य दशा में अर्थ को व्यक्त किया जाता है। मात्रा की दृष्टि से शब्द और अर्थ में किसी भी प्रकार की न्यूनता या अधिकता नहीं रहती। शारदातनय ने विवक्षा के आधार रूप में सम, न्यून एवं अधिकता की इन्हीं अवस्थाओं का उल्लेख किया है।

शारदातनय ने वाक्य की अर्थप्रकृति के आधार पर विवक्षा के तीन भेदों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं—

१. काक्वादि व्यंग्या, २. प्रकरणादि व्यंग्या, ३. अभिनयादि व्यंग्या। शारदातनय का कहना है कि कण्ठ की भिन्न रूपता के आधार पर जहाँ ध्वनि की भिन्नता-मूलक दशा अर्थ में भी भिन्नता उपस्थित करती है, वहाँ काक्वादि व्यंग्या नामक विवक्षावृत्ति मानी जाती है। इसी तरह प्रकरण (सन्दर्भ) की स्थिति के प्रभाव से

१. भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १४५ पं० १५ से पृ० १४६ पं० १ तक।

जहाँ अर्थप्रकृति की भिन्नता का बोध होता है वहाँ प्रकरणादि व्यंग्या विवक्षा मानी जाती है। अभिनय प्रक्रिया के प्रभाव से जहाँ अर्थ-प्रकृति की भिन्नात्मक स्थिति का बोध होता है वहाँ अभिनयादि व्यंग्या विवक्षा मानी गयी है। वस्तुतः कण्ठ की स्थिति का मुखरित ध्वनि के स्वरूप एवं उसकी प्रकृति पर अनिवार्य प्रभाव पड़ता है। ध्वनि के इसी स्वरूप पर अर्थ बोध की स्थिति भी बहुत कुछ निर्भर है। अतः विदग्ध-वक्ता ध्वनि के स्वरूप से अर्थ की प्रकृति का अनिवार्य सम्बन्ध स्वीकार करते हुए अभिप्राय के अनुरूप कण्ठ की स्थिति बना लेता है जिससे अभिप्रायानुरूप अर्थ की अभिव्यक्ति हो जाती है। इस प्रकार की अर्थाभिव्यक्ति में काक्वादिव्यंग्या नामक विवक्षा वृत्ति स्वीकार की जाती है। इसी तरह प्रकरण के आधार पर भी वक्ता के अभिप्राय को समझा जाता है। जहाँ प्रकरण विशेष के प्रभाव से किसी वाक्य एवं शब्द अथवा शब्दसमूह द्वारा ऐसे अभिप्राय का पता चलता हो जो प्रसिद्धार्थ से अपनी विशिष्ट प्रकृति का बोध कराने वाला हो, वहाँ प्रकरणादि व्यंग्या नामक विवक्षा वृत्ति मानी जाती है। जब कहीं अभिनय प्रसंगों में अभिनयात्मक कार्य-पद्धतियों द्वारा किसी अर्थविशेष की स्थिति को हृदयंगम कराया जाता है, वहाँ अभिनयादि व्यंग्या विवक्षा वृत्ति स्वीकार की जाती है।

शारदातनय के काक्वादि-व्यंग्या विवक्षावृत्ति के काकु एवं विच्छेद नामक दो भेदों का उल्लेख किया है। काकु का सम्बन्ध, ध्वनि की विशेष स्थिति के प्रभाव से व्यक्त होने वाले अर्थ के साथ रहता है और विच्छेद नामक काक्वादि-व्यंग्या विवक्षा वृत्ति से वाक्य की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का बोध होता है जो अर्थ की विशेष प्रकृतियों को व्यक्त करती हैं। काकु के पुनः पाँच भेदों का उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार हैं—

१. प्रश्नगर्भा, २. अभ्युपगमा, ३. उपहासात्मिका, ४. आक्षेपात्मिका, ५. वितर्कगर्भा[1]।

शारदातनय ने काक्वादि-व्यंग्या के इन्हीं विविध भेदोपभेदों का परिचयात्मक वर्णन उपस्थित करने के बदले प्रत्येक का अलग-अलग उदाहरण ही विविध काव्य ग्रन्थों से उद्धृत किया है। उदाहरण के ऐसे स्थलों पर उद्धरणीय पदों की एक-एक पंक्ति का ही उल्लेख किया गया है। काक्वादिव्यंग्या के इन भेदों को अर्थ के आधार पर ही निरूपित किया गया बताते हुए शारदातनय ने सर्वप्रथम प्रश्नगर्भा नामक प्रथम भेद का उदाहरण उपस्थित किया है। इस भेद का उदाहरण 'गतः कालः' (शृ० प्र० ७।१६) इत्यादि रूप में प्रस्तुत है। इसी प्रकार अभ्युपगमात्मिका (अभ्युपगमा) नामक वृत्ति विशेष के लिये 'युष्मच्छासनलङ्घनादि' इत्यादि को उदाहरण

---

१. भा० प्र०—षष्ठ० अधि० पृ० १४६ पं० ११ से पृ० १४७ पं० १५ तक।

रूप में प्रस्तुत किया गया है। उपहासात्मिका के उदाहरण रूप में 'मश्नामि कौरव-शतम्' (वे० सं० अंक १) इत्यादि का उल्लेख किया गया है। आक्षेपात्मिका वृत्ति के लिये 'लाक्षागृहानल' (वे० सं अंक १) इत्यादि को उल्लिखित किया गया है। उन्मत्त पुरूरवा का उल्लेख करते हुए सादृश्य के आधार पर वितर्कगर्भा को स्पष्ट किया गया है। यद्यपि पुरूरवा की उन्मत्त-कालीन दशा से सम्बद्ध पद का उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से नहीं किया गया है, तथापि प्रतीत होता है। कि विद्वान् आचार्य का संकेत उन्मत्त पुरूरवा की 'नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः' (विक्रमोर्वशीय ४) से है।

काक्वादिव्यंग्या के विच्छेद नामक भेद के उपभेदों की भी चर्चा की गयी है। इसके चार भेद बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं–१. वाक्यान्यधात्व, २. वाक्यासमाप्तिक, ३. वाक्यसंभेद, ४. वाक्यानुच्चारण। शारदातनय ने विच्छेद के इन भेदों का उल्लेख करते हुए इसके बहुत से अन्य उपभेदों का अस्तित्व भी स्वीकार किया है, किन्तु इन चार भेदों के अतिरिक्त किसी अन्य भेदोपभेद का नामोल्लेख नहीं किया है[1]। वाक्यान्यथात्मक भेद की चर्चा करते हुए उदाहरण रूप में आपने 'सह भृत्यगणम् (वे० सं० २) इत्यादि पद को उद्धृत किया है। इसी प्रकार वाक्यासमाप्तिक भेद की चर्चा के प्रसंग में 'वत्से ! त्वं जीवितं' (उत्तररामचरित अं० ३) इत्यादि पद को उद्धृत किया गया है और वाक्यासमाप्तिक भेद को उदाहरण के आधार पर स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी है। वाक्यसंभेद रूप भेद पर प्रकाश डालते हुए 'दिङ्मातङ्गघटा' (औचित्यचर्चा-भट्टप्रभाकर) इत्यादि को प्रस्तुत किया गया है। इस सम्बन्ध में शारदातनय ने एक गद्यात्मक वाक्य उपस्थित करते हुए यह भी स्पष्ट करने की चेष्टा की है, कि इस वाक्य को कहते ही रोमाञ्च के द्वारा वक्ता के गुणविशेष का ज्ञान हो जाता है, जो शारदातनय के विचार से वाक्यासंभेद के प्रभाव का फल है। वाक्यानुचारण को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए 'प्रत्यग्रारिकृत' (शा० प० निशावारण्य) इत्यादि को प्रस्तुत किया गया है। इस प्रसंग में गद्यमूलक स्पष्टीकरण के माध्यम से शारदातनय ने यह भी सूचित किया है कि यहाँ 'हा वत्स !'। रूप वाक्यांश मुख से न निकलने में ही वाक्यानुच्चारण नामक काक्वादिव्यंग्या द्वारा व्यथा की गम्भीरता व्यक्त होती है।

---

१. वाक्यान्यथात्वादेकः स्यादेको वाक्यासमाप्तिकः।
वाक्यसम्भेदरूपोऽन्यो वाक्यानुच्चारणादपि ॥
इत्यादिभेदा बहुधा विच्छेदस्येरिता बुधैः ॥

भा० प्र०— षष्ठ अधि० पृ० १४६-१४७।

प्रकरणादिव्यंग्या नामक विवक्षा की चर्चा करते हुए शारदातनय ने स्पष्ट कर दिया है कि प्रकरण (सन्दर्भ) के माध्यम से भी विवक्षा के अनेक रूप प्रकट होते हैं। उदाहरणतः हठ पूर्वक चुम्बन किये जाने पर मानिनी के मुख से निकले हुए निषेधपरक वाक्य ही मान की शिथिलता से चुम्बनादि के विधायक होते हैं, अर्थात् हठ-पूर्वक नायक द्वारा चुम्बन किये जाने पर मानिनी जब निषेध परक वाक्यों का प्रयोग करती है तो वाक्यार्थ से निषेध का भाव भले ही अभिधार्थ के अनुरूप प्रकट होता हो, किन्तु वास्तव में वह उसके मान की शिथिलता को ही प्रकरणादि द्वारा सूचित करता है और निषेध के बदले चुम्बनादि व्यापार में प्रवर्त्तक सिद्ध होता है।

अभिनयादिव्यंग्या नामक विवक्षा पर विचार करते हुए यह बताया गया है कि अभिनय की प्रक्रिया द्वारा भी अनेक रूपों में भावाभिव्यक्ति होती है। इस सन्दर्भ में 'एवं मद्देहं' इत्यादि उदाहरण भी दिया गया है।

३. तात्पर्य-निरूपण

शारदातनय ने तात्पर्य नामक शब्दार्थ-सम्बन्ध रूप पर विचार करते हुए उसे वाक्यार्थ की ऐसी स्थिति का रूप बताया है जो वाक्योच्चारण के बाद भी शेष रह जाता है। यहाँ शारदातनय का अभिप्राय वाक्यार्थबोध को समझने के बाद ही वक्ता के अभिप्राय द्वारा बोधगम्य हो पाता है[1]। शारदातनय ने तात्पर्य के तीन भेदों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं—१. अभिधेय, २. प्रत्याय्य, ३. ध्वनि-रूप। अभिधेय की चर्चा करते हुए इसे कारकादि विशिष्ट क्रियादि का रूप बताया है[2]। शारदातनय का अभिधेय से तात्पर्य वाक्यार्थ के ऐसे रूप से है जो वाक्यगत क्रिया तथा कारकादि की स्थितियों के प्रभाव से बोधगम्य होता है। अनुपपत्तिवश अभिधीयमान अर्थ से भिन्न प्रतीत होने वाले वाक्यार्थ को प्रत्याय्य बताया गया है। इस अर्थ के परिचय प्रसंग में शारदातनय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इसकी अभिधार्थ से उपपत्ति नहीं हो पाती और यह जिस रूप में प्रतीत होता है वह अभिधार्थ से भिन्न होता है। तात्पर्य यह है कि वाक्यगत क्रिया-कारकादि शब्द समूह के प्रसिद्ध अर्थ से भिन्न जिस वाक्यार्थ की प्रतीति होती है उसमें वाक्यगत शब्दों के साथ प्रतीयमान अर्थ के सम्बन्ध को 'प्रत्याय्य' पद द्वारा व्यक्त किया गया है[3]।

---

१. वाक्यार्थं प्रति शेषत्वं यत्स्यादुच्चारणस्य तु।
भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १४७, पं० १७।

२. कारकादिविशिष्टो यः सोऽभिधेयः क्रियादिकः।
भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १४७, पं० २०।

३. यथाभिधीयमानार्थादन्यथानुपपत्तितः।
प्रतीयमानो वाक्यार्थो यः स प्रत्याय्य ईरितः॥
भा० प्र०—ष० अधि० पृ० १४०, पं० २१-२२।

शारदातनत ने प्रत्याय्य को स्पष्ट करने के लिये 'विषं भुंक्ष्व' वाक्य को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। इस वाक्यं में 'विषं' तथा 'भुंक्ष्व' दो पदों का प्रयोग किया किया गया है। यहाँ विष पद कर्मकारक की स्थिति में है तथा भुंक्ष्व पद, भुज् धातु के आज्ञार्थक लोट् लकार के मध्यम पुरुष के एक वचन को आत्मनेपदीय रूप उपस्थित करता है। विष एवं भुंक्ष्व दोनों ही पदों की अपनी अलग-अलग अभिधामूलक अर्थ-गत स्थितियाँ हैं। वाक्यार्थ के रूप में जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह प्रसिद्धार्थ से भिन्न एक प्रतीयमान अर्थ ही है। इस वाक्यार्थ से 'विषं भुंक्ष्व' वाक्य का जो सम्बन्ध होता है उसे प्रत्याय्य नाम से व्यक्त किया गया हैं।

ध्वनि

ध्वनि की चर्चा करते हुए शारदातनय का कहना है कि जहाँ शब्द एवं अर्थ अपने अर्थ को गौण करते हुए विशेष अर्थ को व्यक्त करते हैं उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है[1]। इस मान्यता के अनुसार ध्वनि की यह स्थिति ऐसे काव्य विशेष के रूप में ज्ञात होती है जहाँ शब्द एवं अर्थ अपने मुख्यार्थ को गौण करके किसी अभीष्टार्थ को व्यक्त करते हैं। ऐसे स्थलों पर प्रसिद्धार्थ तो गौण हो जाता है और उसकी अपेक्षा कोई अभीष्टार्थ ही मुख्यता प्राप्त कर लेता है। शारदातनय ने ध्वनि के दो भेदों का निरूपण किया है जो शब्द और अर्थ के रूप में कहे गये हैं। शब्द के भो दो भेदों का उल्लेख किया गया है जो इस प्रकार हैं—१. अनुनादरूप, २. प्रतिशब्दरूप। अनुनादरूप शब्द ध्वनि की चर्चा करते हुए शारदातनय ने काँसे के पात्र पर किये गये आघात से गूँजने वाली ध्वनि के साथ अनुनाद ध्वनि से व्यक्त होने वाले अर्थ का साम्यभाव उपस्थित किया है। वस्तुतः काँसे के पात्र पर आघात करने से एक ऐसी आवाज निकलती है जो बाद तक गूँजती रहती है। इस आवाज के अन्तिम बिन्दु तक पहुँचने से कुछ समय पूर्व ही आघात की विशेष क्रिया समाप्त एवं अदृष्ट हो चुकी रहती है, किन्तु गूँजने वाले आघात के साथ उस आघात-मूलक विशेष क्रिया का अनिवार्य सम्बन्ध रहता है। ठीक यही दशा अनुनाद नामक ध्वनि सम्बन्ध के माध्यम से प्रतीत होने वाले अर्थ के साथ वाक्यगत शब्दों की भी रहती है। प्रसिद्धार्थ के व्यक्त होने के बाद भी किसी विशेष अर्थ की जहाँ प्रतीति होती है वहाँ प्रतीयमान अर्थ से वाक्यगत शब्दों का जो सम्बन्ध रहता है उसे अनुनाद नामक शब्दध्वनि के रूप में ग्रहण किया गया है।

---

१. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥
भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १४८ पं० ३-४।

प्रतिशब्द नामक शब्द-ध्वनि पर विचार करते हुए शारदातनय ने गुहागत प्रतिशब्द का उदाहरण उपस्थित किया है। इनका कहना है कि जैसे गुफा में उच्चरित शब्द गुफा के प्रभाव से अपने मूल रूप से सर्वथा पृथक् एक नवीन रूप ग्रहण कर लेता है उसी तरह जहाँ वाक्य अपने प्रतीयमान अर्थ से सर्वथा नवीन एक दूसरा अर्थ व्यक्त करने लगता है वहाँ शब्द और अर्थ के बीच विद्यमान सम्बन्ध को प्रतिशब्द नामक ध्वनिविशेष के रूप में जाना जाता है। शारदातनय की इन मान्यताओं के आधार पर यदि अनुनाद एवं प्रतिशब्द नामक ध्वनि विशेष की भिन्नता-मूलक स्थिति पर विचार करके देखा जाय तो यह भिन्नता दोनों की अर्थ-प्रकृतियों की भिन्नता के आधार पर ही स्पष्ट की जा सकती है। शारदातनय ने इस तथ्य को सादृश्य के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इस सन्दर्भ में अनुनाद ध्वनि से व्यक्त होने वाले अर्थ को काँसे के पात्र पर किये गये आघात से होने वाली ध्वनि के समान तथा प्रतिशब्द ध्वनि से व्यक्त होने वाले अर्थ को गुफा में उच्चारण किये गये शब्द की प्रतिध्वनि के समान बताया है। वास्तव में काँस्य पात्र पर किये गये आघात के कारण होने वाली आवाज का आदिम रूप ही अन्त तक गूँजता रहता है। अन्तिम क्षणवर्त्ती उस आवाज का आदिम क्षणवर्त्ती आवाज के रूप से न्यूनाधिक मात्रा में भेद रहते हुए भी दोनों का निकट सम्बन्ध विद्यमान रहता है। अनुनाद ध्वनि से व्यक्त होने वाले अर्थ की स्थिति भी इसी आवाज के सदृश रहती है। वाक्यार्थ के मूल रूप से यह प्रतीयमान अर्थ पूर्ण रूप से पृथक् नहीं रहता। इसके विपरीत गुफा में जो शब्द उच्चरित होता है उससे सर्वथा भिन्न गुफा की प्रतिध्वनि सुनायी देती है। अर्थात् गुफा में उच्चारण किये गये शब्द की आवाज से गुफा की प्रतिध्वनि का रूप सर्वथा भिन्न हो जाता है, क्योंकि मूल रूप में गुफा से बाहर किसी शब्द के उच्चारण करने पर जैसी आवाज प्रकट होगी गुफा में भी उसके उच्चारण करने से मूलतः उसी तरह की आवाज निकलेगी, किन्तु गुफा के भीतर वह जिस रूप में प्रतिध्वनित होगी उसका रूप उच्चरित शब्द के मूल रूप से सर्वथा भिन्न होगा। इसी तरह प्रतिशब्द-ध्वनि नामक सम्बन्ध के माध्यम से जो अर्थ बोधगम्य होता है वह वाक्यार्थ के प्रतीयमान रूप से सर्वथा भिन्न होता है[1]। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने प्रतिशब्द-ध्वनि नामक सम्बन्ध से बोधगम्य होने वाले अर्थ के विषय में स्पष्ट कर दिया है कि इस स्थिति में वाक्यार्थ अपने प्रतीत अर्थ को त्याग कर एक पृथक् रूप को प्राप्त कर लेता है।

शारदातनय ने शब्दध्वनि के भेदों की तरह अर्थ-ध्वनि के अनुवाद एवं प्रति-शब्द नामक भेदों की प्रकृति का भी विश्लेषण किया है। इस सन्दर्भ में विद्वान् विचारक

ने अर्थ के आधार पर ध्वनि की स्थिति का वर्णन किया है। इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिये शारदातनय ने 'शान्त्यै वोऽस्तु कपाल०' (सरस्वतीकण्ठाभरण पृ० ४५९) इत्यादि पद का संकेत परक उल्लेख उदाहरण रूप में किया है। विद्वान् विचारक की मान्यताओं के अनुसार उदाहरण में प्रयुक्त 'कपालदामलिखित' तथा 'प्रक्ष्यति' इत्यादि पदात्मिका लिपि को गणों के द्वारा पढ़े जाने की जो बात कही गयी है, उससे सृष्टि के आदि कर्ता देवगणों के प्रभाव का बोध होता है। शारदातनय के अनुसार प्रतीत होने वाले इस वाक्यार्थ से शंकर की आदि संसृति का बोध होता है जो उनके नित्यत्व, एकत्व तथा स्वातन्त्र्य का बोध कराती है। उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यदि विचार किया जाय तो ध्वनि का रूप ऐसे प्रयोगों में ही दृष्टिगोचर होगा जहाँ प्रसिद्ध वाक्यार्थ से किसी गुण-कर्म धर्मपरक विशेष अर्थ की प्रतीति होती है और उस प्रतीयमान अर्थ से निष्कर्ष रूप में किसी अन्य विशिष्ट अर्थ का बोध होता है। वाक्यार्थ से चलकर ध्वन्यार्थ तक पहुँचने में प्रतीयमान अर्थ का माध्यम ग्रहण करना पड़ता है। यह ध्वन्यर्थ भी प्रतीत अर्थ से ही प्रतीयमान होता है। शारदातनय का कहना है कि इस प्रकार के प्रतीयमान अर्थ में ही वह अर्थ भी अनुस्यूत रहता है जो ध्वनित किया जाता है। ऐसे ही अर्थ की स्थिति में शब्दार्थ-सम्बन्ध के अनुवाद नामक अर्थध्वनि का रूप उपलब्ध होता है। उदाहरण रूप में 'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः' (सा० द० २।७५) इत्यादि पदांश भी उपस्थित किया गया है। इस पद में 'भ्रम' पद द्वारा प्रसिद्धार्थ रूप में गमन व्यापार की विधिपरक स्थिति का बोध होता है, किन्तु उक्त 'भ्रम' पद से 'गोदानदी के तट की ओर जाने योग्य नहीं है' इस निषेधमूलक अर्थ की प्रतीति होती है। प्रतीयमान अर्थ में व्यवहृत 'गोदा' पद के अर्थ में संकेत भूमि का भाव अनुस्यूत है। अनुनाद नामक ध्वनि के सम्बन्ध का प्रभाव इसी प्रकार के ध्वन्यर्थ बोध में दृष्टिगोचर होता है।

ध्वनि के प्रतिशब्द नामक सम्बन्ध भेद के उदाहरण रूप में शारदातनय ने 'लावण्यसिन्धुः' (वामन काव्य ४।३।४) इत्यादि पदांश को प्रस्तुत किया है। यहाँ रूप सौन्दर्य वर्णन प्रसंग में सौन्दर्य के ऐसे सागर का उल्लेख किया गया है जिसमें कमल एवं चन्द्र तो तैरते दिखायी देते हैं तथा मृणाल दण्ड के रूप में दूसरे ही कदली-काण्ड उपस्थित हैं। यहाँ रूपसाम्य के आधार पर अभिधार्थ के समान अंग वर्णन के लिये प्रयुक्त होने वाले पदों का व्यवहार किये बिना ही वर्ण्य विषय (नायिका) के समस्त अवयवों का विवरण बोधगम्य रूप में उपस्थित कर दिया गया है। इस पद में प्रयुक्त शब्दों के अभिधार्थ द्वारा जिन-जिन अर्थों को उपस्थित किया गया है, वे रूप सौन्दर्य से सम्बद्ध वर्ण्यविषय के एक-एक अवयव का अर्थ व्यक्त करते हैं। रूप से सम्बद्ध शारीरिक अंगों के इन अर्थों को प्रसिद्धार्थ की प्रतिध्वनि के रूप में ग्रहण

किया जा सकता है। इस प्रकार के अर्थों की अभिव्यक्ति में शब्दार्थ-सम्बन्ध का स्वरूप ध्वनि के प्रतिशब्द नामक सम्बन्ध को प्रकट करता है। यहाँ प्रतिध्वनित होने वाले अर्थ, प्रसिद्धार्थ से सर्वथा पृथक् रूप में ही बोधगम्य होते हैं। इसी तरह अनुनाद एवं प्रतिशब्द के दो अन्य उदाहरणों को भी उपस्थित करते हुए शारदातनय ने दोनों की स्थितियों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है। अनुनाद ध्वनि के वर्णन-प्रसंग में साम्य का आधार दिखलाते हुए ध्वन्यर्थ की अभिव्यक्ति पर बल दिया गया है, किन्तु प्रतिशब्द के वर्णन-क्रम में अर्थ की प्रतिध्वनि-परक स्थिति का उल्लेख किया गया है[1]।

तात्पर्य वृत्ति की व्यापकता

ध्वनि तथा तात्पर्य के विषय में शारदातनय का कहना है कि कुछ लोग दोनों को एक दूसरे पृथक् मानते हैं। इस प्रसंग में हमारे विद्वान् आचार्य ने पृथकता-वादी विद्वानों द्वारा उपस्थित किये गये आधारभूत विवरणों को भी प्रस्तुत किया है[2]। इसके विपरीत इन्होंने ध्वनि एवं तात्पर्य को एक रूप में स्वीकार करने वाले आचार्यों के दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किये हैं। दोनों को एक रूप मानने वाले विचारकों का कहना है कि ध्वनि एवं तात्पर्य की पारिभाषिक एवं परिचयात्मक विवेचनाओं को ध्यान में रखते हुए विचार करने पर दोनों में कोई भी ऐसा आधार दृष्टिगोचर नहीं प्रतीत होता जो इन्हें एक दूसरे से पृथक् करता हो। इस विषय में शारदातनय ने दोनों की एकता के समर्थक टीकाकारों के विचारों को भी मूलरूप में ही उद्धृत किया है[3]। आपके विचार से ध्वनि एवं तात्पर्य में ब्राह्मण एवं ब्रह्मचारी की जैसी स्थिति रहती है। अर्थात् मूलतः दोनों में एक रूपता की ही स्थिति है। इनके अवान्तर भेद ही भिन्न-भिन्न कहे जाते हैं। शारदातनय की उपर्युक्त मान्यता को ध्यान में रखते हुए ध्वनि एवं तात्पर्य में व्याप्य-व्यापक भाव को स्वीकार किया जा सकता है। ब्राह्मण की स्थिति ब्रह्मचारी की स्थिति से अधिक व्यापक है, क्योंकि ब्रह्मचारी के अतिरिक्त

१. भा० प्र० - षष्ठ अधि० पृ० १४९।

२. अप्रतिष्ठमविश्रान्तं स्वार्थे तत्परतामिदम्।
वाक्यं विगाहते तत्र न्याय्या तत्परताऽस्य सा।
यत्र तु स्वार्थविश्रान्तं प्रतिष्ठां तावदागतम्।
तत्प्रसर्पति तत्तस्मात् सर्वत्र ध्वनिना स्थितिः॥

भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १४९ पं० १८-२१।

३. एतावतैव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम्।
यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं तुलया धृतम्॥

ब्राह्मणजातीय व्यक्ति भी ब्राह्मण ही कहे जाते हैं, किन्तु सभी ब्रह्मचारी नहीं कहे जाते। ब्राह्मणजातीय व्यक्तियों का केवल वही वर्ण ब्रह्मचारी कहलाता है जो ब्रह्मचारी की आचार-परम्पराओं में प्रवृत्त रहता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मचारी को ब्राह्मणेतर कहना अथवा ब्राह्मण को ब्रह्मचारी से भिन्न बताना समीचीन नहीं माना जा सकता। इस प्रकार स्पष्ट है कि शारदातनय के दृष्टिकोण में ध्वनि एवं तात्पर्य के बीच व्याप्त एवं व्यापक भाव की स्थिति है। तात्पर्य पद द्वारा गृहीत अर्थ की दशा ध्वनि पद द्वारा गृहीत अर्थ की अवस्था से अधिक व्यापक है, क्योंकि तात्पर्य की व्याप्ति वक्ता के अभीष्टार्थ से सीधा सम्बन्ध रखती है। वक्ता का अभिप्राय ही तात्पर्य रूप में गृहीत होता है। ध्वन्यर्थ भी उसी अभिप्राय का एक रूप है। इसलिये ध्वन्यर्थ को तात्पर्य का एक रूप स्वीकार करते हुए भी तात्पर्य को ध्वन्यर्थ तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ध्वन्यर्थ भी तात्पर्य का ही एक रूप है, किन्तु अपनी सीमित अर्थ-प्रकृति के अनुसार वह तात्पर्य की व्यापक भावभूमि को आत्मसात् नहीं कर सकता। ध्वन्यर्थ के अतिरिक्त रूपों में वाक्यार्थ के जिस अभिप्राय-मूलक भाव का बोध होता है उन समस्त अर्थों की बोधगम्य अवस्थाओं को तात्पर्य के ही भीतर स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु इन्हें ध्वन्यर्थ नहीं माना जा सकता।

४. प्रविभाग-निरूपण

प्रविभाग नामक सम्बन्ध भेद की चर्चा करते हुए शारदातनय ने इसे अर्थ की किसी विशेष मात्रा के लिये व्यवहार में लाये जाने वाले शब्दों के परिमाण का निर्धारक बतलाया है[१]। इस मान्यता के अनुसार जितने अर्थ को व्यक्त करने के लिये जितने शब्दों की आवश्यकता रहती है इसका निर्धारण प्रविभाग द्वारा ही किया जाता है। वास्तव में सन्दर्भ के अनुसार शारदातनय का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि महावाक्य रूप भावाभिव्यक्ति के भाषामय स्वरूप को पद्यात्मक विभाग एवं प्रविभागों द्वारा विश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत किया जाता है। ऐसी दशा में वाक्य, पदार्थ एवं पद में प्रकृति-प्रत्ययादि की जो स्थिति रहती है तथा उनके अर्थों में जो विभाग किया जाता है उसी को शारदातनय ने प्रविभाग कहा है। प्रविभाग के द्वारा विश्लेषण की प्रक्रिया से पद के अर्थों का जिस रूप में बोध होता है वह विश्लेषण से पहले पदों के प्रयोग मात्र से नहीं होता है। शारदातनय की उपर्युक्त मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए प्रविभाग की विश्लेषणात्मक प्रकृति को वाक्य, पद, पदार्थ एवं पदों के प्रकृति-प्रत्ययों तक व्याप्त माना जा सकता है। वास्तव में भावाभिव्यक्ति

१. अर्थस्यैतावतः शब्द एतावानलमित्ययम्।

भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १९० पं० १५।

रहता है। इसी परस्परान्विति की योग्यता को ही सामर्थ्यपद द्वारा व्यक्त किया गया है।

७. अन्वय-निरूपण

अन्वय नामक सम्बन्ध भेद का परिचयात्मक वर्णन करते हुए शारदातनय ने पदों के पारस्परिक ग्रथन को ही अन्वय कहा है। वाक्यार्थ बोध के लिए एक पद का दूसरे पद में अन्वय होता है। इसीलिये अनेक पदों के अर्थों में वाक्यार्थ योग्य सामञ्जस्य तथा तारतम्य भाव प्रस्तुत होता है। अनेक पद एक साथ जुटकर अर्थ की दृष्टि से एक रूप हो जाते हैं। इसी को पारस्परिक ग्रथन कहा गया है। शारदातनय ने ग्रथन के इसी रूप को अन्वय कहा है[1]। लौकिक उदाहरणों के माध्यम से शारदातनय ने अन्वय के तीन रूपों का उल्लेख किया है। जहाँ पदों का अन्वय अर्थात् पारस्परिक ग्रथन इस प्रकार हो जाता है कि वे अविभाज्य रूप में एकता की स्थिति ग्रहण कर लेते हैं, वहाँ अन्वय की प्रथम स्थिति होती है। इस प्रकार के अन्वय को बोधगम्य बनाने के लिये शारदातनय ने 'नीर-क्षीर' के पारस्परिक मिलन का सादृश्य प्रस्तुत किया है। वस्तुतः द्रव रूप में दोनों के विद्यमान रहने पर भी प्रत्येक की अपनी विशिष्ट प्रकृति रहती है। 'क्षीर की तरह 'नीर' का अपना कोई विशिष्ट वर्ण नहीं होता है। इसीलिए वह क्षीर से मिलकर क्षीर का ही रूप ग्रहण कर लेता है। मिश्रण की इस स्थिति में दोनों के बीच अभेद भाव की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। अन्वय का दूसरा रूप ऐसा होता है जहाँ अन्वित पदों की अपनी-अपनी विशिष्ट प्रकृति अन्वय के बाद भी प्रत्यक्ष रूप में विद्यमान रहती है। इस दूसरे स्वरूप को शारदातनय ने 'तिल-तण्डुलवत्' बताया है। तिल यदि काला है तो सफेद वर्ण वाले तण्डुल के साथ उसे मिला देने पर भी भिन्न वर्णात्मक होने से मिश्रित दशा में भी दोनों पृथक्-पृथक् दिखलायी देते हैं। ठीक यही स्थिति पदों के अन्वय की किसी विशेष दशा में दिखायी देती है। ऐसी अवस्थाओं में अन्वित पदों की पृथक् पृथक् अर्थप्रकृतियाँ अन्वय के उपरान्त भी प्रकट रहती हैं। अर्थप्रकृति की इस विशिष्ट दशा में भी पदार्थों के बीच सामञ्जस्य की अवस्था अन्वय के प्रभाव वश उपलब्ध रहती है। अन्वय के तीसरे रूप को शारदातनय ने 'पांसूदकवत्' बताया है। जहाँ अन्वित पदों में प्रथम अवयव की अर्थप्रकृति अपने परवर्ती पद अर्थप्रकृति को पूर्ण रूप से प्रभावित कर देती है वहाँ अन्वय के इस तीसरे रूप को स्वीकार किया गया है। वस्तुतः अन्वय के नीर-क्षीर मूलक प्रथम स्वरूप से यह 'पांसूदकवत्' अन्वय का स्वरूप सर्वथा विपरीत है। जहाँ परवर्ती पद की अर्थ-

---

१. परस्परस्य ग्रथनं पदानामन्वयः स्मृतः।

भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १५१, पं० ८।

प्रकृति, पूर्ववर्त्ती पद के अर्थ को आत्मलीनता की दशा में प्रभावित कर देती है वहाँ 'नीर-क्षीरवत्' अन्वय का प्रथम स्वरूप माना गया है। इसके विपरीत 'पांसूदकवत्' अन्वय की दशा में पूर्वपद की अर्थप्रकृति ही परवर्ती पद की अर्थप्रकृति को इस प्रकार प्रभावित कर देती है, जैसे—पांसु की मलिनता निर्मल जल में मिलकर उसे भी मलिन कर देती है।

८. एकार्थीभाव-निरूपण

एकार्थीभाव नामक सम्बन्ध भेद की चर्चा करते हुए शारदातनय ने भिन्न-भिन्न अर्थवाले पदों के अर्थ में एकीकृत अर्थ के स्वरूप की प्रतिष्ठा को ही एकार्थीभाव बताया है[1]। इस प्रकार एकार्थी शब्द से शारदातनय का अभिप्राय अर्थगत एकीकरण के ऐसे रूप से है जिसमें पृथक्-पृथक् अर्थवाले अनेक पदों के अर्थों में एकार्थता विद्यमान रहती है। एकार्थीभाव की दशा में पदों की अर्थ-मूलक पृथकता समाप्त हो जाती है और सभी पदों के अर्थों का इस रूप में एकीकरण हो जाता है कि वह अर्थ सम्बन्धित पदों में से किसी भी पदविशेष के अर्थ से सर्वथा स्वतन्त्र एक नवीन अर्थ प्रकट करने लगता है। इस नवीन अर्थ में सम्बन्धित प्रत्येक पद के अर्थविशेष का योगदान रहता है, किन्तु उस अर्थ का किसी अर्थविशेष की सीमित स्थिति से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। शारदातनय का कहना है कि इसी रूप में मुक्तक आदि की व्याख्याएं की गयी हैं। इस सन्दर्भ में शारदातनय ने युगल, कलापक, कोश तथा प्रकरण आदि का विवेचन किया है। दो तथा चार पदों से 'युगल' तथा तीन एवं चार पदों से 'कलापक' होते हैं। इनका परिचय देते हुए शारदातनय ने ऐसे रूप का निर्देश किया है जिसमें विस्तृत वाक्य एक ही प्रघट्टक द्वारा निबद्ध रहता है। एक प्रघट्टक द्वारा निबद्ध विस्तृत वाक्य के ऐसे ही संघात में इनका रूप प्रकट होता है। जहाँ अनेक वाक्यों के संकलित रूप को नाना प्रघट्टकों द्वारा निबद्ध किया जाता है वहाँ 'कोश' नाम पड़ता है अर्थात् कोश में नाना वाक्यों के एकत्रित स्वरूप को अनेक प्रघट्टकों द्वारा निबद्ध किया जाता है। ऐसे ही कोश को उद्यान, सलिल, क्रीडा आदि से साथ अनेक रूपों में जब प्रबन्ध के मध्य निबद्ध किया जाता है तो उसे 'प्रकरण' कहते हैं। ऐसे ही प्रकरणों का समूह 'प्रबन्ध' कहलाता है। प्रबन्ध में 'रामादिवत्' की स्थिति के सन्निवेश का विधान किया जाता है, किन्तु 'रावणादिवत्' स्थिति के सन्निवेश का निषेध किया जाता है। इस प्रकार कासन्नियोजित महावाक्यार्थ ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक पुरुषार्थ चतुष्टय का साधक होता है। शारदातनय ने इसी प्रकार के वाक्य की प्रयोगार्हता का समर्थन किया है।

१. अविभागेन भवनमेकार्थीभाव इष्यते।

भा० प्र०—षष्ठ अधि०, पृ० १५१ पं० ११।

प्रस्तुत प्रसंग में गुणहीनता, सदोषत्व तथा रस एवं अलंकार शून्यता को वाक्य की प्रयोगार्हता में बाधक बताया है। इसके विपरीत गुणमयता, दोषहीनता, सरसत्व तथा सालंकारता को वाक्य की प्रयोगार्हता का साधक बताया है। इस सन्दर्भ में आपने नाम-निर्देश किये बिना ही अपने पूर्ववर्त्ती आचार्य को उद्धृत करते हुए काव्य गुणों की चर्चा की है। इस प्रसंग में सगुण, सरस, सालंकार काव्य को ही निर्दोष कहा है और इससे विपरीत स्थिति वाले काव्य को सदोष बताया है[1]। काव्य के प्रस्तुत सन्दर्भ में गुण, रस, अलंकारों के समानान्तर में दोषाभाव का अलग विवरण नहीं दिया गया है अपितु गुण, रस तथा अलंलार का न होना ही काव्य का दोष बताया है। ऐसी स्थिति में गुणोपादन, अलंकार एवं रसयोग से पृथक् किसी दोषाभाव का पता नहीं चलता।

९. दोषाभाव-निरूपण

जैसाकि ऊपर के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है—शाददातनय ने दोषाभाव को भी वाक्य की प्रयोगार्हता का साधन बताया है। इस सन्दर्भ में विद्वान् आचार्य ने दोषों की विविध संख्याओं का भी उल्लेख किया। दोषों के नाम तथा उनका परिचयात्मक वर्णन किये बिना ही शारदातनय ने पद, वाक्य एवं वाक्यार्थ क्रम से दोष के तीन भेदों का उल्लेख किया है। साथ ही साथ इन्हें भी सोलह उपभेदों में विभक्त किये जाने वाला कहा है। इस सम्बन्ध में आपका कहना है कि भोज आदि ने अलंकार, गुण एवं दोषों का विस्तृत विवेचन किया है। इसीलिये शारदातनय ने इनका विवेचन यहाँ नहीं किया है।

१०. गुणोपादान-निरूपण

दोषाभाव के प्रसंग में यह दिखाया जा चुका है कि वाक्य की प्रयोगार्हता में दोषाभाव आदि के ही समान गुणोपादान का भी महत्त्व होता है। वाक्य का गुण-युक्त होना उसे प्रयोगार्ह बनाता है। शारदातनय ने वाक्य की प्रयोगार्हता के इस आवश्यक साधन का निर्देश करते हुए भी उन गुणों का प्रस्तुन सन्दर्भ में कहीं उल्लेख नहीं किया है जो वाक्य की प्रयोगार्हता के साधन रूप हैं। शब्दार्थ-सम्बन्ध के अगले षड्विध द्वितीय मत (अभिनवगुप्त) की चर्चा के प्रसंग में गुण-धर्मों का पृथक्-पृथक् उल्लेख भी किया गया है जिनका विवेचन अगले क्रम में ही उपस्थित करना समीचीन प्रतीत होता है।

---

१. सगुणं सरसं काव्यं सालङ्कारञ्च यद् भवेत्।
तन्निर्दोषं सदोषन्तु तद्विपर्ययतो भवेत्॥
भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ १५२ पं० ८-९।

११. अलंकारयोग-निरूपण

वाक्य का अलंकार युक्त होना भी वाक्य को प्रयोगार्ह बनाने में सहायक होता है। शारदातनय ने उपर्युक्त प्रसंगों में इसे स्पष्टतया स्वीकार किया है। इतना होते हुए भी प्रस्तुत प्रसंग में अलंकार विवेचन का अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। भोज आदि द्वारा किये गये वर्णन की ओर संकेत करते हुए शारदातनय ने गुण आदि की तरह अलंकार विवेचन से भी अपने को अलग रखा है। यद्यपि अन्यत्र अलंकार के विविध रूपों का भी वर्णन किया गया है जो शारदातनय के वर्णन क्रमानुसार ही सम्बद्ध प्रसंगों में उल्लेखनीय है।

१२. रसयोग–निरूपण

शारदातनय का कहना है कि यथार्थतः वाक्य के तात्पर्य रूप में रस का ही बोध होता है। इसलिये रस का वाक्यार्थत्व भी सिद्ध है। इस सन्दर्भ में भरत एवं सदाशिव के नामों का उल्लेख करते हुए रसाश्रय पर भी विचार किया गया है। आपका कहना है कि रस ही आस्वाद्य होता है। जिसकी प्रतीति रसिक को ही यथावसर आस्वाद्य स्थल में होती है। अनुकार्य में उसके आस्वाद्यत्व की स्थिति नहीं रहती। दर्शक को ही प्रमोद, व्रीड़ा, ईर्ष्या एवं राग द्वेष के प्रसंग से अपनी लौकिक अनुभूतियों से युक्त पाया जाता है। अतः दर्शक अर्थात् रसिक सामाजिक ही रसाश्रय होता है। रति आदि स्थायीभाव ही विभावादि के सहयोग से रसरूपता ग्रहण करते हैं। काव्य-व्यापार तथा उसके अभिनय-प्रसंग सें नियमानुकूल स्थायीभाव ही स्वाद्यत्व ग्रहण करता है। इसलिये सहृदय सामाजिक को ही रसाश्रय माना जा सकता है। रामादि अनुकार्यों से काव्य-रचना एवं अभिनयादि का काल बहुत भिन्न रहता है। इसलिये काल के अतिक्रम को ध्यान में रखते हुए भी रामादि अनुकार्यों को रसाश्रय नहीं माना जा सकता। रामादि का काल, अभिनय काल से बहुत प्राचीन है। इसलिये अनुकार्य को रसाश्रय मानने पर कालातिक्रम की स्थिति विद्यमान रहती है। वास्तव में सामाजिक को रसमयता प्रदान करने के लिये ही अभिनयादि रूप रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया गृहीत होती है। अतः सामाजिक ही रसाश्रय होता है। शारदातनय का कहना है कि काव्य की प्रवृत्ति सामाजिक के ही उद्देश्य से होती है। इस काव्य-प्रणयन का उद्देश्य तथा तात्पर्य रस में ही रहता है। इसलिये काव्य एवं रस में जन्य-जनक-भाव माना जाता है। इस सम्बन्ध में शारदातनय ने रस-निष्पत्ति के साधन भूत विभावादि तत्त्वों के निर्वाह पर भी विचार किया है। रामादि-गत भोग आदि का प्रतिपादन करने से सामाजिक के सुदृढ़ संस्कार उन्हें रसानुभूति योग्य बना देते हैं। अहंकार के प्रभाव से सामाजिक को निर्विकल्प, निरुपम-स्वाद का अनुभव होता है। इस प्रकार रामादि-अनुकार्य, अभिनय-काल में विद्यमान न रहते हुए भी काव्य-कौशल के प्रभाववश प्रत्यक्ष के समान वाक्यगत शब्दों के आधार

पर सामाजिक के मन में रस को उत्पन्न करते हैं, क्योंकि अभिनय प्रक्रिया का साक्षात्कार करते समय सामाजिक की एकचित्तता उसे ऐसी अवस्था में पहुँचा देती है कि वह अपने और पराये के भेद-भाव को पूर्णतः भूल जाता है और रस का अनुभव करता है। इसी प्रकार शारदातनय ने भाव्य-भावकभाव पर भी बल दिया है।

इस प्रकार शारदातनय ने शब्दार्थ-सम्बन्ध के १२ भेदों का उल्लेख करते हुए भोज की तद्विषयक विवेचन सरणि का आश्रय ग्रहण किया है। शब्दार्थ-सम्बन्ध निरूपण शैली में शारदातनय ने जिन पद्धतियों का अनुसरण किया है उनमें अनेक मतों का समन्वित-रूप दृष्टिगोचर होता है। विवेचन क्रम के अनुसार उपर्युक्त सम्बन्ध वर्णन को प्रथममत के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। विद्वान् आचार्य ने अपने विवेचन क्रम में इस मत के अतिरिक्त भी शब्दार्थ-सम्बन्ध विषयक अन्यमतों का प्रतिपादन किया है जो क्रमानुसार आगे कहे जा रहे हैं—

द्वितीयमत

अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित इस मत को ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने अर्थवृत्ति के आधार पर शब्दों के छः भेदों का निरूपण किया है जो इस प्रकार हैं[1]—

१–वाचक, २–लाक्षणिक, ३–व्यञ्जक, ४-गमक, ५-प्रत्यायक, ६–द्योतक। शब्द की उपाधिगत भिन्नता के आधार पर अर्थ के छः भेदों का भी निरूपण किया है जिन्हें क्रमशः इस प्रकार कहा गया है—१–वाच्य, २–लक्ष्य, ३–व्यंग्य, ४-गम्य, ५-प्रत्याय्य, ६–द्योत्य। इस सम्बन्ध में शारदातनय का कहना है कि इन अर्थों से भिन्न एक दूसरा अर्थ भी होता है जिसे तात्पर्य कहा जाता है। यह अर्थ भी इन्हीं शब्दों से गृहीत होता है। शब्द एवं अर्थ के वाचक एवं वाच्यादि भेदों का विद्वान् विचारक ने पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। आपका कहना है कि वाचक वह शब्द होता है जिसका अर्थ में स्पष्ट सम्बन्ध ज्ञात रहता है। अर्थात् शब्द का अर्थ के साथ जहाँ परम्परा प्राप्त रूप में सम्बन्ध गृहीत है, वहाँ शब्द वाचक कहा जाता है। शारदातनय की उपर्युक्त मान्यताओं के अनुसार वाचक शब्द लोक प्रसिद्ध अर्थ को ही व्यक्त करता है। वाचक शब्द से जब गुणपरक विशेषताओं का बोध हुए बिना ही वस्तुपरक अर्थ का ज्ञान होता है तब वाच्य-अर्थ स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार वाच्यार्थ की स्थिति वस्तुपरक होती है, गुणपरक नहीं। शारदातनय ने इस प्रकार के अर्थ की अभिव्यक्ति में 'अभिधा' नामक वृत्ति को स्वीकार किया है। इनकी दृष्टि में अभिधार्थ ही वाच्यार्थ है। अभिधा-वृत्ति द्वारा वाचक शब्द जिस प्रसिद्धार्थ को व्यक्त करता है वह स्थिति केवल वस्तुपरक रहती है। इसलिये

१. भावप्रकाशन—षष्ठ अधि० पृ० १५५।

वाचक शब्द को वस्तु-ज्ञापक भी कहा गया है। लाक्षणिक शब्द एवं लक्ष्यार्थ पर विचार करते हुए शारदातनय ने लक्ष्यार्थ में अभिधार्थ का योगदान स्वीकार किया है। इनका कहना है कि प्रसिद्धार्थ में अभिधावृत्ति के योग से प्रवृत्त होने वाला शब्द जब अभिधार्थ से सम्बद्ध वस्तु का बोध कराने लगता है तब शब्द लाक्षणिक कहा जाता है और लाक्षणिक पद द्वारा व्यक्त किये गये अर्थ को लक्ष्यार्थ कहा जाता है। लक्ष्यार्थ की अभिव्यक्ति में शब्द की लक्षणा-वृत्ति मानी जाती है। इस सम्बन्ध में शारदातनय ने लक्षणा की विशेष स्थिति को भी परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। इनका कहना है कि शब्द अपने अभिधार्थ का त्याग किये बिना ही जब तत्सम्बद्ध वस्तु के अर्थ की प्रतीति कराता है तब शब्दव्यापार की विश्रान्ति अभिधा से सम्बद्ध उस [illegible] अर्थ को व्यक्त करने में शब्द-व्यापार की विश्रान्ति की जो कारणता रहती है वह लक्षणा कही जाती है। इस प्रकार लक्षणा एक ऐसी वृत्ति सिद्ध होती है जो लक्ष्यार्थ में ही शब्द-व्यापार की विश्रान्ति को घोषित करती है। लाक्षणिक एवं लक्ष्यार्थ पर विचार करने के पश्चात् शारदातनय ने व्यञ्जक एवं व्यंग्य नामक शब्दार्थ पर भी विचार किया है। व्यञ्जक शब्द का परिचय देते हुए आपका कहना है कि वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के साथ प्रतिष्ठित सम्बन्ध का परित्याग किये बिना ही इन अर्थों के धर्म तथा गुणों द्वारा जब शब्द किसी अतिशयता-परक विशिष्ट अर्थ को व्यञ्जित करता है तो उसे व्यञ्जक कहा जाता है। रस, अलंकार तथा गुण धर्म के प्रभाव से वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से सर्वथा भिन्न जिस अर्थ का बोध होता है उसे व्यंग्य कहा जाता है। इस प्रकार के अर्थ में 'व्यञ्जनावृत्ति' स्वीकार की गयी है। शारदातनय ने इस वृत्ति की विश्रान्ति को ऐसे शब्द व्यापार की स्थिति में स्वीकार किया है जहाँ शब्द अपने धर्म, अर्थ, गुण तथा रसादि के सहयोग से किसी विशिष्ट (कलित) अर्थ को व्यक्त करता है।

गमक-गम्य नामक शब्दार्थ पर विचार करते हुए शारदातनय का कहना है कि जब विशेष प्रकार के वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ की किसी एकदेशीय विशेषता से विशिष्टार्थ गम्यमान होता है तो वहाँ शब्द को गमक माना जाता है। तात्पर्य यह है कि गमक-शब्द, वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ की किसी विशिष्टता से ही विवक्षितार्थ का बोध कराता है। गम्य नामक अर्थ पर विचार करते हुए इसे गुण-भाव रसादि-रूप माना गया है जो वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ की विशिष्ट स्थिति के आश्रय से बोधगम्य होता है। गम्य अर्थ में गमक अर्थ की वृत्ति को 'गति' कहा गया है। द्योतक एवं द्योत्य नामक शब्द की चर्चा के प्रसंग में ऐसे पद को द्योतक बताया गया है जिसमें अपनी ही वृत्ति द्वारा अर्थ विशेषणादि गुणों के प्रभाव से शब्द में अनुस्यूत अर्थान्तर को व्यक्त करने की शक्ति रहती है। अर्थात् द्योतक शब्द अपने प्रसिद्धार्थ में अनुस्यूत अर्थान्तर को व्यक्त करता है। इसी तरह प्रतीयमान गुण, धर्म तथा रसादिकों से

पृथक्-पृथक् प्रत्येक की विशेष शक्ति द्वारा जो अर्थ होता है उसे द्योत्य कहा जाता है। अर्थात् द्योत्यार्थ गुण-धर्म एवं रसादि के प्रभाव से प्रत्येक की स्थिति के अनुरूप विशिष्टार्थ का बोध करता है। द्योतक एवं द्योत्य नामक शब्दार्थ में 'द्युति' नामक वृत्ति बतायी गयो है। इस वृत्ति का प्रभाव ऐसे स्थल पर दिखायी देता है जब वाक्यार्थ के अवयवीभूत पदार्थों को आत्मसात् कर लेने के पश्चात् ही किसी विशिष्ट प्रकृति वाले विवक्षितार्थ की प्रतीति होती है। इसी तरह वाच्य तथा लक्ष्यादि वस्तुओं में जहाँ अतिशयता की प्रतीति होती है वहाँ उस अतिशयता मूलक विशिष्टार्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द को प्रत्यायक माना जाता है। प्रत्यायक नामक अर्थ पर विचार करते हुए शारदातनय का कहना है कि पदार्थ एवं वाक्यार्थ के सम्पर्क में विद्यमान रहने वाले गुण, रस एवं अलंकार में जो अतिशयता-गर्भ प्रतीयमानार्थ रहता है उसे प्रत्याय्य कहते हैं। प्रत्यायक एवं प्रत्याय्य के बीच 'प्रतीत' नामक वृत्ति स्वीकार की गयी है। इस विषय में शारदातनय की मान्यता है कि पद के छः अर्थों पर विचार करने के लिये देश, काल, क्रिया, जाति के रूप में वाच्यादि वस्तुओं के बीच अनेक प्रकार की गुण-धर्म कल्पित किये गये हैं। इन्हें काव्य-सम्पत्ति के लिये कवियों ने स्वीकार किया है। इसी सन्दर्भ में अर्थ की उपलब्धि के लिये वाच्य, लक्ष्यादि का भी विवेचन किया गया है। शारदातनय ने प्रस्तुत प्रसंग में कतिपय धर्म एवं गुणों का भी उल्लेख किया है। सर्वप्रथम देश के आधार पर गुण एवं धर्म की विशिष्ट दशा का प्रतिपादन करते हुए विद्वान् आचार्य ने किसी स्थान का ऊँचा, नीचा होना ही उसका आधरमूलक विशेष धर्म बताया है। इसी तरह आकार की कोमलता, कठोरता, कृष्णता एवं शुक्लता को उसके गुणों का रूप व्यक्त किया गया है। काल के अनुसार रात और दिन के क्रम से काल के दो भेद किये गये हैं और उनके तम और तेज को रात और दिन का धर्म बताया गया है। इसी सन्दर्भ में ऋतु आदि को उनका गुण बताया गया है। संयोग और वियोग को क्रिया का धर्म और विफलता, सफलता तथा साधुत्व आदि का क्रिया कारक गुण कहा गया है। इसी तरह निवृत्ति एवं प्रवृत्ति को जाति का धर्म तथा धैर्य आदि को जाति का गुण कहा गया है। सहज एवं आहार्य रूप में शारदातनय ने इनका विवेचन किया है। इन्हें वाणी, मन तथा काया रूप से तीन प्रकारों का बताया गया है। शोभन, तथा अशोभन रूप में इनके पुनः दो भेद किये गये हैं। इस सन्दर्भ में धैर्यादि को सहज तथा अभ्यास से प्राप्त होने वालों को आहार्य कहा गया है। माधुर्य, निष्ठुरत्व आदि को वाचिक गुण बताया गया है और दूरत्व, शान्तिमत्व को मानसिक गुण कहा गया है। लावण्य एवं सौकुमार्यादि शारीरिक गुण कहे गये हैं। तीन गुणों की विशेषताओं के भेद से प्रकृति के भी तीन भेद कहे गये हैं। उनमें रहने वाली धार्मिकता के रूप में बाल्यादि अवस्थाओं को स्वीकार किया गया है। उन प्रकृतियों में अपने आप अत्याश्रित गुण

रहते हैं। द्रव्य में शोभा तथा अभिरूप्यता का गुण रूप में स्वीकार किया गया है। व्यक्त एवं अव्यक्त आदि को गुण में रहने वाला धर्म कहा गया है। वास्तव में जो वस्तु का शोभाकारक है वही गुण में गुण की तरह स्वीकार किया गया है। जो क्रिया का गुण-धर्म है वही कर्म में भी स्वीकार किया जाता है। कवियों ने जाति में भी उसी को धर्म कहा है। जाति के जो असहिष्णुता आदि आन्तरिक भेद हैं वे ही व्यक्तियों में व्याप्त रहने वाले गुण कहे जाते हैं।

इस सन्दर्भ में शारदातनय ने सामान्य और विशेष रूप में भी गुणधर्मों के दो भेद किये हैं। अपने आश्रय से अभिन्न रूप रहना ही सामान्य धर्म है। गुण, द्रव्य तथा घटनात्मक स्थितियों का ही नाम गुण है। मुग्धत्वादि में जो विशिष्टता रहती है उसे विशेष धर्म कहा जाता है। गुण को ही इनकी विनियोगार्हता के रूप में कल्पित किया गया है। शारदातनय का कहना है कि वाच्य, लक्ष्यादि वस्तुओं में जो गुण-धर्म कल्पित किये गये हैं उनसे काव्य-सम्पत्ति के लिये विशेष अर्थों का ग्रहण करना चाहिये। इस सन्दर्भ में विद्वान् आचार्य ने वर्ण से, एकपद से, दो पदों अथवा दो से अधिक पदों से, वाक्य से तथा वाक्यार्थ से भी अर्थ के छः रूपों का प्रतिपादन किया है। उचित रूप में विवक्षित अर्थ का बोध कराने में कभी तो कारक, कभी अभिधा-वृत्ति तथा कहीं-कहीं तद्धित, समास, सर्वनाम, प्रकृति-प्रत्यय, धातु, काकु तथा उपसर्ग एवं अलंकार रस आदि से भी वाच्य को लक्ष्य की स्थिति तथा लक्ष्य का वाच्य की स्थिति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार पारस्परिक आदान-प्रदान एवं पारस्परिक व्यतिक्रम का रूप भी दृष्टिगोचर होता है। ये समस्त स्थितियाँ तात्पर्य का बोध कराने में सहायक होती हैं। शारदातनय ने इस प्रसंग में वाक्यार्थ-रूप में उपलब्ध होने वाले तात्पर्य के ही पर्याय विवक्षित, अभिप्राय, फल, भाव, प्रयोजन आदि को बताया है। प्रयोजन की चर्चा करते हुए आपका कहना है कि कारकादि के साथ प्रयोग किया गया अभीष्टार्थ जिस अर्थ बोध का साधन होता है उसी को प्रयोजन कहते हैं। बुद्धि में स्थित जो अभीष्टार्थ वक्ता के वाक्य से बोधगम्य होता है। उसे 'विवक्षित' कहा गया है। दर्पणादि में जिस प्रकार मुखादि झलक उठते हैं उसी प्रकार वाक्य से विवक्षित अर्थ का परिज्ञान होता है। अभिप्राय की चर्चा करते हुए इन्होंने अभिप्राय का भी परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। इनका कहना है कि जिस अर्थ के सामने रहने से पद का अर्थ विशेष रूप से ज्ञात होने लगता है उसे 'अभिप्राय' कहते हैं। अर्थ के उत्कर्ष को शारदातनय ने अभिप्राय के 'प्रायः' पद से व्यक्त होने वाला बताया है। उपकार्य अर्थ ही होता है और पदार्थ उसके उपकारक होते हैं। इस सन्दर्भ में उपकार्य अर्थ को ही प्रधान बताया है। इसी तरह फल, भाव तात्पर्यादि का भी विवेचन किया गया है।

प्रभाकर और भट्ट का मत

शारदातनय ने प्रभाकर के विचारों का उल्लेख करते हुए पदार्थ को ही वाक्यार्थ रूप में स्पष्ट करने की चेष्टा की है, किन्तु भट्ट के विचारानुसार पदार्थों का पारस्परिक सम्पर्क ही वाक्यार्थ माना गया है। इस प्रकार प्रभाकर एवं भट्ट के नामों का उल्लेख करते हुए विद्वान् आचार्य ने क्रमशः पदार्थों के पारस्परिक सम्पर्क की स्थिति तथा पदार्थ को ही वाक्यार्थ बताया है। इस सम्बन्ध में अर्थाभिव्यक्ति की प्रधान एवम् अप्रधान अवस्थाओं का भी विवेचन किया गया है। जहाँ कहीं अलंकार आदि प्रधान स्थिति में रहते हैं वहाँ वे ही वाक्यार्थ कहलाते हैं।

द्वितीय मत विषयक उपर्युक्त विवेचन के प्रसंग में शारदातनय ने अभिनव-गुप्त-पादाचार्य को इस मत का आधार बताया है[1]। विद्वान् आचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि उपर्युक्त विवेचन अभिनवगुप्त की ही मान्यताओं पर प्रतिष्ठित है।

तृतीयमत

शब्दार्थ-सम्बन्ध के विवेचन क्रम में शारदातनय ने उपर्युक्त दोनों मतों के आधार पर सम्बन्ध भेदों का पृथक्-पृथक् निरूपण करने के अनन्तर तद्विषयक तृतीयमत के आधार पर भी सम्बन्ध भेदों का वर्णन किया है। यद्यपि इस मत के वर्णन प्रसंग में किसी आचार्य का नाम लिये विना ही 'कैश्चित्' पद का व्यवहार किया गया है जो सूचित करता है कि शारदातनय उपर्युक्त मतविषयक विचारों से सहमत नहीं है। विवेचन क्रम के अनुसार यहाँ 'कैश्चित्' पद का प्रयोग आचार्य मम्मट आदि के लिये किया गया प्रतीत होता है, क्योंकि इस मत की विवेचना-पद्धति तथा वर्ण्य विशेष के निरूपण में काव्यप्रकाश की विवेचनाओं से पूर्ण साम्य की स्थिति दृष्टिगोचर होती है।

अभिधा-निरूपण

तृतीयमत के अनुसार शब्द के वाचक, लाक्षणिक तथा व्यञ्जक तीन भेद किये गये हैं तथा इनके अर्थ को क्रमशः वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य कहा गया है और उनकी प्रवृत्तियों को क्रमशः—१. अभिधा, २. लक्षणा, ३. व्यञ्जना कहा गया है। वाचक शब्द का विवेचन करते हुए शारदातनय का कहना है कि जिस शब्द में प्रसिद्धार्थ के बोध का स्पष्ट संकेत विद्यमान रहता है वही शब्द उस अर्थ का वाचक कहा जाता है। किसी वाचक शब्द में अर्थ का संकेत चार रूपों में पाया जाता है जिसे शारदातनय ने क्रमशः—१. जाति, २. क्रिया, ३. गुण तथा ४. द्रव्य

---

१. भट्टाभिनवगुप्तपादैरेवं प्रदर्शितम्।

भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १६१, पं० १०।

बताया है[1]। कुछ लोगों का कहना है कि इनमें एक ही जाति चार रूपों में विभक्त रहती है। प्रत्येक का पृथक्-पृथक् उदाहरण देते हुए यह बताया गया है कि 'गौः पद में शब्द की प्रवृत्ति का जाति रूप विद्यमान है। इसी तरह 'गच्छति' पद में प्रवृत्ति का क्रियात्मक रूप है। 'शुक्ल' शब्द की संकेत-परक प्रवृत्ति गुण-मूलक तथा 'डित्थादि' संज्ञा शब्द की प्रवृत्ति द्रव्यमूलक है। जाति-रूप संकेत पर विचार करते हुए विद्वान् आचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का अर्थ एवं व्यापार-परक सम्बन्ध व्यक्ति से ही रहता है, अर्थात् व्यक्तिविशेष ही किसी कार्य विशेष के सम्पादन में प्रवृत्त होता है। अतः वृत्ति का सम्बन्ध व्यक्ति से ही माना जा सकता है। इतना होते हुए भी व्यक्ति असंख्य हैं अतः प्रत्येक के साथ संकेत ग्रहण तथा निर्देश असम्भव है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिमूलक संकेतों में व्यभिचार की भी पूर्ण सम्भावना रहती है। अतः जाति को ही संकेत का आधार माना जा सकता है। इस विषय में अपनी मान्यताओं को उपस्थित करते हुए शारदातनय ने उपाधि में ही शब्द के स्वाभाविक संकेत को स्वीकार किया है। इस सन्दर्भ में इन्होंने उपाधि को वस्तुधर्म कहा है और सिद्ध तथा साध्य रूप में उसके दो भेदों का उल्लेख किया है। उपाधि का सिद्ध-रूप ही 'जाति' कहा जाता है। शारदातनय ने इस विषय में भर्तृहरि कृत वाक्यपदीय का उल्लेख किया है और शब्दशास्त्र के प्रामाणिक सिद्धान्त के आधार पर उपाधि के सिद्ध-रूप को जाति स्वीकार किया है। वास्तव में स्वरूपतः 'गौः' को गो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वरूप की भौतिक स्थिति नश्वर होती है और 'गौ' पद में विद्यमान संकेत का उपाधि-रूप नश्वर होता क्योंकि एक 'गौः' के विनष्ट होने पर भी समस्त गौ-रूपों का विनाश नहीं हो जाता। इसलिये किसी गो रूप में 'गौः' पद का संकेत स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी तरह 'गौः' पद को गो रूप से भिन्न भी नहीं जा सकता, क्योंकि गो रूप उसे भी व्यक्त करता है। ऐसी दशा में 'गौः' पद में विद्यमान गोत्वजाति को ही समस्त गो रूपों से सम्बद्ध माना गया है।

गुण नामक संकेतोपाधि की चर्चा करते हुए 'शुक्ल' पद का उदाहरण उपस्थित किया है। 'शुक्ल' एक गुण-परक विशेषता बोधक पद है जो अपने प्रसिद्धार्थ रूप में किसी वस्तु के शुक्ल गुण को व्यक्त करता है। वस्तु धर्म को व्यक्त करने से ही इसे गुणोपाधि कहा गया है। शब्द-शास्त्रीय वाक्यावली के अनुसार विशेषण, जातीय समस्त पद गुणोपाधि रूप संकेत से ही युक्त माने जा सकते हैं। क्रियोपाधि संकेत के सम्बन्ध में 'गच्छति' पद का उदाहरण उपस्थित किया गया है।

---

१. जातिक्रियागुणद्रव्यभेदात् सङ्केतितः पुनः।
भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १६० पं० २०।

शारदातनय ने इस वर्ग के पदों में पूर्वापरीभूतावयत्र की स्थिति बतायी है और इसे उपाधि का साध्य रूप स्वीकार किया है। वस्तुतः क्रियोपाधि संकेत रूप 'गच्छति' आदि पदों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। इस जाति के पदों का प्रथम वर्ग सामान्य जातीय क्रियापद कहा जा सकता है। इसके विपरीत दूसरे वर्ग को विशेष जातीय क्रिया पद कह सकते हैं। सत्ता-बोधक 'अस्ति' एवं 'भवति' तथा कार्य सम्पादन द्योतक 'करोति' पद ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध व्यापार सम्पादन की प्रत्येक क्रिया में विद्यमान रहता है। कोई भी ऐसा व्यापार एवं कार्य नहीं रहता जिसमें सत्ता व्यापार विशेष का किसी न किसी रूप में भाव विद्यमान न रहता हो। इन स्थितियों में 'करोति' पद किसी व्यापार विशेष के लिये नहीं, अपितु व्यापार सामान्य के लिये ही प्रयुक्त होता है। यही स्थिति 'अस्ति' एवं 'भवति' पदों की भी होती है जो सत्ता सामान्य का बोध कराते हैं। इस वर्ग के सामान्य जातीय क्रिया पदों से सर्वथा पृथक् उन विशेष जातीय क्रिया पदों की स्थिति पायी जाती है जो विशेष भावबोधक होते हैं। 'गच्छति' एवं 'पचति' आदि पदों की स्थितियाँ विशेष जातीय व्यापार को ही व्यक्त करती हैं। शारदातनय ने 'गच्छति' पद को उदाहृत करते हुए विशेष जातीय क्रिया पद को ही क्रियोपाधि युक्त बताया है। इस वर्ग के क्रिया पदों में व्यापार सम्पादन का रूप पूर्वापरभाव युक्त रहता है, क्योंकि जिस बिन्दु से कार्य व्यापार प्रारम्भ किया जाता है उसके बाद समाप्ति तक पहुँचने के पहले अनेक अवस्थाएँ संगठित होती है। इनमें पूर्वापर की भिन्नकाल-बोधक अवस्थाएँ विद्यमान रहती हैं। इसीलिये शारदातनय ने क्रियोपाधि युक्त संकेतमय पदों में पूर्वापरीभूतावयव का संकेत किया है।

द्रव्य नामक संकेतोपाधि की चर्चा करते हुए शारदातनय ने 'डित्थ' पद का उदाहरण दिया है। यह पद व्यक्तिवाचक संज्ञा पदों का प्रतिनिधित्व करता है। इस वर्ग के प्रत्येक पद में अर्थ-संकेत उन व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर रहता है जो किसी व्यक्ति अथवा वस्तु का नामकरण करते हैं। इसीलिये इस वर्ग के पदों को यदृच्छा-मूलक भी कहा जा सकता है। इसे शारदातनय ने द्रव्योपाधि संकेत युक्त कहा है। महाभाष्यकार पतञ्जलि का उल्लेख करते हुए 'शुक्लश्चलो गौडित्थः' रूप पद-समूह में चार प्रकार की इन्हीं प्रवृत्तियों का संकेत किया है। गुण के विषय में अणुत्वादि के गुणत्व को कणाद आदि के मतानुसार पारिभाषिक रूप में ही कल्पित बताया गया है। शारदातनय ने तत्त्वतः जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य-रूपों में अभिन्नता स्वीकार की है। अतः सभी में एकरूपता पायी जाती है। इस एकरूपता का आधार भिन्न-भिन्न बाह्य रूपों में अभिन्न भाव से विद्यमान रहने वाली जाति को ही माना जा सकता है। मूलतः जातिगत इस एकरूपता के पश्चात् भी जो बाह्य भेद दृष्टिगोचर होता है वह आश्रय के बाह्य रूपों की भिन्नता के कारण ही रहता

है। 'शुक्ल' में शुक्लत्व जाति की स्थिति पर विचार करते हुए गुणोपाधि संकेत युक्त पदों की जातिगत एकरूपता को भी शारदातनय ने स्पष्ट किया है। इस सन्दर्भ में आपका कहना है कि जैसे एक ही मुख, दर्पण, जल, तैल आदि में भिन्न-भिन्न स्थितियों के बीच प्रकट दिखायी देता है उसी तरह एक ही गुण आश्रय भेद से भिन्नता प्रकट करता है। यद्यपि इस भिन्नता में भी पारमार्थिक अभिन्नता विद्यमान रहती है। 'डित्थ' आदि संज्ञा-पदों में जातिपरक अभिन्नता की स्थिति को बाल-वृद्ध-युवादि अवस्था भेदों में भी एक ही व्यक्ति के अस्तित्व बोध को बाह्य भेद के बीच की एकरूपतापरक जातीय स्थिति का रूप कहा जा सकता है। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए सम्पूर्ण शब्दों की प्रवृत्ति का निमित्त जाति को ही बताया गया है और व्यक्ति को प्रवृत्ति-निमित्तक नहीं माना गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी शब्दों का मुख्यार्थ जाति रूप ही होता है। उसमें शब्द का जो मुख्य व्यापार रहता उसे शारदातनय ने अभिधा कहा है[1]। मुख्यार्थ में शब्द की अभिधा वृत्ति रहती है। यद्यपि वह जाति को व्यक्त करती है, किन्तु व्यापार सम्पादन की स्थिति व्यक्ति में ही पायी जाती है। इसलिये अभिधा द्वारा व्यक्त किये गये अर्थ का सन्निवेश एवं सन्नियोजन व्यक्ति परक ही होता है[2]।

लक्षणा निरूपण

अभिधा नामक वृत्ति के अनन्तर शारदातनय ने काव्यप्रकाश (मम्मट) को आधार रूप में ग्रहण करते हुए लक्षणा वृत्ति पर प्रकाश डाला है। इनके अनुसार लक्षणा में शब्द का दूसरा व्यापार दिखायी देता है। लक्षणावृत्ति का परिचयात्मक विवरण उपस्थित करते हुए शारदातनय का कहना है कि मुख्यार्थ के बाधित रहने पर उसी के योग में रूढ़ि अथवा प्रयोजनवश जो अन्य अर्थ लक्षित होता है उसमें लक्षणावृत्ति मानी जाती है[3]। लक्षणावृत्ति में व्यापार आरोपित रहता है। अपनी मान्यताओं के समर्थन में शारदातनय ने प्रस्तुत विषय का सोदाहरण विवेचन भी किया है। इस सन्दर्भ में 'कर्मणि कुशलः' पद को उदाहृत किया गया है। यहाँ

---

१. अतः सर्वस्य शब्दस्य मुख्योऽर्थो जातिरेव सा।
व्यापारस्तत्र शब्दस्य मुख्यो यः साऽभिधा भवेत्॥
भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १६२ पं० २१-२२।

२. शब्दस्य मुख्येऽर्थे वृत्तिस्तत्तद्व्यक्तिष्ववस्यति।
भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १६३ पं० १।

३. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया॥
भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १६३ पं० ३-४।

'कुशल:' आदि अर्थ के बाधित रहने से रूढ़िवश, शब्द द्वारा कार्य में प्रवीणता का अर्थ प्रकट किया गया है। प्रयोजनवश मुख्यार्थ के बाधित रहने पर उसी के योग में अन्यार्थ को लक्षित करने का उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' दिया गया है। गङ्गा में घोष अर्थ की स्थिति बाधित है। इसलिये 'गङ्गा' पद की गङ्गा-तीर में लक्षणा मानी जाती है। जहाँ 'गङ्गातटे घोषः' पद का व्यवहार होता है वहाँ मुख्यार्थ बाधित नहीं होता, किन्तु उसके योग से प्रयोजनवश एक गौण अर्थ भी लक्षित होता है जो पावनत्व आदि रूपों में बोधगम्य होता है। शारदातनय का कहना है कि जहाँ शब्द-व्यापार आरोपित रहता है और वह अर्थान्तर को व्यक्त करता है वहाँ लक्षणा का शुद्ध रूप दिखायी देता है। अर्थ के प्रभाव से शुद्धा-लक्षणा के भी दो भेद किये गये हैं—प्रथम उपादान-लक्षणा तथा द्वितीय लक्षण-लक्षणा। जहाँ क्रिया आरोपित रहती है वहाँ उपादान-लक्षणा मानी जाती है। इस सन्दर्भ में शारदातनय ने 'कुन्तः प्रविशति' का उदाहरण उपस्थित किया है। मुख्यार्थ रूप में यहाँ कुन्त के प्रवेश का अर्थ प्रकट होता है, किन्तु प्रवेश क्रिया में जिस व्यापार की आवश्यकता होती है वह कुन्त में बाधित है, क्योंकि कुन्त में प्रवेश करने की योग्यता नहीं रहती। इसलिये कुन्त के प्रवेश को ध्यान में रखते हुए इस पद की स्व-संयोगी पुरुष में लक्षणा है। इस प्रकार कुन्त में प्रवेश क्रिया का आरोप किया गया है। इसीलिये यहाँ उपादान-लक्षणा मानी गयी है। शारदातनय ने 'गौरनुबन्ध्यः, अकारि, कारय, कुरु, क्रियताम्' इत्यादि प्रयोगों में तत् तत् कारणों का युक्तिसंगत विवेचन करते हुए यहाँ उपादान-लक्षणा की स्थिति का प्रतिवाद किया है, क्योंकि इनमें अन्यथा अनुपपत्तिवश तत् तत् अर्थों के स्वरूप की प्राप्ति होती है। इस सन्दर्भ में शारदातनय का कहना है कि क्रिया और कर्ता आदि की कल्पना अर्थापत्ति के अधीन रहती है। जहाँ अर्थ का सामर्थ्य दिखलायी देता है वहाँ अर्थापत्ति कही जाती है। अर्थ के साथ श्रुत का संयोग रहने से श्रुतार्थापत्ति मानी जाती है। विद्वान् आचार्य ने दिन में भोजन न करने वाले देवदत्त के पीनत्व को ध्यान में रखते हुए उसके रात्रि-कालीन भोजन की कल्पना में अर्थापत्ति का रूप स्वीकार किया है। इस प्रकार यहाँ अर्थापत्ति अथवा श्रुतार्थापत्ति स्वीकार की जाय, किन्तु 'गौरनुबन्ध्यः' में केवल श्रुतार्थापत्ति को ही ग्रहण किया है।

लक्षणा भेद

शारदातनय के प्रस्तुत विवेचन क्रम को ध्यान में रखते हुए लक्षणा के भेदोपभेदों को निम्नलिखित रूपों में उपस्थित किया जा सकता है। मूलतः लक्षणा के दो भेद होते हैं—

१. रूढ़ि लक्षणा, २. प्रयोजनवती लक्षणा। लक्षणा के इन दोनों भेदों को इन्होंने पुनः दो-दो उपभेदों में विभक्त किया है—१. उपादान-लक्षणा, २. लक्षण-

लक्षणा। ये दोनों उपभेद भी पुनः पृथक्-पृथक् दो वर्गों में विभक्त किये गये हैं—१. सारोपा, २. साध्यवसाना। पुनः इन दोनों उपभेदों के भी अलग-अलग दो-दो उपभेद किये गये हैं—१. गौणी, २. शुद्धा।

शारदातनय ने लक्षणा के इन भेदोपभेदों का विवेचन करते हुए रूढ़ि, प्रयोजवती और उपादान-लक्षणा की जिस रूप में चर्चा की है उसका वर्णन ऊपर के प्रसंगों में किया जा चुका है। 'गङ्गायां घोषः' पद को लक्षण-लक्षणा के उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हुए शारदातनय का कहना है कि गङ्गा तट पर घोष के अधिकरण की सिद्धि के लिये 'गङ्गा' पद अपने प्रवाह रूप मुख्यार्थ का परित्याग कर गङ्गा तट रूप लक्ष्यार्थ को व्यक्त कर रहा है। अभिव्यक्ति के इस स्वरूप में जहत्स्वार्था वृत्ति दिखलायी पड़ती है, क्योंकि यहाँ 'गङ्गा' पद ने अपने मुख्यार्थ का परित्याग कर तट रूप लक्ष्यार्थ को व्यक्त किया है। लक्षणा की ऐसी स्थितियों में ही लक्षण-लक्षणा का स्वरूप निश्चित किया गया है। इन्होंने सारोपा तथा साध्यावसाना के दो रूप बताये हैं। सारोपा की चर्चा करते हुए इनका कहना है कि जहाँ आरोप्य एवं आरोप के विषय पारस्परिक समानाधिकरण रूप में निर्दिष्ट होते हैं वहाँ सारोपा-लक्षणा होती है। इसके विपरीत साध्यावसाना-लक्षणा की अभिव्यक्ति ऐसी स्थितियों में बतायी गयी है जहाँ आरोप का विषय पूर्णतया अन्तर्मुक्त हो जाता है। शारदातनय ने सारोपा तथा साध्यावसाना को सादृश्य-गर्भ बताया है। जहाँ आरोप्य तथा आरोप के विषय में समानाधिकरण्य की दशा बतायी गयी है वहाँ सारोपा नामक लक्षणा होती है जिसकी चर्चा पहले की गयी है। विद्वान् आचार्य ने यहाँ 'गौर्वाहीकः' पद को सारोपा लक्षणा के रूप में उद्धृत किया है तथा 'गौरयं' पद को साध्यावसाना-लक्षणा बताया है। उक्त उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि सारोपा लक्षणा में आरोप्य तथा आरोप के विषय दोनों ही प्रकट रहते हैं, किन्तु साध्यावसाना लक्षणा में आरोप का विषय आरोप्य द्वारा आत्मसात् कर लिया जाता है। उपर्युक्त उदाहरणों में 'गौर्वाहीकः' पद के अर्थ से यह प्रकट है कि 'गौः' तथा 'वाहीक' दोनों में जाड्य-मान्द्यादि गुणों की सादृश्यमूलक अवस्था समान रूप में स्पष्ट है। जहाँ एक ने दूसरे के अर्थ को आत्मसात् नहीं किया है। इसके विपरीत 'गौरयं' पद को देखने से यह स्पष्ट विदित होता है कि 'गौः' पद के अर्थ ने वाहीक को पूर्णतया आत्मसात् कर लिया है।

शारदातनय ने 'गौर्वाहीकः' पद की अर्थ–प्रकृति के आधार पर अनेक विचार व्यक्त किये हैं। इनका कहना है कि 'गौः' शब्द अपने प्रसिद्धार्थ से सम्बद्ध जड़ता, मन्दता आदि गुणों को 'वाहीक' के गुणों की अभिव्यक्ति में निमित्त-कारण के समान सहयोगी बना लेता है। अर्थात् 'वाहीक' के गुणों की अभिव्यक्ति 'गौः' पदार्थ को

प्रस्तुत करते हुए शारदातनय का कथन है कि गो पद के अर्थ से जिन जाड्य आदि गुणों का बोध होता है उनका वाहीक पद के अर्थ में विद्यमान रहने वाले जाड्यादि गुणों के साथ अभेदभाव रहता है। इस प्रकार गुणात्मक अभेद-भाव के कारण वाहीक के जाड्यादि गुणों की अभिव्यक्ति हो जाती है। इस सम्बन्ध में एक यह भी दृष्टिकोण व्यक्त किया गया है कि गो पद का अर्थ वाहीक पद के अर्थ की विशेषताओं को ही नहीं व्यक्त करता, अपितु अपने अर्थ में विद्यमान रहने वाले जाड्यादि गुणों को वाहीक में भी सूचित करता है। एक अन्य दृष्टिकोण यह भी उपस्थित किया गया है कि दोनों में सामान्य भाव से विद्यमान रहने वाले जाड्यादि गुणों के आधार पर गो पद के प्रसिद्धार्थ से वाहीक के गुण भी लक्षित होते हैं। इस प्रकार सारोपा तथा साध्यवसाना नामक लक्षणा वृत्तियों के सहारे मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ के बीच विद्यमान रहने वाले विविध सम्बन्धों तथा उनकी अर्थ-प्रकृतियों की पारस्परिक स्थितियों का विश्लेषण किया गया है।

'मञ्चाः क्रोशन्ति' में मञ्च पद द्वारा मर्त्त्य के अर्थ का बोध आक्षेप के कारण मानते हुए यह विचार व्यक्त किया गया है कि ऐसे स्थलों पर लक्षणा नहीं होती। इसी प्रकार 'आयुर्घृतम्' पद से भी कार्य-कारण भाव ही सूचित होता हैं। आयु एवं घृत के अर्थ में लोक प्रसिद्ध भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। ऐसा होने पर भी यदि दोनों में तादरूप्य दिखलायी देता है तो उसे प्रयोजनवती लक्षणा के आधार पर स्वीकार किया जाता है। कहीं-कहीं तादर्थ्य से भी लक्षणा की स्थिति प्रकट होती है जो इन्द्र के लिये रखे गये स्थूण के प्रति व्यक्त किये जाने वाले 'इन्द्रोऽयं' पद में विद्यमान है। कहीं स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध से भी लक्षणा होती है जिसे 'राजकीयः सः पुरुषः' में देखा जा सकता है। कहीं-कहीं अवयावयवि-भाव से भी लक्षणा की स्थिति प्रकट होती है—जैसे हस्त कहने से कराग्रमात्र का बोध होता है, पूरे कर का नहीं। शारदातनय ने इस सन्दर्भ में कहीं कहीं तात्कर्म्य से भी लक्षणा की स्थिति को व्यक्त किया है। इसके अनुसार 'स (अ) क्ष० तक्षात' इत्यादि में तात्कर्म्य से ही लक्षणा मानी गयी है। इस प्रकार लक्षणा के छः भेद बताये गये हैं।

शारदातनय ने लक्षणा में गौण-वृत्ति का विरोध किया है। इस सम्बन्ध में गौण-वृत्ति को स्पष्ट करने के लिये 'अग्निर्माणवकः' पद को उद्धृत किया गया है। 'माणवक' में अग्नि पद का मुख्यार्थ बाधित है। इसलिये यह स्वयं ही माणवक के पिंगलत्वादि गुणों की अभिव्यक्ति में सक्षम है। शब्द और अर्थ के इस सम्बन्ध में कुछ लोगों ने गौणी वृत्ति स्वीकार की है। यह गौणी वृत्ति को कुछ लोग लक्षणावृत्ति में भी स्वीकार करते हैं। यहाँ शारदातनय का कहना है कि प्रयोजन रहने पर यह अर्थ व्यंग्य हो जाता है परन्तु रूढ़ि की स्थिति में यह व्यंग्यता सिद्ध नहीं हो सकती। प्रयोजनवश अभिधा एवं लक्षणा के आधार पर व्यंग्य सिद्ध होता है।

व्यञ्जना निरूपण

शारदातनय ने व्यञ्जना वृत्ति को अभिधा तथा लक्षणा पर आश्रित बताया है। वस्तुतः व्यंग्यार्थ की प्रतीति प्रयोजनवश ही ती है। इसके अभाव में व्यंग्यार्थ सिद्ध ही नहीं हो सकता[1]। व्यंग्य को इन्होंने अगूढ़ एवं गूढ़ नामक दो रूपों में विभक्त किया है। व्यंग्य के अगूढ़-रूप को वहाँ स्वीकार किया जाता है जहाँ व्यंग्यार्थ की अवस्था अभिधेयार्थ की तरह सर्वथा स्पष्ट रहती है। अर्थात् जहाँ शब्द को सुनते ही प्रसिद्धार्थ के समान व्यंग्यार्थ भी सर्व-साधारण के लिये बोधगम्य हो जाता है वहाँ व्यंग्य के अगूढ़ रूप की अवस्था स्वीकार की जाती है। इसके विपरीत यदि कोई अव्यक्त भाव अन्तर्निहित रहता है तो वहाँ व्यंग्य के गूढ़-रूप को माना जाता है[2]। इस विषय में शारदातनय का कहना है कि कुछ लोगों ने अगूढ़ एवं गूढ़ दोनों रूपों को एक ही बताया है। केवल विषय-बोध की अव्यक्तता एवं व्यक्तता के आधार पर अगूढ़ एवं गूढ़ नाम दिये गये हैं। लक्षणा-गर्भ व्यंग्यार्थ में व्यञ्जनात्मक अर्थात् व्यंजना मूलक व्यापार रहता है। इस प्रकार लक्षणा के ऐसे दो रूपों में दो स्थितियाँ पायी जाती हैं। कहीं तो गूढ़ार्थ व्यंग्य रहता है और कहीं व्यंग्य की यह स्थिति नहीं रहती। इस सम्बन्ध में लक्षणा के आधार पर बोधगम्य होने वाले व्यंग्यार्थ की भी चर्चा की गयी है। 'गङ्गायां घोषः' पद को उदाहरण रूप में उपस्थित करते हुए शारदातनय का कहना है कि यहाँ 'गङ्गा' पद से प्रवाह अर्थ के बदले 'तीर' अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। इस पद से पावनत्वादि धर्म मूलक अर्थ का संकेत नहीं किया जाता। इसलिये इस तरह के अर्थ की प्रतीति अभिधा से नहीं मानी जा सकती। इसी तरह 'गङ्गा' पद जब गङ्गा-तट के अर्थ को व्यक्त करता है तो मुख्यार्थ को बाधित भी नहीं कहा जा सकता। इसलिये 'गङ्गा' पद से होने वाली पावनत्वादि अर्थ की प्रतीति में लक्षणा भी नहीं मानी जा सकती। ऐसी दशा में लक्षणा-गर्भ व्यञ्जना वृत्ति को ग्रहण किये बिना पावनत्वादि अर्थ की प्रतीति हो ही नहीं सकती। शारदातनय ने शब्दार्थ के प्रस्तुत सन्दर्भ की चर्चा करते हुए परस्पर विरोधी अनेक पक्षों को उपस्थित किया है और प्रत्येक की आधारमूलक स्थितियों का युक्तिसंगत विवेचन भी किया है। कुछ लोगों का यह कहना है कि 'गङ्गा' पद से पावनत्वादि अर्थ की प्रतीति कराने में भी एक विशेष प्रकार की लक्षणा का ही सहयोग रहता है। उससे भिन्न कोई दूसरा भाव व्यञ्जित

---

१. प्रयोजनं विना क्वापि न व्यङ्ग्यं व्यज्यते स्फुटम्।

भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १६७ पं० २।

२. अनुस्यूता यदव्यक्ता प्रतीतिर्गूढमुच्यते।

भा० प्र०—षष्ठ० अधि० पृ० १६७ पं० ६।

नहीं होता, शारदातनय ने इस तर्क का भी दृढ़ता पूर्वक खण्डन किया है। आपकी मान्यता है कि प्रयोजन के साथ लक्षणीय अर्थ का योग नहीं रहता, क्योंकि प्रत्यक्षादि के प्रभाव से प्राप्त होने वाले ज्ञान का विषय कोई दूसरा रहता है, फल कोई दूसरा ही रहा करता है। ऐसी दशा में 'गङ्गा' पद से गङ्गातट अर्थ के लक्षित हो जाने पर पावनत्वादि जो अर्थ ज्ञात होते हैं उनमें अभिधा एवं लक्षणा से भिन्न व्यञ्जना व्यापार ही मानना पड़ेगा। ध्वनन एवं व्यञ्जन आदि पदों से उसी भाव को व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार के व्यंग्तार्थ में लक्षणामूला-व्यञ्जना मानी जाती है।

लक्षणामूला-व्यञ्जना की चर्चा के अनन्तर अभिधामूला-व्यञ्जना पर प्रकाश डाला गया है। शारदातनय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि विद्वानों द्वारा अभिधामूला व्यञ्जना के अनेक रूप बताये गये हैं। जहाँ कहीं अनेकार्थक शब्द का प्रयोग किया जाता है और संयोगादि के आधार पर उस शब्द के अन्य प्रसिद्धार्थों को नियन्त्रित करते हुए अभिधार्थ मात्र को व्यक्त किया जाता है, वहाँ अभिधामूला-व्यञ्जना का ही रूप विद्यमान रहता है। इस सन्दर्भ में शारदातनय ने अभीष्टार्थ के बोध में सहयोग देने वाले आवश्यक अंकों का भी विवेचन किया है। इन सहायक अंगों का स्वरूप इस प्रकार हैं—१. संयोग, २. विप्रयोग, ३. साहचर्य, ४. विरोधिता, ५. अर्थ, ६. प्रकरण, ७. लिंग, ८. शब्दसन्निधि, ९. सामर्थ्य, १०. औचिती, ११. देश १२. काल, १३. व्यक्ति, १४. स्वरादि[1]। इन सहायक अंगों का उल्लेख करते समय भी शारदातनय ने परम्परागत मान्यताओं का ही उल्लेख किया है और अपनी ओर से किसी भी नवीन अंग का वर्णन नहीं किया। यहाँ प्रत्येक अंग की गुणात्मक स्थिति का भी सोदाहरण विवेचन किया गया है। संयोग की चर्चा करते हुए शारदातनय ने सिंह आदि अनेक अर्थों का बोध कराने वाले 'हरि' शब्द का प्रयोग किया है। आपका कथन है कि 'हरि' शब्द यद्यपि अनेक अर्थों को व्यक्त करने वाला है, किन्तु जहाँ चक्र आदि का संयोग रहता वहाँ उस शब्द से केवल विष्णु अर्थ का ही बोध होता है। विरोध के उदाहरण रूप में 'रामार्जुन' पद का उल्लेख किया गया है। यहाँ राम और अर्जुन पद अपने-अपने विशेष अर्थों का परित्याग कर कार्तवीर्य-परशुराम के अर्थ को व्यक्त करता है। हरि शब्द से शक्रादि अर्थ की प्रतीति शंखादि के संयोग न रहने पर होती है। इसे विप्रयोग नामक सहायक अंग का फल कहा जा सकता है। साहचर्य का उदाहरण देते हुए 'राम-लक्ष्मण पद का प्रयोग किया गया है। इससे अपौरुषेय गौरव-विलयादि अर्थों की प्रतीति साहचर्य के प्रभाववश होती है।

---

१. संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः॥

भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १६९ पं० ११-१३।

इसी तरह के अर्थ उदाहरण रूप में 'भवच्छिदं भज स्थाणुं' का उल्लेख किया गया है। यहाँ अर्थ के प्रभाव से ही शंकर का भाव गृहीत हो पाता है। प्रकरण के उदाहरण रूप में 'सर्वं जानाति देवोऽयम् युष्मदर्थ, इति कहने पर प्रकरणवश सेवक द्वारा स्वामी अभीष्ट सम्पादन का भाव व्यक्त होने की चर्चा की गयी है। भृत्य द्वारा स्वामी के अभीष्टार्थ सम्पादन का जो भाव होता है वह प्रकरण के ही प्रभाव से ज्ञात होता है। लिंग की चर्चा करते हुए 'मकरध्वज' पद का उल्लेख किया गया है यहाँ लिंग पद से ही कामदेव के अर्थ की प्रतीति होती है।

शब्द सन्निधि के उदारहण रूप में 'देवःपुरजित्' ऐसा कहने पर देव शब्द की सन्निधि के प्रभावश 'पुरजित्' पद से शिव का अर्थ व्यक्त होता है। इसी प्रकार 'मधुमत्तः पिकः' कहने पर सामर्थ्यवश वसन्त का भाव व्यञ्जित होता है। औचिती के रूप में शारदातनय ने ' अत्र देवः भाति' पद का उदाहरण दिया है। यहाँ 'अत्र' पद से राजधानी अर्थ की प्रतीति होती है। इसी प्रकार 'मित्रं भाति' कहने से सुहृत् का अर्थ देश के प्रभाव से व्यक्त होता है। 'मित्रो भाति' कहने से काल के प्रभाववश सूर्य का अर्थ ज्ञात होता है। 'स्वाहा इन्द्रशत्रुः' पद से स्वर के प्रभाव द्वारा अर्थान्तर ध्वनि व्यक्त होती है।

शारदातनय ने प्रस्तुत प्रसंग में अपनी विश्लेषण प्रक्रिया द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि संयोगादियों की स्थितियों में जिन अर्थों की प्रतीति होती है उनका आधार अभिधा तथा लक्षणा-वृत्ति को नहीं माना जा सकता। यह व्यञ्जना द्वारा ही बोधगम्य होता है। अभिधा तथा लक्षणामूलकव्यञ्जना से होने वाली अर्थ की प्रतीति वस्तुतः शब्दों की विशेष प्रकृति पर ही आश्रित रहती है। इसलिये उपर्युक्त प्रसंगों में व्यंग्यार्थ के जिन जिन रूपों पर विचार किया गया है, उनमें अपनायी गयी व्यञ्जना-वृत्ति को शाब्दी-व्यञ्जना कहा जा सकता है।

शब्द की तरह अर्थ भी व्यञ्जक होते हैं। वाच्य, लक्ष्य एवं व्यंग्य रूप में जो अर्थ कहे जा चुके हैं, तद्वाचकों की तत् अर्थों में अर्थ-व्यञ्जकता रहती है। शारदातनय के विवेचन क्रमानुसार अर्थ-गर्भ व्यञ्जना वृत्ति के निम्न लिखित रूप कहे जा सकते हैं—

१. वक्तृवैशिष्ट्य, २. बोद्धव्य, ३. काकु, ४. वाक्य, ५. वाच्य, ६. अन्य-सन्निधि, ७. प्रस्ताव, ८. देश, ९. काल, १०. चेष्टा। वक्तृवैशिष्ट्य नामक आर्थी-व्यञ्जना का रूप ऐसी उक्तियों में दिखायी देता है जहाँ वक्ता किसी अनैतिकतापूर्ण प्रकट तथ्य के कारण रूप चिन्ह को छिपाने के लिये अपने किसी ऐसे व्यापार की चर्चा करता हो जिसमें नैतिकता ज्ञात होती है तथा नैतिकता के वास्तविक व्यापार पर पर्दा पड़ जाता हो। शारदातनय ने काव्यप्रकाश की विवेचना सरणि के ही

मूल-रूप को ग्रहण करते हुए उदाहरण उपस्थित किया है[1]। इस उदाहरण में किसी अनैतिक व्यापार में प्रवृत्त नायिका के सम्भोग जनित आङ्गिक दशाओं का उल्लेख किया गया है। श्रम, स्वेद, निःश्वास आदि ऐसे शारीरिक चिह्न हैं जो यह सूचित करते हैं कि नायिका सम्भोग में प्रवृत्त रही है। अपने इस अनाचार पूर्ण व्यापार को छिपाने के लिये नायिका जल से पूर्ण घट को जल्दी जल्दी लाने की ऐसी बात बताती है जिससे श्रम, स्वेद, निःश्वास आदि का कारण घटानयन विषयक शारीरिक श्रम का पता चले और वास्तविक तथ्य ज्ञात न हो सके। शारदातनय ने इस उक्ति में चौर्यरत स्पष्ट प्रयास को छिपाने की चेष्टा का भाव सूचित किया है। इस प्रसंग में 'तथाभूतां दृष्ट्वा' (वे० सं० १) इत्यादि पद्यांश को उद्धृत करते हुए काकुगर्भ आर्थी व्यञ्जना पर प्रकाश डाला गया है। विद्वान् आचार्य ने इस उदाहरण में गुणीभूत-व्यंग्य की स्थिति का इस आधार पर विरोध किया है कि गुणीभूतव्यंग्य में मात्र प्रश्न की ही स्थिति रहती है, किन्तु यहाँ प्रश्न की स्थिति नहीं है।

इसी प्रकार वाक्य के मध्य किसी विशेष पद का प्रभाव पूर्ण रूप में उपयोग करते हुए भी व्यंग्य को व्यक्त किया जाता है[2]। 'तइआ' इत्यादि उदाहरण में वाक्य-गत पद के ऐसे ही प्रयोग की स्थिति दिखलायी गयी है। यहाँ कान्ता द्वारा प्रिय में प्रच्छन्न कामित्व को व्यञ्जित किया गया है। 'मलयानिल'[3] इत्यादि उदाहरण में प्रस्तावगर्भ व्यंग्या के स्वरूप को व्यक्त किया गया है। वस्तुतः इस उदाहरण में उन समस्त उद्दीपक एवं रतिभाव पोषक स्थितियों की चर्चा विद्यमान है जो रति-भाव की पूर्णता में अपेक्षित रहती हैं। इससे सुरत के प्रस्ताव का रूप माना जा सकता है। 'णोल्लेइ'[4] इत्यादि में कालव्यंग्या का रूप व्यक्त किया गया है। शारदातनय के अनु-

---

१. अइपिहुलं जलकुंभं घेत्तूण समागदह्मि तुरिअम्।
समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमापि खणं॥
भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १७१ पं० ५-६।

२. तइआ मह गंडत्थलणिमिअं दिट्ठिं ण णेसि अण्णत्तो।
एण्हिं सच्चेअ अहं ते अ कवोला ण सा दिट्ठी॥
भा० प्र०—षष्ठ० अधि० पृ० १७१ पं० १३-१४।

३. मलयानिलसम्फुल्लकुसुमामोदमेदुरम्।
आरामं पश्य सुमुखि मनोभवनिकेतनम्॥
भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १७१ पं० १६-१७।

४. णोल्लेइ अणदमणा अत्ता मं घरभरम्मि स अलम्मि।
खणमेत्तं जइ संज्झाए होइ ण व होइ वीसामो॥
भा० प्र० षष्ठ अधि० पृ० १७१ पं० १९-२०।

सार यहाँ सन्ध्या रूपी काल संकेत व्यञ्जित होता है। 'सुव्वइ'[1] इत्यादि पद में उप-पति के पास प्रस्थान करने के लिये प्रस्तुत हुई नायिका को प्रस्थान करने से रोकने का भाव व्यञ्जित होता है। इसी प्रकार 'निमील्य'[2] इत्यादि पद में चेष्टागर्भ व्यंग्य भाव स्पष्ट दिखायी देता है। इस प्रकार शारदातनय ने काव्यप्रकाश के आधार पर आर्थी व्यञ्जना के कतिपय रूपों का सोदाहरण विवेचन किया है। यद्यपि विवेचन की इस पद्धति को देखते हुए ऐसे प्रसंगों में शारदातनय की किसी मौलिक स्थिति का पता नहीं चलता, किन्तु उनके संकलनात्मक प्रयास की व्यापक दृष्टि का संकेत अवश्य प्राप्त होता है। कहीं-कहीं वक्ता आदि के एकाधिक रूप एक साथ जुटकर भी भावाभिव्यक्ति में सहायता पहुँचाते हैं जहाँ अर्थ से व्यंग्य भाव बोधगम्य होता है वहाँ भी शब्द अपने प्रामाणिक रूप में अर्थ की अभिव्यक्ति को सहयोग प्रदान करते हैं। स्मरणीय है कि आर्थी-व्यञ्जना के प्रस्तुत प्रसंग में शारदातनय ने वक्तृवैशिष्ट्य को अन्यार्थबोध के विचार से व्यवहार में लाये गये शब्दों के प्रयोग का रूप बतलाया है। इस सन्दर्भ में बोद्धव्य को प्रतिपाद्य तथा काकु को ध्वनि की विकृति एवं प्रस्ताव को प्रकरण तथा अर्थ को वाच्य, लक्ष्य एवं व्यंग्य रूप में ग्रहण किया गया है। आदि पद से आकार बोधक संकेतमयी चेष्टा का रूप ग्रहण किया गया है। अर्थ के अनुरूप वाच्य, लक्ष और व्यंग्य की स्थितियों को उदाहरणों के माध्यम से भी स्पष्ट किया गया है। अर्थ की स्थिति शब्द के भाव पर आश्रित रहती है। इसी को ध्यान में रखते हुए शब्दार्थ का निर्धारण किया जाता है और तदुपरान्त हो गुण, दोष, रस, अलंकार का विचार किया जाता है। शारदातनय ने काव्य-रचना में इन विषयों का परिज्ञान आवश्यक बताया है। काव्य में उपलब्ध होने वाले भाव-बोध को विभिन्न स्थितियों का भी सांगोपांग विवेचन किया गया है। इस प्रसंग में अविवक्षितवाच्य, अर्थान्तर-संक्रमित, अत्यन्ततिरस्कृत-लक्षणा-मूला-गूढ़व्यंग्या आदि का सोदाहरण परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस सम्बन्ध में रस को अलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य कहा गया है। जहाँ वाक्यार्थ के प्रधान रहने से रस भी उसी का अंग हो जाता है वहाँ गुणीभूत-व्यंग्य माना गया है। जहाँ वाच्य से व्यंग्यार्थ का विशेष महत्त्व होता है वहाँ काव्य को ध्वनि कहा जाता है। इसी तरह स्फोट रूप शब्द जहाँ प्रधान स्थिति में रहते हुए अर्थ का व्यञ्जक दिखलायी देता है वहाँ स्फोटात्मक-शब्द के लिये ही ध्वनि पद का प्रयोग किया जाता है। शब्द और अर्थ दोनों मिलकर जहाँ व्यंग्यार्थ को प्रकट

---

१. सुव्वइ समागमिस्सइ तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण।
एमेअ किंत्ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जं॥

भा प्र० षष्ठ अधि० पृ० १७१ पं० २२-२३।

२. भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १७२ पं० २-३।

करते हैं वहाँ भी ध्वनि की स्थिति स्वीकार की जाती है। इस सम्बन्ध में ध्वनि को उत्तम काव्य तथा वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ के महत्त्वपूर्ण न रहने पर मध्यम काव्य और इसी तरह जहाँ शब्द और अर्थ में चमत्कृति रहने पर भी अर्थ-व्यंग्य नहीं रहता उसे अधम काव्य कहा जाता है।

ध्वनि को अनुरणन रूप में ग्रहण करते हुए शारदातनय ने शब्द की अनुरणनात्मक स्थिति में उसे शब्दशक्तिमूला तथा अर्थ की अनुरणनात्मक स्थिति में उसे अर्थशक्तिमूला एवं दोनों की अनुरणनात्मक स्थिति में उसे शब्दार्थ-शक्तिमूला कहा है। इन विविध स्थितियों का उल्लेख करते हुए इन्होंने गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेदों का उल्लेख किया है और स्पष्ट कर दिया है कि इनके उदाहरण काव्य-बन्धों में उपलब्ध होते हैं। विवेचना क्रम द्वारा उपस्थित किये गये अर्थों से भिन्न तात्पर्य नामक अर्थ को ही शारदातनय ने वाक्यार्थ बताया है। जहाँ किसी पद से ही अर्थ प्रकट होता है, वहाँ पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है। वाक्य में पदार्थों का पारस्परिक अन्वय रहने पर समन्वित अर्थ ही वाक्यार्थ माना जाता है। ऐसी दशा में कुछ लोगों का कहना है कि पदार्थ एवं वाक्यार्थ से भिन्न तात्पर्य नामक अर्थ की कोई पृथक् सत्ता नहीं रह जाती। शारदातनय ने तात्पर्यार्थ को श्रोता तथा वक्ता के आनन्द का कारण बताया है[1]। शब्द को सुनकर अर्थ को ग्रहण करने में तात्पर्य को श्रोतृत्व तथा शब्द-शक्ति के आधार पर व्यंग्यादि अर्थ के विवेचन में उसे वक्तृत्व कहा गया है। शारदातनय ने कवि के विवक्षितार्थ को ही तात्पर्य कहा है। अपने विवेचन के प्रस्तुत रूप को आपने 'कल्पलता' तथा 'काव्यप्रकाश' के आधार पर माना है। शब्द एवं अर्थ दोनों के ही रूपों से दोष गुण एवं अलंकार तथा कहीं-कहीं तदनुरूप रस को ही योग्यता के रूप में ग्रहण किया गया है। इस प्रसंग में आक्षेप समाधान आदि का भी परिचय दिया गया है।

शारदातनय का कहना है कि वर्ण तो स्वतः शुद्ध रहता है, उसमें दोष या गुण की चर्चा ही नहीं उठती। वह अमूर्त्त-रसादि का आश्रय कैसे हो सकता है? इतना ही नहीं वर्ण की स्थिति ध्वन्यात्मक रूप में सर्वव्यापक होती है। अतः उसका किसी विशेष प्रसंग में रहना अथवा न रहना भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार अलंकार्य का निश्चय हुए बिना अलंकार की स्थिति भी नहीं मानी जा सकती। दोषादि के सन्दर्भ में वर्ण, पद तथा वाक्य की स्थितियों का भी सापेक्ष निरूपण किया गया है। शारदातनय ने इस सन्दर्भ में भावाभिव्यक्ति की विशेष स्थिति को ध्यान में रखते हुए वर्ण, पद एवं वाक्य की स्थितियों पर विचार किया है। यदि

---

१. तात्पर्यार्थो भवेच्छ्रोतुः विवेक्तुः प्रीतिकारकः।

भा० प्र०—षष्ठ अधि० पृ० १७५ पं० १०।

गुण-दोषादि की स्थिति को पद परक माना जाय तो पद के ही स्वरूप का निर्धारण करना सर्वप्रथम आवश्यक होगा। एक, दो अथवा अनेक वर्णों को यदि पद कहें तो यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से युक्त होगा, क्योंकि कहीं तो एक वर्ण को ही अर्थाभिव्यक्ति की इकाई के रूप में ग्रहण किया जाता है और कहीं दो अथवा दो से अधिक वर्ण परस्पर संयुक्त रूप में ही अर्थ को व्यक्त कर पाते हैं। इसलिये पद को यदि वर्णों की संख्या के आधार पर समझने की चेष्टा की जाये तो विभिन्न स्थितियों में संख्या भेद के कारण उसके किसी एक रूप का निर्धारण नहीं हो सकता। उसे अनेकवर्णात्मक कहने पर अव्याप्ति तथा एक वर्णात्मक कहने पर अतिव्याप्ति की दशा होती है। यदि सुबन्त और तिङन्त को पद कहा जाय तो सुबन्त रूप में पद का अलग रूप तथा तिङन्त में उसका अलग रूप भले ही दिखलायी दे, किन्तु सुबन्त एवं तिङन्त के संयुक्त रूप में पद का कोई उभयनिष्ठ रूप उपलब्ध नहीं हो सकता। इसलिये सुबन्त-तिङन्त रूप पद के लक्षण को भी व्यभिचरित माना जायगा। ऐसी स्थिति में पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ में दोष के स्वरूप का निर्धारण कठिन प्रतीत होता है। यदि पदादि में दोष या गुण की बात कही जाय तो उसका स्वरूप किस प्रकार निश्चित किया जा सकेगा। यहाँ तक वाक्य का सम्बन्ध है–दोषादि की स्थिति को वाक्य में स्वीकार करते समय सर्वप्रथम वाक्य के स्वरूप का निश्चय करना आवश्यक है। वाक्य को यदि पदों का समूह माना जाय तो एक पद से लेकर आठ पदों तक के वाक्य प्राप्त होते हैं। इसलिये पदों की भी संख्या को लेकर प्रस्तुत किये जाने वाला वाक्य का लक्षण दोष युक्त ही माना जायगा। एक प्रयोजन के आधार पर किये जाने वाले वाक्य-लक्षण के अतिरिक्त अन्य सभी वाक्य-लक्षण दोषपूर्ण होंगे। इधर शब्दों में आश्रयाश्रयी सम्बन्ध भी माना जा सकता। व्यतिरेक की अवस्था स्वीकार करने पर अधिकरण की भिन्नता के कारण सम्बन्ध नहीं घट सकता। इसलिये अर्थ के विषय में स्वीकार किये जाने वाले समस्त दोष ही व्यर्थ सिद्ध होंगे। इसीलिए शारदातनय ने वक्ता के सम्बन्ध की पृष्ठभूमि में ही दोषादि की कल्पना को व्यावहारिक बताया है। वास्तव में दोषादि की अवस्था वक्ता के ही अधीन रहती है। वक्ता के प्रयोग के अनुसार कहीं कहीं शब्द अपने अर्थ को व्यक्त करने में असमर्थ हो जाता है। ऐसी स्थिति में भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से इस प्रकार के प्रयोग को दोषपूर्ण माना जाता है। जहाँ शब्द में भाव-बोध का सामर्थ्य रहता है वहाँ उसके भाव-बोध की सुलभता को गुण माना गया है। शब्द के आधार पर ही जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा भाव-बोध का उत्कृष्ट रूप दिखलायी देता है, वहाँ अर्थगुण स्वीकार किया जाता है। जब 'इव' आदि के माध्यम से सादृश्य विधान के द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति होती दिखलायी पड़ती है, तब अलंकार की स्थिति स्वीकार की जाती है। कुशल कवि शब्द एवं अर्थ में इस प्रकार के गुण एवं अलंकार आदि का प्रयोग करते हैं। कवि के प्रयोग की कुशलता के प्रभाव से अर्थ में रस की स्थिति भी संपृक्त रहती

है। प्रायः शब्द और अर्थ की स्थितियों में व्यंग्य भाव का समावेश रहता है। शारदातनय का कहना है कि वर्ण में गुण-दोष नहीं रहते, वे पद और वाक्य में ही रहते हैं। वाक्यात्मक प्रबन्धों में ही रसादि का रूप भी दृष्टिगोचर होता है। सिद्धान्त रूप में काव्यगत गुण-दोष के समस्त रूपों को शारदातनय ने वक्तृनिष्ठ एवं विवक्षाधीन बताया है। इसलिये शब्द के किसी रूप में गुण या दोष की स्थिति को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

स्फोटवाद का उल्लेख

इस सन्दर्भ में शारदातनय ने स्फोट के सैद्धान्तिक पक्ष पर भी विचार किया किया है। वस्तुतः जहाँ वर्ण समूह के उच्चारण करने के उपरान्त किसी अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ वर्ण समुदाय के अन्तिम वर्ण का ही अस्तित्व श्रुतिगोचर होता है, क्योंकि उससे पूर्व उच्चारण किये गये प्रत्येक वर्ण का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसलिये आदिम वर्ण से लेकर अन्तिम वर्ण तक का कोई अर्थपरक वर्ण-समूह निर्मित ही नहीं होने पाता। ऐसी दशा में अर्थ की अभिव्यक्ति शब्द के उस श्रुतिगम्य बाह्य रूप के भीतर विद्यमान रहने वाले स्फोटमय आन्तरिक रूप से ही होती है, क्योंकि आदिम वर्ण के उच्चारण काल में शब्द की अर्थ-व्यञ्जक इकाई का वर्णसमूहात्मक रूप प्रकट ही नहीं रहता। मध्यम वर्ण के उच्चारण काल में आदिम वर्ण समाप्त हो जाता है और अन्तिम-वर्ण अनुच्चरित दशा में विद्यमान रहता है। इसलिये वर्ण-समुच्चय का रूप कहीं दृष्टिगोचर हो ही नहीं सकता। शारदातनय ने वर्णों में विद्यमान रहने वाली सामान्य स्थिति को ध्वनि कहा है, जो वर्णों से ही व्यक्त होती है। वह ध्वनि ही वर्णों के माध्यम से अर्थ को व्यक्त करती है। शब्द शास्त्रियों ने ध्वनि के इसी रूप को स्फोट कहा है। उपर्युक्त विवेचन क्रम को ध्यान में रखते हुए शारदातनय द्वारा वर्णित शब्दार्थ-सम्बन्ध की विशेषताएँ इस प्रकार कही जा सकती हैं।

परिशीलन

१. शारदातनय ने शब्दार्थ-सम्बन्ध विषयक पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं के साथ पूर्णरूप से निर्वाह तथा न्याय किया है और इस सन्दर्भ में भोज, अभिनवगुप्त तथा आचार्य मम्मट के विवेचनों को ध्यान में रखते हुए सम्बद्ध प्रसंगों की विस्तृत रूप में छानबीन की है।

२. शब्द और अर्थ की पारस्परिक स्थितियों के बीच शब्दार्थ की प्रकृति के अनुसार अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना आदि वृत्तियों को आधार रूप में ग्रहण किया है।

३. व्युत्पत्तिलब्ध प्रसिद्धार्थ को व्यक्त करने वाले शब्द को वाचक तथा अर्थ को वाच्य एवं आधारभूत वृत्ति को अभिधा कहा है।

४. प्रसिद्धार्थ से भिन्न दिखलायी देने वाले बोधगम्य अर्थ को युक्तिसंगत रूप में प्रस्तुत करने के लिये ही आधारभूत शब्दार्थ-सम्बन्ध के विविध रूपों को अर्थ

की स्थितियों के अनुरूप उपस्थित किया है। इसी प्रसंग में भोज द्वारा उपस्थित किये गये शब्दार्थ-सम्बन्ध के १२ रूपों पर पृथक्-पृथक् शारदातनय ने विचार किया है।

५. शब्दार्थ-सम्बन्ध के बारह रूपों पर विचार करते समय वाक्य एवं वाक्यार्थ की विविध स्थितियों को जहाँ आधार रूप में स्वीकार किया है, वहीं पद, पदार्थ, प्रकृति एवं प्रत्यय की अर्थमूलक स्थितियों पर भी विचार किया है।

६. पदार्थ में पद के सम्बन्ध को ही वृत्ति बताते हुए उस (वृत्ति) के अभिधा, लक्षणा तथा गौणी नामक तीन भेद किये गये हैं। अभिधा को व्यापारात्मिका वृत्ति स्वीकार करते हुए प्रसिद्धार्थ को व्यक्त करने वाली वृत्ति बताया गया है। यह लोक प्रसिद्धार्थ को व्यक्त करने में सहायता पहुँचाती है। लक्षणा की चर्चा करते हुए उसे अभिधेयार्थ के सहारे अभीष्टार्थ को व्यक्त करने वाली वृत्ति कहा गया है। लक्षणा एक ऐसी वृत्ति है जो अभिधेयार्थ द्वारा अभीष्टार्थ का बोध कराती है। शारदातनय ने लक्षणा को प्रतीति-परक वृत्ति बताया है। लक्षणा द्वारा बोधगम्य अर्थ की अनुभूति के लिये वक्ता एवं श्रोता में विदग्धता का होना आवश्यक बताया गया है। गौणी नामक वृत्ति की चर्चा करते हुए उसे गुण परक वृत्ति मानकर विचार किया गया है। यह एक ऐसो वृत्ति है जो गुण मात्र तक सीमित रहती है और लक्ष्यमाण रूप में वस्तु के गुण को प्रकट करती है।

७. विवक्षा नामक सम्बन्ध के दूसरे भेद पर विचार करते हुए शब्द और अर्थ की सम, न्यून तथा अधिकता मूलक सापेक्ष स्थिति को आधार रूप में ग्रहण किया गया है। शारदातनय ने काकु, प्रकरण तथा अभिनय के प्रभाव से दिखलायी देने वाले अर्थमूलक विशिष्ट रूपों के अनुसार विवक्षा नामक सम्बन्ध भेद के विविध रूपों पर विचार किया है। स्वर की भिन्नता के प्रभाव से जहाँ अर्थ में परिवर्तन उपस्थित होता है वहाँ विवक्षा के काकु रूप को ग्रहण किया गया है। प्रकरण अर्थ सन्दर्भ के आधार पर प्रसिद्धार्थ से भिन्न जहाँ किसी विशिष्टार्थ की प्रतीति होती है वहाँ विवक्षा का प्रकरणादि व्यंग्य रूप सिद्ध किया गया है। अभिनय की प्रक्रियाओं द्वारा विशिष्टार्थ की अभिव्यक्ति में अभिनयादि का रूप स्वीकार किया गया है।

८. शारदातनय के काक्वादि विवक्षा के काकु एवं विच्छेद नामक दो भेदों पर इस प्रकार विचार किया है। काकु का सम्बन्ध स्वरभेद के प्रभाव से उपस्थित होने वाले अर्थ-भेद में दृष्टिगोचर होता है। इसके प्रश्नगर्भा आदि अनेक भेदों का उल्लेख किया गया है विच्छेद नामक भेद की स्थितियों पर वाक्यमूलक अर्थाभिव्यक्ति के आधारभूत तथ्यों को ध्यान में रखकर विचार किया गया है। प्रकरण एवं अभिनय के प्रसंग में किसी विशिष्ट उपभेद का उल्लेख नहीं किया गया है।

९. तात्पर्य नामक सम्बन्ध भेद पर प्रकाश डालते हुए इसे वाक्यार्थ के प्रसिद्धार्थ का ज्ञान हो जाने के उपरान्त वक्ता के अभिप्राय रूप में ज्ञात होने वाले अर्थ

का आधार बताया गया है। शारदातनय ने अभिधेय, प्रत्याय्य तथा ध्वनि रूप में तात्पर्य के भेदों का उल्लेख किया है। अभिधेयार्थ में क्रिया, कारकादि रूप वाक्य के अङ्गीभूत तत्त्व रहते हैं। प्रत्याय्य के रूप में प्रसिद्धार्थ के अतिरिक्त प्रतीतिलभ्य विशेषार्थ को ग्रहण किया गया है। ध्वनि की स्थिति ऐसे अर्थों में बतलायी गयी है जहाँ प्रसिद्धार्थ गौण तथा विशेषार्थ ही विधान रहता है। इस सन्दर्भ में शब्द और अर्थ नामक ध्वनि के दो भेद किये गये हैं तथा प्रत्येक के अनुनाद एवं प्रतिशब्द नामक उपभेदों की चर्चा करते हुए ध्वनि के स्वरूपों का युक्तिसंगत विवेचन किया गया है।

१०. प्रविभाग नामक शब्दार्थ-सम्बन्ध का रूप ऐसी स्थितियों में दिखलाया गया है जिसमें अर्थ की विशिष्ट स्थिति का विवेचन वाक्य, पदार्थ, पद तथा प्रकृति एवं प्रत्ययादि के आधार पर किया जाता है।

११. पदार्थों की पारस्परिक आकांक्षा को व्यपेक्षा तथा पद, पदार्थों में क्रिया-कारकादि भाव से विद्यमान रहने वाली परस्परान्वय-मूल योग्यता को सामर्थ्य कहा गया है।

१२. पदों के पारस्परिक ग्रथन को अन्वय बताते हुए उसके तीन रूपों का उल्लेख किया गया है जो क्रमशः नीर-क्षीर, तिल-तण्डुल तथा पांसूदक के समान अन्विति की दशा में अपनी स्थिति प्रकट करते हैं। इसी तरह भिन्न भिन्न अर्थ वाले पदों में जहाँ अर्थ का एकीकरण दिखलायी देता है, उसे एकार्थीभाव कहा गया है। सम्बन्ध भेद के प्रस्तुत सन्दर्भ में दोषाभाव की स्थिति को स्पष्ट करने के लिये पद, वाक्य एवं वाक्यार्थ रूप दोष की तीन स्थितियों का उल्लेख किया गया है। गुणोपादान के लिये गुण के महत्त्व का वर्णन किया गया है। इसी तरह अलंकार योग तथा रसयोग को भी काव्यप्रबन्ध के लिये आवश्यक बताया गया है।

१३. द्वितीय मत के रूप में शारदातनय ने अर्थवृत्ति को ध्यान में रखते हुए अभिनवगुप्त द्वारा उपस्थित किये गये शब्दार्थ-सम्बन्ध के छः भेदों का वर्णन किया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में सर्वप्रथम शब्द के छः रूपों का उल्लेख किया गया है तथा प्रत्येक शब्द रूप से व्यक्त होने वाले अर्थ तथा प्रत्येक वर्ग के शब्दार्थ का भी उल्लेख किया गया है। वाचक, लाक्षणिक, व्यञ्जक, गमक, द्योतक एवं प्रत्यायक रूप में जहाँ शब्द के छः भेद किये गये हैं वहीं वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य, गम्य, द्योत्य एवं प्रत्याय्य रूप में छः प्रकार के अर्थों का भी उल्लेख किया गया है। वाचक में अभिधा, लाक्षणिक में लक्षणा, व्यंग्यार्थ में व्यञ्जना, गम्यार्थ में गति, द्योत्यार्थ में द्युति तथा प्रत्यायक में प्रतीति नामक वृत्ति बतायी गयी है, साथ ही शारदातनय ने वाचकादि प्रत्येक प्रकार के शब्द-भेद का परिचयात्मक विवरण भी प्रस्तुत किया है।

१४. शब्द एवं अर्थ के प्रस्तुत सन्दर्भ में शारदातनय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इन छः प्रकार के अर्थों में देश, काल, क्रिया, जाति की स्थितियाँ भी अपना महत्त्व पूर्ण प्रभाव रखती हैं। शारदातनय ने अनेक प्रकार के गुण-धर्मों का कल्पित

रूप उपस्थित करते हुए देश-कालादि की स्पष्ट विवेचना भी उपस्थित की है। इस सन्दर्भ में बहुत से गुण-धर्मों का भी उल्लेख किया गया है। गुणों के सामान्य एवं विशेष नामक दो भेद किये गये हैं। सामान्य का रूप आश्रय एवं गुण की अभिन्नता की दशा में दिखलायी देता है। इसी तरह मुग्धत्वादि को विशिष्टता के विशेष धर्म के रूप में ग्रहण किया गया है।

१५. अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये आधारभूत शब्द की विविध इकाइयों के पृथक्-पृथक् रूपों पर भी विचार किया गया है। इस सन्दर्भ में वर्ण, एक पद, दो पद, दो से अधिक पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ को अर्थ व्यञ्जक रूप में ग्रहण किया गया है।

१६. शारदातनय का कहना है कि वाक्यार्थगत स्थिति के प्रभाव से कहीं-कहीं वाच्यार्थ भी लक्ष्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ भी वाच्यार्थ की स्थिति प्राप्त कर लेता है। वास्तव में वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ की पारस्परिक स्थितियों का निश्चय तात्पर्यार्थ के ही आधार पर हो पाता है। इस सन्दर्भ में प्रभाकर एवं अभिनवगुप्त की वाक्यार्थ-मूलक सैद्धान्तिक भिन्नताओं पर भी प्रकाश डाला गमा है। प्रभाकर ने जहाँ पदार्थ को ही वाक्यार्थ बताया है वहीं अभिनवगुप्त ने पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में ही वाक्यार्थ की स्थिति को स्वीकार किया है।

१७. तृतीयमत के रूप में शारदातनय ने आचार्य मम्मट की विवेचनाओं का आधार ग्रहण किया है। मम्मट के ही अनुसार शब्द के वाचक, लाक्षणिक एवं व्यञ्जक नामक तीन भेद किये हैं तथा क्रमानुसार प्रत्येक जातीय शब्द से पृथक्-पृथक् वाच्य, लक्ष्य एवं व्यंग्यार्थ को बोधगम्य बताया गया है। इस प्रकार के शब्दार्थ में क्रमशः अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना नामक वृत्तियों का भी उल्लेख किया गया है।

१८. वाचक नामक शब्द की अर्थ-प्रकृति को स्पष्ट करने के लिये वाचक में अर्थ-संकेत के चार रूप बताये गये हैं जो जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य के नाम से प्रसिद्ध हैं।

१९. जाति के सन्दर्भ में शारदातनय ने 'गौः' पद का उल्लेख करते हुए गोत्व-जाति की स्थिति का विवेचन किया है। इस सन्दर्भ में विद्वान् आचार्य ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि लौकिक व्यवहार में यद्यपि कार्य निर्वाह के लिये अर्थ का व्यक्तिमूलक सन्निवेश रहा करता है, किन्तु सैद्धान्तिक रूप में व्यक्ति भी जाति को ही व्यक्त करता है। इस सन्दर्भ में 'गच्छति' को क्रिया रूप तथा 'शुक्ल' को गुणरूप एवं 'डित्थ' को द्रव्यरूप मे उपस्थित किया गया है। शारदातनय ने अर्थसंकेत के इन चारों रूपों में जाति की मूलभूत स्थिति के सैद्धान्तिक पक्ष को भी प्रस्तुत किया है।

२०. यहाँ मम्मट को ध्यान में रखते हुए लक्षणा के छः भेदों का निरूपण किया गया है। वस्तुतः रूढ़ि एवं प्रयोजनवती रूप में लक्षणा की जो स्थितियाँ दिखलायी देती हैं उनके बीच प्रत्येक रूप के छः भेद अलग-अलग सलक्षण, सोदाहरण वर्णित हैं। इन छः रूपों को क्रमशः शारदातनय ने उपादान-लक्षणा, लक्षण-लक्षणा, सारोपा, साध्या-

बसाना, गौणी एवं शुद्धा कहा है। विद्वान् आचार्य ने मम्मट को दृष्टि में रखते हुए उन्हीं की विवेचना शैली के अनुरूप इन भेदों का पृथक्-पृथक् विवेचन भी किया है।

२१. व्यञ्जना की चर्चा करते हुए इसे अभिधा तथा लक्षणा पर आश्रित बताया है। अभिव्यक्ति के अनुसार व्यञ्जना के अगूढ़ तथा गूढ़ रूप दो नामों का उल्लेख किया गया है। जहाँ अभिधेयार्थ से व्यंग्यार्थ स्पष्ट हो जाता है वहाँ व्यञ्जना का अगूढ़ रूप और जहाँ अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता वहाँ व्यञ्जना का गूढ़ रूप स्वीकार किया गया है।

२२. विद्वान् आचार्य ने व्यञ्जना के शब्दाश्रित तथा अर्थाश्रित रूपों का उल्लेख किया है। शब्दाश्रित को शाब्दी-व्यञ्जना तथा अर्थाश्रित को आर्थी-व्यञ्जना भी कहा जाता है। शब्दाश्रित के अभिधामूला तथा लक्षणामूला नामक दो भेद किये गये हैं।

२३. अभिधामूला के विवेचन क्रम में शारदातनय ने अनेकार्थक शब्द के एक अर्थपरक भाव की स्थिति को प्रस्तुत करने के लिये संयोग, विप्रयोग आदि ऐसे चौदह आधारों का उल्लेख किया है जो शब्द के सभी अन्यार्थों को नियन्त्रित रखते हुए अभीष्टार्थ को ही व्यक्त करने में सहयोग प्रदान करते हैं।

२४. व्यञ्जना के अर्थाश्रित स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये उसके वक्तृ-वैशिष्ट्यादि दस भेदों का उल्लेख किया गया है। साथ ही साथ प्रत्येक का परिचयात्मक विवरण देते हुए कतिपय व्यञ्जना रूपों को पृथक्-पृथक् उदाहरणों द्वारा स्पष्ट भी किया गया है।

२५. अर्थ की अभिव्यक्ति में ध्वनि के महत्त्व को स्वीकार करते हुए शारदातनय ने उत्तम, मध्यम तथा अधम रूप में काव्य के पृथक्-पृथक् भेदों का भी उल्लेख किया है।

२६. ध्वनि के सन्दर्भ में विचार करते समय इसे अनुरणनात्मक दशा का स्वरूप बताया गया है और शब्द की अनुरणनात्मक दशा में शब्द-शक्ति-मूला, अर्थ की अनुरणनात्मकता दशा में अर्थ-शक्तिमूला तथा उभयनिष्ठ अवस्था में शब्दार्थ-शक्ति-मूला के रूप में स्वीकार किया गया है।

२७. शारदातनय ने तात्पर्यार्थ को ही वाक्यार्थ स्वीकार किया है और उसकी अभिव्यक्ति को विवक्षाधीन बताया है। इस सन्दर्भ में वर्ण, पद, वाक्य जैसी भाषा-परक अभिव्यक्ति के माध्यमों पर भी विचार किया गया है। शारदातनय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इनमें से किसी का पारिभाषिक विवेचन अव्याप्ति तथा अति-व्याप्ति दोष से रहित नहीं रह सकता। विद्वान् आचार्य ने शब्दशास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष का संरक्षण करते हुए स्फोट सिद्धान्त का समर्थन किया है।

●

चतुर्थ भाग

नाट्यप्रकरण

नाट्य-प्रकरण : नाटक

'भावप्रकाशनम्' के रचयिता की दृष्टि मुख्य रूप से नाट्यरस की ओर ही प्रवृत्त दिखायी देती है। आलोच्य ग्रन्थ में विद्वान् आचार्य ने रस के स्वरूप एवं प्रकारों पर विचार करते समय अपनी दृष्टि का स्पष्ट परिचय दिया है जिसे शान्तरस विषयक चर्चा के प्रसंगों में देखा जा सकता है। वस्तुतः नाट्योपयोगी न होने से ही शान्तरस की निष्पत्ति में त्रुटि की अवस्था का निर्देश किया गया है। इसलिये ग्रन्थ के प्रारम्भ से अन्त तक की विषय-चर्चा को ध्यान में रखते हुए यह कथन सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है कि नाट्यरस के आह्लादजनक स्वरूप की अनुभूति एवं निष्पत्ति-परक अवस्था एवम् उसके आवश्यक उपकरणों तथा विविध तत्त्वों और कार्य व्यापारों का विशेष रूप में वर्णन ही शारदातनय को अभीष्ट है।

उपस्थापन

शारदातनय ने अपनी परम्परागत शैली के अनुसार नाट्यस्वरूप का सामान्य परिचय संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया है और इस सन्दर्भ में आचार्य धनञ्जय एवं आचार्य अभिनवगुप्त की मान्यताओं का स्पष्ट उल्लेख भी किया है। आप जब नट द्वारा रामादि की अवस्थाओं के नाटकीय अभिनव को ही नाट्य के परिचायक रूप में उपस्थित करते हैं तो आचार्य धनञ्जय की तद्विषयक दृष्टि का स्पष्ट रूप में संकेत प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार दर्शक द्वारा नट और रामादि के तादात्म्य की अनुभूति को नाट्य बताते समय आचार्य अभिनवगुप्त की सैद्धान्तिक दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। इस तरह नाट्य विषयक सामान्य परिचय-प्रसंग में शारदातनय की विशेष दृष्टि आचार्य धनञ्जय एवं अभिनवगुप्त की ओर प्रवृत्त दिखायी देती है।

आपने इस प्रसंग में नाट्यरस की अभिव्यक्ति एवं अनुभूति को ध्यान में रखते हुए विषय विवेचन के क्रमानुसार कथावस्तु के स्वरूप-गठन एवं उसकी अभिनयात्मक स्थिति पर स्पष्ट रूप से विचार किया है। दृश्य एवं श्रव्य रूप में काव्य के दो भेदों का उल्लेख करते हुए नाट्य विषयक चर्चा-क्रम को काव्य के दृश्य रूप की विवेचना के अनुरूप प्रस्तुत किया गया है। स्मरणीय है कि काव्य की प्रत्येक विधा का मूल-रूप कथावस्तु या वर्ण्य विषय की पृष्ठ-भूमि में प्रतिष्ठित रहता है। यही वह भित्ति है जो कलात्मक चित्रमयता तथा तद् विषयक कुशलता का आधार उपस्थित करती है। शारदातनय ने इस तथ्य का पूरा निर्वाह किया है। कथावस्तु के यथार्थ स्वरूप की निर्वाह-जनक स्थिति के अनुसार शारदातनय ने उसकी विविध अवस्थाओं, सन्धियों तथा अर्थप्रकृतियों का परिचयात्मक एवं विश्लेषणात्मक रूप में विवेचन

किया है। आवश्यकता एवं बोधगम्यता के अनुसार वर्णन के इन क्रमों में विविध प्रकारों की समता एवं विषमता मूलक स्थितियों का भी विश्लेषणात्मक रूप में परिचय दिया गया है। कथानक का कौन सा अंश किस क्रम में उपस्थित किया जाये इस तथ्य की भी पूरी तरह से छानबीन की गयी है। वर्णन के प्रत्येक सन्दर्भ में वर्ण्य-विषय से सम्बद्ध प्रसिद्ध मत-मतान्तरों पर भी विचार किया गया है। कथावस्तु में कथोपकथन की विशेष स्थिति तथा उसकी उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए काव्य-बन्ध में प्रयोग किये जाने वाले पदों के विविध रूपों तथा ध्वनि-गुणों पर भी विचार किया गया है। सन्दर्भ विशेष के अनुसार अये, खलु, ननु आदि जैसे शब्दों के प्रयोग की अवस्थाओं का जिस मनोयोग के साथ प्रयोग किया गया है उसी मनोभाव के अनुरूप ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत आदि उच्चारण काल-लभ्य मात्राओं के उपयोग का भी वर्णन यथास्थान किया गया है।

जहाँ तक नाट्य-विषयक अभिनयात्मक स्थिति का सम्बन्ध है शारदातनय का विषय-विवेचन सर्वथा व्यावहारिक एवं उपयोगी प्रतीत होता है। आपने रंग-मंच की विशिष्ट दशाओं का पृथक्-पृथक् विवेचन करने के साथ ही साथ नाट्योपयोगी अभिनेताओं के स्वरूप एवं उनकी उपयोगिता तथा उनके कार्य व्यापारों का भी स्पष्ट रूप में विश्लेषण किया है। विद्वान् आचार्य ने इस बात का पूरी तरह से ध्यान रखा है कि नाटचरस की आह्लादमयी अनुभूति के लिये नृत्य, वाद्य एवं गीत का विशेष महत्त्व है[1]। इसी तथ्य के अनुसार इन्हें नाट्य के आवश्यक तत्त्वों के रूप में ग्रहण किया गया है और प्रत्येक के स्वरूप का भेदोपभेद सहित उल्लेख भी किया है। इस प्रकार के प्रसंगों में शारदातनय की दृष्टि भारतीय जीवन के नृत्य, गीतादि-विषयक मूल-स्रोतों तक जा पहुँची है। इसीलिये विषय वर्णन के प्रत्येक प्रसंग के उद्‌गम तथा विकास का प्रभावपूर्ण रूप में किया गया विवेचन मिलता है। आचार्य शारदातनय के नाट्य विषयक विवेचना क्रम को निम्नलिखित रूप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

सर्वप्रथम शारदातनय ने नाट्य की स्थिति को साहित्य की एक ऐसी विधा के रूप में ग्रहण किया है जिसकी सफलता का परीक्षण रंगमंच पर ही निर्भर है। आपने काव्य के कथाशरीर का लक्षण भरतादि प्राचीन आचार्यों की परम्परागत मान्यताओं के आधार पर प्रस्तुत करने के उपरान्त दृश्य-काव्य के प्रकारों का पृथक्-पृथक् परिचयात्मक विवरण उपस्थित किया है। आपका कथन है कि दृश्य-काव्य में नाटक ही प्रधान होता है। इसी तथ्य को आधारभूत मानकर सर्वप्रथम नाटक

१. नृत्तं गीतञ्च वाद्यञ्च नाटकाद्युपकारकम्।

भा० प्र०—सप्तम अधि० पृ० १८१ पं० १५।

विषयक विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है[1]। स्मरणीय है कि शारदातनय ने दृश्य-काव्य के समस्त प्रकारों की अभिव्यक्ति एवं उद्देश्यपरक स्थितियों का भी उल्लेख किया है और इनमें नाटक की विशिष्टता पर भी परम्परागत रूप में विचार किया है। नाटक की विशिष्टताओं पर विचार करने से पूर्व यहाँ यह आवश्यक प्रतीत होता है कि शारदातनय द्वारा प्रस्तुत किये गये दृश्यकाव्य के विविध रूपों का नामोल्लेख किया जाय, जिनका पृथक्-पृथक् वर्णन प्रसंग के अनुसार उपस्थित किया जायगा। विद्वान् आचार्य ने दृश्यकाव्य के तीस भेदों का उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित हैं—

दृश्य काव्यभेद

१. नाटक, २. प्रकरण, ३. भाण, ४. प्रहसन, ५. डिम, ६. व्यायोग ७. समवकार, ८. वीथी, ९. अंक, १०. ईहामृग, ११. त्रोटक, १२. नाटिका, १३. गोष्ठी, १४. सल्लाप, १५. शिल्पक, १६. डोम्बी, १७. श्रीगदित, १८. भावी, १९. प्रस्थान, २०. काव्य, २१. प्रेक्षक, २२. सट्टक, २३. नाट्यरासक, २४. लासक, २५. उल्लोप्यक, २६. हल्लीस, २७. दुर्मल्लिका, २८. मल्लिका, २९. कल्पवल्ली, ३०. पारिजातक[2]।

रसात्मक एवं भावात्मक

शारदातनय ने दृश्यकाव्य के इन तीस रूपों में प्रथम दस को रसात्मक तथा शेष बीस रूपों को भावात्मक बताया है[3]। यहाँ दृश्यकाव्य के विशेष रूपों में गृहीत किये गये इन समस्त भेदों को रूपक भी बताया गया है[4]। वस्तुतः शारदातनय के विचार से दृश्यकाव्य के इन समस्त रूपों को रूपक के एक ही शीर्षक द्वारा व्यक्त करना अभीष्ट प्रतीत नहीं होता। इसीलिए विद्वान् आचार्य ने इस सम्दर्भ में 'क्वचित्' पद का प्रयोग किया है। जहाँ तक शारदातनय का सम्बन्ध है इन्होंने प्रथम दस के विविध रूपों में परवर्ती बीस में से अनेक रूपों का अन्तर्भाव भी बताया है। इसलिये अन्तर्भूत रूपों की पृथक् सत्ता इन्हें मान्य नही है[5]। आपका कहना है कि

१. प्राथम्यन्नाटकस्यास्य तत्सम्यगभिधीयते।

भा० प्र०—अष्टम अधि० पृ० २२१ पं० ३।

२. भा० प्र०—अष्टम अधि० पृ० २११, पं० ४-१०।

३. रसात्मका दशैतेषु विंशद्भावात्मका मताः।

भा० प्र०—अ० अधि०, पृ० २२१, पं० ११।

४. तेषां रूपकसंज्ञाऽपि प्रायो दृश्यतया क्वचित्।

भा० प्र०—अ० अधि० पृ० २२१, पं० १२।

५. नाटकादिष्वथैतेषामन्तर्भावान्न ते पृथक्।

भा० प्र०—स० अधि० पृ० १८० पं० १०।

प्राचीन आचार्यों ने नाटक और प्रकरण में नाटिका एवं तोटक का अन्तर्भाव दिखाया है। नाटिका का नाटक एवं प्रकरण के साथ अभेद सम्बन्ध भी सिद्ध किया गया है। इस प्रकार नाटिका भी नाटक का ही भेद है। इसी तरह सट्टक को त्रोटक का ही भेद माना है। जहाँ तक डोम्बी एवं श्रीगदितादि का सम्बन्ध है शारदातनय ने इन्हें नृत्य भेद बताया है। इस सन्दर्भ में हमारे विद्वान् आचार्य ने नृत्य एवं नृत्त की अनुभूति परक स्थितियों का अन्तर भी स्पष्ट कर दिया है। नृत्य को भावाश्रित तथा नृत्त को रसाश्रित कहा गया है और दोनों को नाटकादि का उपकारक माना है। विषय-विवेचन के अनुसार इनकी विशेष चर्चा आगे चलकर की जायगी। प्रस्तुत सन्दर्भ में नाटक विषयक शारदातनय की मान्यताओं का विशेष विवरण प्रस्तुत है।

नाटक

शारदातनय ने नाटक को दृश्यकाव्य के समस्त रूपों में प्रधान बताया है और रस की प्रधानता के आधारों का भी उल्लेख करते हुए सर्वप्रथम नाटक का ही विवेचन किया है। इन्होंने नाटक की मुख्यता का कारण बताते हुए उसे अन्य दृश्य-रूपों की प्रकृति कहा है जिससे नाटक में ही दृश्य रूपों का मूल रूप निहित प्रतीत होता है। इसके साथ ही साथ नाटक को ही रस ग्राहक एवं समस्त लक्षणों से युक्त माना गया है। आपका कथन है कि अतिदेश, क्रम, स्वांग, समर्थकत्व की स्थिति एवं मनोभावों के विकास एवं विस्तार की क्षमता रहने से नाटक अन्य दृश्यरूपों का मूल आधार तो प्रकट करता ही है इसके साथ ही साथ आठों रसों से सम्बद्ध भी रहता है। इसी तरह अर्थ-प्रकृतियों, अवस्थाओं, सन्धियों, सन्ध्यंगों, वृत्तियों, अर्थोपक्षेपकों, पताकास्थानकादिकों तथा रसालंकारों से संयुक्त रहने के फलस्वरूप नाटक ही पूर्ण लक्षण वाला माना गया है। उपर्युक्त विवरण के अनुसार नाटक की प्रधानता के तीन कारण सिद्ध होते हैं—

१. यह अतिदेश क्रम तथा स्वांगसमर्पकत्व की स्थिति के कारण सभी दृश्यरूपों की मूल प्रकृति का प्रतिनिधित्व करता है।

२. इसमें मनोभावों के अपेक्षित विकास एवं विस्तार की क्षमता विद्यमान रहने से यह आठों रसों में संपृक्त होता है। इसीलिये रस परिग्रह की वास्तविक स्थिति नाटक में ही अङ्गीकार की गयी है।

३. नाटक को अर्थप्रकृति आदि समस्त अंगों-उपांगों से युक्त माना गया है, इसीलिये इसे सर्वलक्षणसमन्वित कहा गया है। शारदातनय ने इन्हीं आधारों को ध्यान में रखकर दृश्य-काव्य-रूपों में नाटक को प्रमुख मानते हुए सर्वप्रथम इसका विवेचन किया है[1]।

---

१. भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० २२१-२२२।

नाटक के अंग

नाटक के समस्त अंगों की संख्यापरक स्थिति को इस प्रकार देखा जा सकता है[1]—

अर्थप्रकृतियाँ	—	पाँच
अवस्थाएँ	—	पाँच
सन्ध्यंग	—	चौंसठ
वृत्तियाँ	—	चार
सन्धियाँ	—	पाँच
सन्ध्यन्तर	—	इक्कीस
भूषण	—	छत्तीस
संगीतांग	—	नब्बे

कथावस्तु

नाटक की कथावस्तु पर शारदातनय ने सबसे पहले विचार किया है। आपने इसे नाटक की कथावस्तु का कवि-कल्पित शरीर बताया है। इस सम्बन्ध में नाट्याभिनय विशेषज्ञों की मान्यताओं का उल्लेख करते हुए आपका कहना है कि नाट्याभिनय विशेषज्ञों ने प्रबन्ध के इसी कवि-कल्पित शरीर को इतिवृत्त भी कहा है। आपके मतानुसार नायकादि के चरित्र को इतिवृत्त माना जाता है। कहीं-कहीं प्रयोजनवश वर्तमान को भी वृत्तवत् कल्पित कर लेना इतिवृत्त कहा गया है। इतिवृत्त नामक यह कथावस्तु काव्य के अन्तर्गत दो रूपों में उपलब्ध होती है जिन्हें क्रमशः आधिकारिक तथा प्रासंगिक कहा गया है। आधिकारिक ही मुख्य होता है और प्रासंगिक की स्थिति गौण होती है। नायकादि के वृत्तान्त को आधिकारिक माना जाता है और प्रासंगिक रूप में उपनायक के वृत्तान्त का उल्लेख किया जाता है। नायकादिकों का जो वृत्तान्त होता है वह त्रिवर्ग का भाजन माना गया है और उसी की काव्यव्यापिनीस्थिति आधिकारिक मानी जाती है। उपनायक आदि का वृतान्त तो नायकादिकों के सहयोग मात्र का प्रयोजन व्यक्त करता है।

---

१. पञ्च पञ्च चतुष्षष्टिश्चतुः पञ्चैकविंशतिः।
षट्त्रिंशन्नवतिर्यत्र तदाहुर्नाटकं बुधाः॥
अर्थप्रकृतयोऽवस्थाः पञ्च पञ्चैति कीर्तिताः।
अङ्गानि वृत्तयस्तत्र सन्तिसन्ध्यन्तराणि च॥
चतुष्षष्टिश्चतुःपञ्च सैकविंशतिभिः क्रमात्।
सङ्गीताङ्गानि नवतिः षट्त्रिंशद्भूषणानि च॥
भा० प्र०—अ० अधि० पृ० २२२ पं० ८-१३।

इस सम्बन्ध में शारदातनय ने कथावस्तु के आधिकारिक रूप को स्पष्ट करने के लिये राम-कथा का उल्लेख किया है और राम के जन्म से अभिषेक पर्यन्त तक की कथावस्तु को राम-कथा के आधिकारिक रूप में उदाहृत किया है। सुग्रीव एवं विभीषणादि की चेष्टाओं को प्रासंगिक कहा गया है।

प्रासंगिक कथावस्तु

नाटक में प्रासंगिक कथावस्तु के तीन रूप बताये गये हैं जिन्हें शारदातनय ने क्रमशः पताका, प्रकरी और पताकास्थानक कहा है[1]। कथावस्तु का जो रूप फलोदय पर्यन्त तक व्याप्त रहता है उसे 'पताका' कहा जाता है। इसके विपरीत कथावस्तु का जो रूप जिस किसी कारण से पहले उपलब्ध होकर बाद में उपलब्ध नहीं होता उस कथावस्तु के स्वरूप को 'प्रकरी' कहा गया है। जहाँ आगन्तुक रूप में उपस्थित होने वाले भाव द्वारा कथावस्तु की भावी अवस्था की अभिव्यक्ति होती है वहाँ आगन्तुक भावमय कथावस्तु के स्वरूप को 'पताकास्थानक' कहा जाता है जो आधिकारिक कथावस्तु के भावी स्वरूप को व्यक्त करता है। विद्वानों ने पताकास्थानक को सूचना देने वाले उपाय रूप में स्वीकार किया है। जहाँ कथावस्तु द्वारा किसी दूसरे व्याज से अतीत तथा अनागत कार्य को व्यक्त किया जाता है वहाँ 'पताकास्थानक' का ही रूप स्वीकार किया गया है। विद्वान् आचार्य ने अन्योक्ति तथा समासोक्ति के आधार पर पताकास्थानक के दो रूप बताये हैं। इस सन्दर्भ में नाम निर्देश किये बिना ही अन्य आचार्यों की मान्यताओं का उल्लेख करते हुए पताकास्थानक के चार प्रकार बताये गये हैं। शारदातनय के अनुसार भी पताकास्थानक के चार प्रकार बताये गये हैं। आपके अनुसार पताकास्थानक का पहला रूप कथावस्तु के ऐसे स्थलों पर प्राप्त होता है जहाँ गुणवृत्ति के उपचार से सहसा प्रयोजन की सिद्धि हो गयी रहती है। काव्य-बन्ध में जब श्लिष्ट पदों की विशिष्ट योजनाओं द्वारा अभीष्ट की अभिव्यक्ति हुई रहती है वहाँ पताकास्थानक का दूसरा रूप माना जाता है। इसी तरह श्लिष्ट प्रत्युत्तर से प्राप्त होने वाला अर्थोपक्षेपण उसी में सम्पृक्त हो गया रहता है वहाँ पताकास्थानक का तीसरा रूप माना जाता है, और काव्य-बन्ध में जहाँ वचन विन्यास के श्लिष्ट रूप से दो अर्थों की अभिव्यक्ति की गयी रहती है वहाँ पताकास्थानक का चतुर्थ रूप गृहीत होता है। इस सम्बन्ध में विद्वान् आचार्य ने पताकास्थानक के प्रत्येक रूप को स्पष्ट करने के लिये विविध कथाओं के अपेक्षित प्रसंगों का भी उल्लेख किया है।

आधिकारिक कथावस्तु

प्रासंगिक कथावस्तु के भेदोपभेदों पर विचार करने के उपरान्त शारदातनय ने आधिकारिक कथावस्तु के भेदोपभेदों पर भी विचार किया है। आधिकारिक कथा-

१. भा० प्र०—स० अधि० पृ० २०१-२०२।

वस्तु के क्रमशः प्रख्यात, उत्पाद्य एवं मिश्र नामक तीन रूप बताये गये हैं[1]। ऐतिहासिक कथावस्तु को 'प्रख्यात', कविकल्पित कथावस्तु को 'उत्पाद्य' तथा 'उभयात्मक' (जिसमें प्रख्यात एवं उत्पाद्य के ऐतिहासिक तथा कवि कल्पित दोनों ही अंशों का मेल रहता है) कथावस्तु को 'मिश्र' कहा गया है। आधिकारिक कथावस्तु का प्रत्येक रूप दिव्य, मर्त्य तथा उभयात्मक वर्ण्य-विषयों के अनुसार तीन-तीन रूपों में विभक्त किया गया है। इस प्रकार इस कथावस्तु के नौ रूप बताये गये हैं। शारदातनय ने प्रस्तुत प्रसंग में कथावस्तु के फल पर भी विचार किया है और उसके बारह भेद बताये हैं, किन्तु इस फलात्मक स्थिति का विश्लेषण नहीं किया गया है। इनकी संख्या मूलक स्थितियों का गणना परक सन्नियोजन ही यहाँ उपलब्ध है।

कथावस्तु की इस विशेष स्थिति की चर्चा के पश्चात् शारदातनय के विवेचन क्रम को ध्यान में रखते हुए नाटक के पूर्व संकेतित संख्यामूलक अंगों का पृथक्-पृथक् परिचय प्रस्तुत करना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है, जो इस प्रकार है—

पाँच अर्थप्रकृतियाँ

शारदातनय ने पाँच प्रकार की अर्थप्रकृतियों का उल्लेख किया है जो क्रमशः १. बीज, २. बिन्दु, ३. पताका, ४. प्रकरी और ५. कार्य के नाम से व्यवहृत हैं[2]। विद्वान् आचार्य ने इन अर्थप्रकृतियों को कथाभेद तथा कथा-शरीर का कारण माना है। बीज पर विचार करते हुए शारदातनय का कथन है कि इतिवृत्त के फलरूप में त्रिवर्ग को ग्रहण किया जाता है। त्रिवर्ग के कारण रूप में बीज की स्थिति स्वीकार की गयी है। कथा का जो रूप अतिस्वल्प दशा में उपस्थित होकर अनेक रूपों में विस्तार प्राप्त कर लेता है उसी को बीज कहा गया है। कथावस्तु का यह विस्तार नायकादि के भेद से ही होता है। 'बीज' की स्थिति को सादृश्य-गर्भ के माध्यम से स्पष्ट करते हुए शारदातनय का कहना है कि जैसे बोया गया बीज स्कन्ध, शाखा तथा पुष्पादि रूप में फैल कर फलोदय की स्थिति तक पहुँचता है, उसी तरह कथानक में नायकों की स्थितियाँ भी कथावस्तु का विस्तार करती हुयी फल प्राप्ति को सिद्ध करती हैं। बीज के उदाहरण रूप में 'वेणीसंहारस्य' 'सत्पक्षाः के' इस अंश का संकेत किया गया है। 'बिन्दु' नामक दूसरी अर्थप्रकृति पर विचार करते हुए शारदातनय का कहना है कि अवान्तर फलों के कारण जब प्रधान फल से विच्छेद हो जाता है तो इतिवृत्त के जोड़ने या उसे आगे बढ़ाने वाले कारण को बिन्दु कहा गया है। इस प्रकार बिन्दु को कथावस्तु का ऐसा कारण माना जाता है जो प्रधान फल से विच्छिन्न हो जाने पर भी इतिवृत्त के तारतम्य को विच्छिन्न होने नहीं देता, अपितु उसे जोड़ने तथा

---

१. भा० प्र०—सप्तम अधि० पृ० २०३।

२ बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थप्रकृतयः पञ्च कथाभेदस्य हेतवः॥
भा० प्र०—स० अधि० पृ० २०४ पं० २१-२२।

आगे बढ़ने में सहयोगी सिद्ध होता है। बिन्दु की इस स्थिति को शारदातनय ने आचार्य कोहल की मान्यताओं के आधार पर ग्रहण किया है और प्रस्तुत सन्दर्भ में इनके नाम का उल्लेख भी किया है। इन्होंने बिन्दु के मानज तथा विपत्तिज नामक दो रूपों का उल्लेख भी किया है। क्रोध से मानज तथा शोक से विपत्तिज नामक बिन्दु की स्थिति को स्वीकार किया गया है। बिन्दु के इन दोनों रूपों को स्पष्ट करने के लिये क्रमशः 'लाक्षागृहानल' तथा 'द्रौपदी केशाम्बरकर्षण' स्थिति वाले कथांशों को उदाहरण रूप में संकेतित किया गया है। जहाँ तक पताका एवं प्रकरी नामक अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध है प्रासंगिक कथावस्तु के सातत्य में इन पर विचार किया जा चुका है। कार्य-नामक अर्थप्रकृति के रूप में नाटक के प्रधान साध्य अर्थात् फल को ही ग्रहण किया गया है जिसके लिये सब उपकरण एकत्र किये जाते हैं। शारदातनय का कहना है कि बीज को नाटक के प्रारम्भ में, कार्य के साध्य रूप होने के फलस्वरूप सबके अन्त में बिन्दु को मध्य में पताका एवं प्रकरी की प्रासंगिक कथावस्तु के रूप में सन्नियोजित करना चाहिए।

पाँच अवस्थाएँ

शारदातनय ने फल की अभिलाषा रखने वालों द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य की पाँच अवस्थाएँ बतायी हैं, जो क्रमशः–१. आरम्भ, २. प्रयत्न, ३. प्रात्याशा, ४. नियताप्ति, ५. फलागम नामों से व्यवहृत है। इस विषय में आचार्य प्रवर का कहना है कि भरतादि आचार्यों ने नायक के व्यापार की स्थितियों के आधार पर कार्य की पाँच अवस्थाएँ बतायी हैं। अवस्था विषयक उपर्युक्त मान्यताओं पर विचार करने से विदित होता है कि भरतादि आचार्यों ने जहाँ नायकादिकों के व्यापार की स्थितियों को अवस्था-भेद का आधार स्वीकार किया है वहाँ शारदातनय ने फल की अभिलाषा रखने वालों द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य की स्थितियों को ही अवस्था भेद के आधाररूप में ग्रहण किया है। वस्तुतः उपर्युक्त दोनों ही मान्यताओं में किसी भी प्रकार का मौलिक अन्तर प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दोनों में ही अवस्थाओं के विविध रूपों का सम्बन्ध कार्य के साथ ही जोड़ा गया है। इसीलिये अवस्था भेद-विषयक शारदातनय के विचार को भरतादि पूर्ववर्ती आचार्यों की विचार सरणि के सर्वथा अनुरूप कहा जा सकता है[२]।

---

१. भा० प्र०—सप्तम अधि पृ० २०४-२०५।

२. अवस्था पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ॥
कार्यस्य नायकादीनां व्यापारापेक्षया पुनः।
पञ्चावस्था भवन्तीति भरतादिभिरुच्यते ॥

भा० प्र०—सप्तम अधि० पृ० २०६ पं० १-४।

अर्थप्रकृतियों का अवस्थाओं के साथ अन्वय करने पर प्रत्येक की स्थिति में सन्धि के पृथक्-पृथक् रूप का निर्णय किया गया है। अवस्था के पाँच रूपों का अर्थप्रकृति के पाँच रूपों से अन्वय करने पर सन्धि के भी पाँच रूप हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में विद्वान् आचार्य ने कथा के अन्वित रूपों का प्रयोजन के अन्तिम रूप से होने वाले सम्बन्ध को ही सन्धि की संज्ञा दी है[1]।

पाँच सन्धियाँ

शारदातनय ने १. मुख, २. प्रतिमुख, ३. गर्भ, ४. सावमर्श और ५. उपसंहृति नामक पाँच सन्धियों का उल्लेख किया है। मुख नामक सन्धि पर विचार करते हुए आपका कहना है कि अनेक प्रकार के रसों का कारण रूप बीजोत्पत्ति ही, मुख के नाम से व्यवहृत है। इस सम्बन्ध में 'रत्नावली' के 'अंहो अ अंसो राओत्ति' को मुख के रूप में उदाहृत किया गया है। विद्वान् आचार्य ने मुखसन्धि के नानार्थ रस हेतुत्व एवं उसकी बीजोत्पत्ति-विषयक स्थितियों के पक्ष-विपक्ष पर भी उदाहरण सहित विचार किया है और अपनी मान्यता को पुष्ट किया है। इस मुख नामक सन्धि के बारह अंग बताये गये हैं जो इस प्रकार है[2]—

१. उपक्षेप, २. परिकर, ३. परिन्यास, ४. विलोभन, ५. युक्ति, ६. प्राप्ति, ७. समाधान, ८. विधान, ९. परिभावना, १०. उद्भेद, ११. करण, १२. भेद।

शारदातनय ने बीज न्यास को उपक्षेप, उसके बाहुल्य को परिकर, बीज निष्पत्ति को परिन्यास, गुणाख्यान को विलोभन, अर्थों के सम्प्रधारण को युक्ति, बीजागम को समाधान तथा विशेष प्रकार के सुखागम को प्राप्ति, उद्भूत के आवेश को परिभावना, सुख-दुःख कारक को विधान, प्रकृत (सम्बद्ध विषय) के आरम्भ को करण, गूढ़ भेदन को उद्भेद और प्रोत्साहन को भेद कहा है। शारदातनय ने मुख सन्धि के इन रूपों की योजना विषय-वस्तु, नेता तथा रसादिकों के अनुरूप करने का निर्देश किया है। आपका कथन है कि मुखसन्धि के इन रूपों की योजना में क्रम की व्यवस्था आवश्यक नहीं है।

---

१. यथासङ्ख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः।
अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति॥
अन्वितानां कथांशानां परमे तु प्रयोजने।

भा० प्र०— सप्तम अधि० पृ० २०७ पं० १ -१२।

२. उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम्।
युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना॥
उद्भेदः करणं भेद इत्यङ्गानि मुखस्य तु।

भा० प्र०—सप्तम अधि० पृ० २०८ पं० ९-११।

प्रतिमुख

'प्रतिमुख' नामक सन्धि पर विचार करते समय आपने दृश्य एवं अदृश्य रूप में बीज के व्यक्त होने की स्थिति को प्रतिमुख कहा है। आपने इस सन्दर्भ में प्रतिमुख सन्धि के सन्दर्भगत बीज, व्यक्ति-मूलक दृश्य एवं अदृश्य रूपों का पृथक् पृथक् विवेचन भी किया है। दृश्यत्व पर विचार करते हुए आपका कथन है कि भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार प्रत्येक अंक में निबद्ध किये गये प्रयोजनों की निष्पत्ति को ही दृश्यत्व कहा जाता है। इस तरह के अनेक अर्थों की निष्पत्ति को ही अदृश्य माना गया है। 'सागरिका' में वत्सराज के दर्शन से समागमेच्छा रूप बीज दृश्य एवं अदृश्य स्थिति में विद्यमान है। विन्दु एवं प्रयत्न के अनुगमवश प्रतिमुख सन्धि के तेरह अंग कहे गये हैं, जो इस प्रकार हैं[1]—१. विलास, २. परिसर्प, ३. विधूत, ४. शम, ५. नर्म, ६. नर्मद्युति, ७. प्रगमन, ८. विरोध, ९. पर्युपासन, १०. पुष्प, ११. वज्र, १२. उपन्यास, १३. वर्णसंहार। नव-संगम में दम्पत्ति की रति चेष्टा को 'विलास' कहा गया है। इसी तरह बीज के दृष्ट और नष्टानुसर्पण को 'परिसर्प' कहा गया है। नायक और नायिका के अरति का प्रसंग ही 'विधूत' कहा गया है जो सुरति की अप्राप्ति के कारण ही सम्भव होता है। इस अरति के प्रसंग से जायमान उपशम को 'शम' की संज्ञा दी गयी है। परिहास के वचन को 'नर्म' तथा उससे उत्पन्न वृत्ति को 'नर्मद्युति' कहा जाता है। युक्ति-युक्त उत्तर को 'प्रगमन' तथा उसके निरोधन को 'विरोध', अनुनय को स्थिति को 'पर्युपासन', अतिशयता पूर्ण उक्ति को 'पुष्प', प्रत्यक्षर की निष्ठुरता को 'वज्र', प्रसन्न करने की स्थिति को 'उपन्यास' तथा नाना जातीय संगम को 'वर्णसंहार' कहा जाता है। शारदातनय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रतिमुखसन्धि के इन अंगों की योजना में अंगों का विन्यास करते समय किसी क्रम का ध्यान नहीं रखा जाता, क्योंकि इसमें व्यतिक्रम भी देखा जाता है। नर्मद्युति के अन्त में विधूतादिक का पौर्वापर्य रहा करता है। नेत्रादि के प्रभाव-वश विलासादि की प्रधानता रहती है।

गर्भ

शारदातनय ने एक बार दिखलायी देकर पुनः नष्ट हो गये बीज के पुनः-पुनः अन्वेषण को गर्भसन्धि बताया है। प्रतिमुख के बाद अन्तराय आदि वश यह बीज, जब दिखायी देकर भी अदृश्य स्थिति में पहुँच जाता है तो उसका जो बार-बार

---

१. बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश।
विलासः परिसर्पश्च विधूतं शमनर्मणी॥
नर्मद्युतिः प्रगमनं विरोधः पर्युपासनम्।
पुष्पं वज्रमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि॥

भा० प्र०—स० अधि० पृ० २०९ पं० ६-९।

अन्वेषण किया जाता है वही गर्भसन्धि का रूप प्रकट करता है। व्यायाम, शंका, अनुवृत्ति तथा विच्छेद के प्रभाव से पुनः-पुनः अन्वेषण की दशा उपस्थित रहती है। गर्भ-सन्धि का ऐसा ही स्वरूप शारदातनय को मान्य है। इसके उत्सर्ग रूप में ही पताका की प्राप्ति होती है, फिर भी इसका सन्निवेश प्रत्याशा के नियोग से किया जाता है। प्रत्याशा की ही अवस्था में गर्भसन्धि की योजना होती है अथवा कहीं-कहीं अपताका की दशा में ही बीज या विन्दु का निवेश रहता है। ऐसी स्थिति प्रत्याशा अर्थ प्रकृति के समन्वय में होती है। शारदातनय ने मालविकादिकों में पताका का अभाव तथा मालती-माधवादिकों में पताका के सद्भाव की स्थिति का विद्यमान रहना माना है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'कोहल' ने पताका के रहने अथवा न रहने में वैकल्पिक दशा स्वीकार की है। 'मालतीमाधव' के तृतीय अंक में 'शरीरं क्षामं' से लेकर 'क्व सा' पर्यन्त गर्भसन्धि का रूप पाया जाता है। गर्भसन्धि के बारह अंग माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं[1]—

१. अभूताहरण, २. मार्ग, ३. रूप, ४. उदाहरण, ५. क्रम, ६. संग्रह, ७. अनुमान, ८. तोटक ९. अधिबल, १०. उद्वेग, ११. सम्भ्रम, १२. आक्षेप। अभूताहरण पर विचार करते हुए शारदातनय ने इसे कपट पूर्ण तत्वार्थ कथन कहा है। इस प्रकार कपटाश्रित वाक्य को ही अभूताहरण कहा है। तत्त्वार्थकथन को ही मार्ग बताया गया है। दो, तीन अर्थों वाले सन्देहकारक वचन के वितर्क को रूप कहा गया है जो अतिशयोक्ति गर्भ वाक्य होता है उसे उदाहरण कहा जाता है। कुछ लोग संचितार्थ की प्राप्ति के भावक ज्ञान को क्रम मानते हैं। साम-दान पूर्ण उक्ति को संग्रह और किसी विशेष चिन्ह से कल्पना किये गये रूप को अनुमान कहा गया है। चेष्टा द्वारा अन्य का बोध अधिबल माना जाता है, जो संरभ युक्त वचन होता है उसे तोटक कहते हैं। शत्रुकृत भय को उद्वेग तथा शंका और त्रास को सम्भ्रम एवं गर्भ और बीज के समुत्क्षेप से आक्षेप की अवस्था मानी जाती है।

अवमर्श

जहाँ क्रोध, व्यसन अथवा विलोभन के गर्भ से निकले हुए बीज का बोध होता है वहाँ अवमर्श सन्धि मानी जाती है। अवमर्श में विचार के निर्णय का स्वरूप स्वीकार किया जाता है। शारदातनय ने 'वेणीसंहार' के छठे अंक में 'तीर्णे भीष्म

---

१. अङ्गानि द्वादशैतस्य गर्भसन्धेर्यथाक्रमम्।
अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः॥
सङ्ग्रहश्चानुमानश्च तोटकाधिबले तथा।
उद्वेगसम्भ्रमाक्षेपा इत्यङ्गानि भवन्ति तु॥

भा० प्र० सप्तम अधि० पृ० २१० पं० १६-१९।

महार्णव' इत्यादि से अवमर्श की स्थिति स्वीकार की है। अवमर्श के तेरह अंग बताये गये हैं, जो इस प्रकार हैं[1]—

१. अपवाद, २. सम्फेट, ३. विद्रव, ४. द्रव, ५. शक्ति, ६. द्युति, ७. प्रसंग, ८. छलन, ९ व्यवसाय, १०. निरोधन, ११. प्ररोचना, १२. विचलन, १३. आदान। दोष कथन को 'अपवाद' शेष भाषण को 'सम्फेट', वध-बन्धन आदि को 'विद्रव', बड़ों के तिरस्कार को 'द्रव', विरोध के शमन को 'शक्ति', तर्जन और उद्वेजन को 'द्युति', अप्रस्तुत अर्थ के कथन को 'प्रसंग', अवमानन को 'छलन' अपनी शक्ति की उक्ति को 'व्यवसाय' तथा प्रतिज्ञा के हेतु से उत्पन्न होने वाला व्यवसाय रूप माना गया है, प्रतिष्ठित व्यक्तियों के अपमान को 'निरोधन' कहा गया है, साध्य को सिद्धवत् रूप में आमन्त्रित किया जाना 'प्ररोचना' तथा विकलन को 'विचलन' और कार्य संग्रह को 'आदान' कहा गया है।

उपसंहृति

शारदातनय ने उपसंहृति नामक सन्धि के चौदह भेदों का उल्लेख किया है और उपसंहृति को निर्वहण-परक बताया है। उपसंहृति के चौदह भेद इस प्रकार हैं[2]—

१. सन्धि, २. विबोध, ३. ग्रथन, ४. निर्णय, ५. परिभाषण, ६. प्रसाद, ७. आनन्द, ८. समय, ९. कृति, १०. भाषा, ११. उपगहन, १२. पूर्वभाव, १३. उपसंहार, १४. प्रशस्ति। शारदातनय ने 'सन्धि' को बीजोपगमन तथा 'विबोध' को कार्य मार्गण और 'ग्रथन' को कार्य का उपक्षेप एवं कार्य को व्यक्त करने वाला तद्बोधक शब्द रूप कहा है। इस सन्दर्भ में निर्णय को बार-बार अनुभूत होने वाला (कार्य) कहा गया है। कार्य को परिवाद रूप 'परिभाषण' कहा गया है। पारस्परिक वार्तालाप में परिभाषण का रूप व्यक्त होता है। सेवापरक वृत्ति (पर्युपासन) को प्रसाद कहा गया है। अभीष्टार्थ की प्राप्ति को 'आनन्द', दुःख के विनिर्गम (निवृत्ति) को 'समय', प्राप्तार्थ के शमन या स्थिरीकरण को 'कृति' कहा जाता है। सम्मानादि

---

१. तत्रापवादसम्फेटौ विद्रवद्रवशक्तयः।
द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवयसायो निरोधनम्॥
प्ररोचना विचलनमादानञ्च त्रयोदश॥

भा० प्र०—सप्तम अधि० पृ० २११ पं० १६-१८।

२. सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम्।
प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगूहनाः॥
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश।

भा० प्र०—सप्तम अधि, पृ० २१२ पं० १५-१७।

की प्राप्ति को 'भाषा', कार्य दृष्टि को 'पूर्वभाव' उद्भूत उपलब्धि को 'उपगूहन' और वर प्रदानादि रूप लाभ को कार्य का उपसंहार कहा गया है। बल, विजय, मंगलादि की प्रशंसा को 'प्रशस्ति' की संज्ञा दी गयी है। शारदातनय ने सन्धि के इन उपभेदों की प्रधान तथा उनके क्रम को नेत्रादिवश-सम्भव बताया है, अर्थात् इनकी स्थितियाँ नेत्रों की गति-विधियों पर आश्रित रहती हैं। इन्हें जिस रूप में सम्भव हो उसी क्रम से व्यवहार में लाना चाहिये। प्रयोग की वैकल्पिक अवस्था तथा समुच्चय आदि लक्ष्य ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। इसलिये शारदातनय का कहना है कि प्रयोग के विषय में किसी प्रकार की अन्यथा कल्पना नहीं करनी चाहिये।

सन्ध्यङ्ग प्रयोजन

शारदातनय ने सन्धि के चौंसठ भेदोपभेद विषयक उपर्युक्त विवेचन क्रम को भोज के 'शृङ्गारप्रकाश' पर आधारित बताया है। इस सन्दर्भ में सन्ध्यङ्गों के प्रयोजन परक छः रूपों का भी उल्लेख किया है जो इस प्रकार है[1]—

१. इष्टार्थ की रचना, २. वृत्तान्त का अनुपक्षय, ३. प्रयोग की राग प्राप्ति, ४. गोप्य-भावों का गोपन, ५. आश्चर्यवत्-अभिज्ञान और ६. प्रकाश्यों का प्रकाशन। आपका कथन है कि जिस प्रकार अंगहीन पुरुष कार्य सम्पादन में सक्षम नहीं हो सकता, उसी तरह सन्ध्यंगों के अभाव में काव्य भी प्रयोगार्ह नहीं होता। इन अंगों से प्रयोग की दीप्ति बढ़ जाती है और सन्ध्यंगयुक्त काव्य निश्चित रूप से शोभा को प्राप्त हो जाता है। अनुत्तम (अनुदात्त) काव्य सन्ध्यंगों से युक्त रहने पर शोभावान् बन जाता है, किन्तु उत्तम (उदात्त) काव्य भी अंगहीन रहने से प्रयोग की हीनता के कारण सहृदयों के चित्त को रंजित नहीं कर सकता।

सन्ध्यन्तर भेद

शारदातनय ने इस विषय में सन्ध्यन्तरों के इक्कीस भेदों का भी उल्लेख किया है और उन्हें सन्धियों से विशिष्ट दशा वाला बताया है। सन्ध्यन्तरों के इक्कीस भेद इस प्रकार हैं[2]—

---

१. उक्ताङ्गानां चतुष्षष्टिः षोढा चैषां प्रयोजनम्।
एतान्युक्तानि शृङ्गारप्रकाशे भोजभूभृता॥
इष्टस्यार्थस्य रचना वृत्तान्तस्यानुपक्षयः।
रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गोप्यानां चैव गोपनम्॥
आश्चर्यवदभिज्ञानं प्रकाश्यानां प्रकाशनम्॥

भा० प्र०—स० अधि० २१३ पं० १०-१४।

२. साम चापि प्रदानञ्च भेदो दण्डो वधस्तथा।
सन्ध्यन्तराणि सन्धीनां विशेषास्त्वेकविंशतिः॥

भा० प्र०—सप्तम अधि० पृ० २१४ पं० ७-१२।

१. साम, २. प्रदान (दान), ३. भेद, ४. दंड, ५. वध, ६. प्रत्युत्पन्नमतित्व, ७. गोत्र स्खलित, ८. मायोपाधि, ९. भय, १०. हास, ११. क्रोध, १२. भ्रान्ति, १३. ओज, १४. संवरण, १५. हेतु, १६. अवधारण, १७. दूत, १८. लेख, १९. स्वप्न, २०. चित्र, २१. मद।

शारदातनय ने कथावस्तु के विन्यास की प्रक्रियाओं को ध्यान में रखते हुए उसके दो रूपों का उल्लेख किया है[1]—१. सूच्य, २. दृश्य-काव्य।

सूच्य

शारदातनय का कहना है कि कथावस्तु के बीच ऐसे अनेक स्थल भी उपस्थित हो जाते हैं जिन्हें दृश्य रूप में प्रस्तुत करना व्यावहारिक नहीं होता। ऐसे ही तथ्यों को सूच्य रूप में उपस्थित करने का निर्देश किया गया है। नीरस, अनुचित तथा अशास्त्रीय कथांशों को सूच्य रूप में उपस्थित करने के लिये बल दिया गया है। इस सन्दर्भ में विद्वान् आचार्य ने भरत आदि पूर्ववर्त्ती आचार्यों की तद्विषयक मान्यताओं का भी उल्लेख किया है। दृश्य रूप में उपस्थित किये जाने वाले कथारूप का मधुर, उदात्त एवं रसभावपूर्ण होना आवश्यक बताया गया है। शारदातनय का कहना है कि कथावस्तु के सूच्यांश को पाँच अर्थोपक्षेपकों द्वारा व्यक्त करना चाहिए।

अर्थोपक्षेपक

जैसा पहले ही कहा जा चुका है कि शारदातनय ने सूच्य वस्तु की अभिव्यक्ति के लिये अर्थोपक्षेपकों के उपयोग की चर्चा की है और इनके पाँच रूपों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं[2]—१. विष्कम्भक, २. चूलिका, ३. अंकास्य, ४. अंकावतार, तथा ५. प्रवेशक। शारदातनय ने 'विष्कम्भक' की चर्चा करते हुए उसे संक्षेपार्थक कहा है और मध्यम श्रेणी के पात्र द्वारा इसके प्रयोग किये जाने पर बल दिया है। आपका कहना है कि विष्कम्भक का प्रयोग दो अंकों के मध्य में किया जाता है। यह विष्कम्भक दो रूपों में व्यवहृत होता है जिन्हें शुद्ध तथा संकीर्ण कहा गया है। शुद्ध विष्कम्भक एक अथवा अनेक मध्यम श्रेणी के पात्रों द्वारा प्रयोग में लाया जाता है, किन्तु संकीर्ण-विष्कम्भक की योजना एक ही नीच तथा मध्यम पात्र के माध्यम से की जाती है।

---

१. द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः।
सूच्यमेव भवेत् किञ्चिद् दृश्यश्रव्यमथापरम्॥
भा० प्र०—सप्तम अधि० पृ० २१४, पं० १५-१६।

२. अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत्।
विष्कम्भचूलिकाऽङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः॥
भा० प्र०—सप्तम अधि० पृ० २१४ पं० २१-२२।

'पितृ-कानन' में 'कपाल कुण्डला' शुद्ध विष्कम्भक और 'उन्मत्तमाधव' में 'सौदामिनी', संकीर्ण विष्कम्भक माने गये हैं। इस सन्दर्भ में शारदातनय का कथन है कि दो अंकों के बीच में विष्कम्भक का प्रवेश सर्वथा सोद्देश्य होता है। वह नाटक के वर्तमान (वृत्त) एवं आगामी (वर्तिष्यमाण) अंक के शेष कथांश को सूचित करते हुए दोनों अंकों के कथाभाग को समन्वित कर देता है। भोज के अनुसार नाटक के प्रथम अंक में भी विष्कम्भक का प्रयोग किया जा सकता है। ऐसे कथांशों में मास तथा वर्ष तक की कथा के काल का व्यवधान अनुचित नहीं माना जाता, किन्तु वर्ष से अधिक के काल व्यवधान का निषेध किया गया है।

चूलिका की चर्चा करते हुए शारदातनय ने यवनिका के भीतर से सूचित किये जाने वाले कथांश में 'चूलिका' नामक अर्थोपक्षेपक की अवस्था का वर्णन किया है। इस प्रकार की सूचना सूत, मागध और बन्दियों द्वारा दी जानी चाहिये। 'एकैकानि शिरांसि' इस पद में चूलिका की अवस्था स्वीकार की गयी है। 'अकांस्य' (अंकमुख) पर विचार करते समय शारदातनय ने स्पष्ट कर दिया है कि जहाँ पूर्व अंक के अन्त में प्रविष्ट होने वाले पात्रों द्वारा परवर्ती अंक को सूचित करना होता है वहाँ अंकमुख (अंकास्य) माना गया है। उदाहरण रूप में शारदातनय ने 'वीरचरित' के द्वितीय अंक के अन्त में राम और परशुराम के बीच सुमन्त्र के प्रवेश द्वारा राम और परशुराम के कलह से पृथक् होने की सूचना को अंकास्य कहा है। अंकमुख द्वारा समस्त अंकों में एक सूत्रता लायी जाती है। इस तरह 'अंकावतार' पर विचार करते हुए कहा गया है कि जब पूर्व अंक के अन्त को व्यक्त करते हुए आगामी अंक के अवतरण को सूचित किया जाता है तब अंकावतार नामक अर्थोपक्षेपक माना जाता है। इस सन्दर्भ में 'मालविकाग्निमित्र' के प्रथम अंक के अन्त में विदूषक के प्रवेश से लेकर उसके निष्क्रमण पर्यन्त जो कुछ सूचित किया गया है, वह अंकावतार माना गया है।

प्रवेशक के विषय में शारदातनय का कहना है कि इसमें परिजनों से सम्बद्ध कथा की योजना की जाती है। इसमें उत्तम, मध्यम पुरुषों द्वारा आचरित तथा उदात्त से युक्त स्थितियों का निषेध किया गया है। इसके लिये प्राकृत भाषा के प्रयोग पर बल दिया गया है। शारदातनय का कहना है कि अर्थयुक्ति का आश्रय ग्रहण करते हुए विट, मुनि, देवता-पुरुष तथा कञ्चुकियों द्वारा संस्कृत भाषा के माध्यम से भी प्रवेशक का विधान किया जा सकता है। कालोत्थापन, नगरव्यत्यास तथा काम विषयों के समारम्भ की अभिव्यक्ति से सम्बद्ध अनेक प्रयोजन प्रवेशक से सिद्ध होते हैं। दिनावसान का जो कार्य अंक में अभिव्यक्त नहीं हो पाता उसे अंकभेद करके प्रवेशक द्वारा उपस्थित किया जाता है। यदि कोई अनेकाश्रित भाव व्यक्त करना हो तो उसे संक्षिप्त रूप में प्रवेशक द्वारा प्रबन्धों में उपस्थित करने का

विधान है। ऐसे भाव को अंकों में प्रस्तुत कर देने पर प्रबन्ध सौन्दर्य में बाधा पड़ती है। विद्वान् आचार्य का कहना है कि प्रयोग की बहुलता के कारण कहीं-कहीं भाव की परिसमाप्ति नहीं हो पाती। इस प्रकार के अपरिसमाप्त वृत्तान्त को स्वल्प कथा के रूप में प्रवेशक द्वारा उपस्थित करना चाहिये। ऐसा करते समय प्रवेशक में सीमित वाक्यों का ही उपयोग होना चाहिये। युद्ध, राज्यभ्रंश, मरण, नगरोपरोधन जैसे कृत्यों को अप्रत्यक्ष रूप में प्रवेशकों द्वारा व्यक्त करना चाहिए। प्रवेशक द्वारा कभी भी नायक के बध की अभिव्यक्ति नहीं की जानी चाहिये। वर्ण्य-विषय के श्राव्य तथा अश्राव्य नामक दो रूपों पर प्रकाश डालते हुए शारदातनय ने श्राव्य को कथावस्तु के ऐसे अंश का रूप देकर प्रस्तुत किया है जिसे सबके सुनने योग्य स्थिति में व्यक्त माना है। जहाँ तक अश्राव्य का सम्बन्ध है इसे अवगत रूप में उपस्थित करना ही समीचीन माना गया है। नाट्यधर्म को ध्यान में रखते हुए श्राव्य के भी जनान्त तथा अपवारित नामक दो भेद किये गये हैं। आपका कहना है कि दूसरों को हटाकर जहाँ पारस्परिक मन्त्रणा की जाती है वहाँ जनान्त नामक श्राव्य कथावस्तु का रूप विद्यमान रहता है। इसी तरह जहाँ दूसरे को अलग हटाकर कोई रहस्य की बात कही जाती है वहाँ अपवारित नामक कथावस्तु का रूप विद्यामान रहता है। शारदातनय ने इस विषय में आकाशभाषित का भी उल्लेख किया है। इसकी स्थिति वहाँ दिखायी देती है जहाँ मुहँ से स्पष्ट रूप से कहे बिना ही बात सुनायी देती है किन्तु वक्ता का पता नहीं चलता। शारदातनय का कहना है कि केवल रस, लक्ष्य, लक्षण या नायक मात्र से ही वर्ण्य विषक का उत्कर्ष प्रकट नहीं होता, अपितु उसके लिये सभी का गुण-धर्मानुरूप सन्नियोजन आवश्यक रहता है।

नाटक के पात्र

शारदातनय ने नाटक के पात्रों तथा उनके गुणों पर भी विचार किया है। इन्होंने पात्रादि के गुणों को रस वृद्धि में सहायक बताया है। पात्रों पर विचार करते समय उनका उल्लेख इस प्रकार किया है[1]—१. नायक, २. नायिका, ३. सखियाँ, ४. विटादि, ५. सचिव, ६. दूतियाँ, ७. दूत।

नायक वर्णन

शारदातनय ने नाटक के पात्रों में नायक पर सर्व प्रथम विचार किया है। इस सन्दर्भ में विद्वान् विचारक ने नायक के गुणों का वर्णन करने के साथ ही साथ

---

१. पात्राणि तद्गुणान् सर्वान् कथयामि यथार्थतः।
नायको नायिका सख्यो विटादिसच्चिवा अपि॥
दूत्यश्च दूताश्चेत्येतत् पात्रं नाट्यस्य कथ्यते।
भा० प्र०—चतु० अधि० पृ० ९१ पं० १७-१९।

उसके अड़तालीस भेदोपभेदों का भी सूक्ष्म विवेचन किया है[1]। आपने नायक के १. ज्येष्ठ, २. मध्यम, ३. कनिष्ठ नामक तीन भेद किये हैं। ज्येष्ठ संज्ञक नायक को सर्वगुण सम्पन्न बताया गया है। मध्यम नायक में दो, तीन, पाँच, छः गुणों का अभाव बताया गया है। जहाँ तक कनिष्ठ (अधम) नायक का सम्बन्ध है, उसमें बहुत से गुणों का अभाव (अर्थात् मध्यम नायक की अपेक्षा अधिक गुणों का अभाव) माना गया है। आपने उपर्युक्त तीनों तरह के नायकों में से प्रत्येक के पुनः चार-चार भेद बताये हैं जो इस प्रकार हैं—१. धीरललित, २. धीरशान्त, ३. धीरोदात्त, ४. धीरोद्धत। आपने ज्येष्ठ, धीर, ललितादि इन बारह रूपों में विभक्त किये गये नायकों में से प्रत्येक के पुनः चार-चार रूपों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार कहे गये हैं—१. अनुकूल, २. दक्षिण, ३. शठ, ४. धृष्ट। इस प्रसंग में विद्वान् आचार्य ने धीर-ललितादि नायकों के गुणों पर भी विचार किया है। आपका कहना है कि सभी प्रकार की ललित वस्तुओं के रूप धीर, ललित तथा धीरशान्त नामक नायक के अनुगामी होते हैं। धीरोदात्त तथा धीरोद्धत नायकों में सांग्रामिक गुणों की अवस्था स्वीकार की गयी है। इस प्रकार 'केचिद्' पदवाच्य अन्य विद्वानों की मान्यताओं के अनुसार शारदातनय ने धीर, ललित एवं धीरशान्त नामक नायकों की गुण-परक साम्य दशा बतायी है और इसी तरह धीरोदात्त तथा धीरोद्धत को भी गुण-परक सादृश्य भाव में उपस्थित किया है।

साम्यभाव दर्शक उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त आपने धीरललितादि नायकों के गुणों पर पृथक्-पृथक् विचार किया है। इस प्रसंग में ललित को विलासी, भोग रसिक, अतिप्रिय तथा कहीं-कहीं कलासक्त, क्षमायुक्त और गम्भीर बताया गया है। धीरशान्त नामक नायक पर विचार करते हुए उसे कहीं-कहीं ललितादि गुणों से युक्त तथा महासत्त्व, अतिगम्भीर एवं क्षमावान् और विकत्थन (आत्मस्तुति न करने वाला) माना गया है। जहाँ तक धीरोदात्त का सम्बन्ध है, इसे स्थिर, अहंकार को दबाकर रखने वाला, दृढ़व्रती कहा गया है। इसी तरह धीरोद्धत को विकत्थन, चंचल, चण्ड, मायात्मक कपट-प्रबन्ध में तत्पर तथा मत्सर एवं अहंकार युक्त माना गया है। शृङ्गारी ललित नायक पर विचार करते हुए इसे संगीत एवं अन्तःपुर में आसक्त रहने वाला, युद्ध में अनादर का भाव रखने वाला तथा अपनी सफलता के लिये मन्त्रियों पर आश्रित रहने वाला बताया गया है। जहाँ तक धीरशान्त का सम्बन्ध है इसमें शान्ति की प्रधानता, क्लेश-सहिष्णुता तथा विवेचन की क्षमता मानी गयी है और धैर्य को इसका साधारण गुण माना गया है। धीरोदात्त को

१. एतेऽष्टचत्वारिंशत् स्युर्नायकाः कविकल्पिताः।
भा० प्र०—चतु० अधि० पृ० ९३ पं० १०।

उदात्तगुण युक्त, विजय की इच्छा रखने वाला तथा मन्त्रियों के साथ-साथ अपने बल पर सिद्धि प्राप्त करने वाला स्वीकार किया गया है। धीरोद्धत की चर्चा करते हुए उसे अनुचित व्यापारों में प्रवृत्त रहने वाला तथा सिद्धि को अपने अधीन रखने वाला माना गया है।

अनुकूलादि नायक के चार भेदों पर विचार करते समय शारदातनय ने नायिका के प्रतिनायक के व्यवहार आदि को दृष्टि में रखकर विवेचन किया है। वस्तुतः नायिकाओं की विशिष्ट स्थितियों के वर्णन क्रम में ही नायक के व्यवहार-परक इन विविध रूपों पर विचार किया गया है। वस्तुतः इस सन्दर्भ में भी शारदा-तनय ने अनुकूल शब्द का प्रयोग करते हुए नायक की गुण-धर्म मूलक विशेषताओं का उल्लेख करने के बदले उसके चरित्रगत महनीय भावों का ही उल्लेख किया है। जहाँ तक दक्षिणादि नायक रूपों का सम्बन्ध है इनका नाम निर्देश पूर्वक विवेचन किया गया है। शठ एवं धृष्ट नायकों की विशेषताओं का उल्लेख नायिका के कोप-सम्भव व्यवहार की दशा में किया गया है। शारदातनय को अनुकूल नामक नायक में ये विशेषताएँ स्वीकार्य हैं—अनुकूलनायक-महाभाग, रूपवान्, युवा, मानी, सुशील, सुभग, विदग्ध, वंशवान्, निर्भय, अल्पनिद्र, मधुरभाषी तथा एक ही नायिका (स्त्री) द्वारा अभिगम्य होता है। दक्षिण नायक की चर्चा करते हुए शारदातनय ने उसे शास्त्रविद्, शीलसम्पन्न, रूपवान्, प्रियदर्शन, विक्रान्त, धृतिमान् तथा अवस्था, वेश एवं कुल की उत्तमता से युक्त सुरभि, मधुर, त्यागी, सहिष्णु, अविकत्थन, अशंकित, प्रियभाषी, चतुर, सुभग, शुचि, कामोपचार कुशल कहा है। जहाँ तक शठ तथा धृष्ट नायकों का सम्बन्ध है इनका उल्लेख नायिका के कोप सम्भव व्यवहार की चर्चा के प्रसंग में किया गया है। शठ की चर्चा करते हुए उसे सामने मधुर बात करने तथा अन्यत्र अप्रिय बात कहने वाला बताया गया है। वह गुप्त रूप से हितों का विनाश करने वाला होता है। धृष्ट नायक पर विचार करते हुए कहा गया है कि ऐसा नायक अपराध के स्पष्ट रूप में दिखायी देने पर भी शपथ पूर्वक अपने अपराध को बार बार अस्वीकार करता है। अपराध के चिन्ह प्रकट रहने पर भी वह उनको छिपाता है।

स्मरणीय है कि शारदातनय ने नायिकाओं के कोप-सम्भव व्यवहार को ध्यान में रखते हुए नायक की आठ संज्ञाएँ बतायी हैं जिनमें पूर्ववर्णित दो शठ एवं धृष्ट नायकों का भी उल्लेख किया गया है। इस वर्ग की शेष संज्ञाएँ हैं—१. वाम, २. विरूप, ३. दुःशील, ४. निर्लज्ज, ५. निष्ठुर, ६. दुराचार। वाम की चर्चा करते हुए शारदातनय ने कहा है कि जो नायक किसी काम को मना करने पर भी उसे करता है और किसी को कार्य करने के लिये कहने पर भी उसे नहीं करता उसे 'वाम' कहा जाता है। इसी प्रकार जिस नायक के अंग, ताजे नखों से क्षत-विक्षत एवं दन्तच्छेद से शिथिल होते हैं

और जो सदा उल्टी बात करने वाला एवं सम्मानहीन रहता है उसे 'विरूप' कहा गया है। असहिष्णुता के कारण जो क्रुद्ध होकर वाच्य-अवाच्य का विवेचन नहीं करता एवं देश-काल से अनभिज्ञ रहता है उसे 'दुःशील', बार-बार कठोर वाक्यों के प्रयोग द्वारा अपमानित किये जाने एवं अपराधी होने पर भी अपना व्यवहार नहीं छोड़ता उसे 'निर्लज्ज' कहा गया है। अपराध करने पर भी जो नायिका को प्रसन्न करने में लगा रहता है और उससे रमण करने का हठ करता है उसे 'निष्ठुर' कहा जाता है। निर्दोष रहने पर भी जो बिना विचार किये ताड़न एवं बन्धन का आश्रय लेता है उसको 'दुराचार' संज्ञा दी गयी है। नायकों के वर्णन प्रसंग में शारदातनय ने वैशिक नायक का भी पृथक् वर्णन किया है। इस सन्दर्भ में वैशिक शब्द का निर्वचन करते हुए उसके उत्तम, मध्यम तथा अधम वेश-स्वरूपों का भी पृथक्-पृथक् निरूपण किया है।

नायिकाओं के साथ प्रदर्शित प्रीति के कारण नायक अनेक संज्ञाओं से पुकारा जाता है। नायक की ये संज्ञाएँ इस प्रकार दिखायी गयी हैं[1]। प्रणयी, दयित, कान्त, नाथ, स्वामी, प्रिय, सुहृत्, नन्दन, जीवितेश, सुभग और रुचिर। प्रणयी नायक वह कहलाता है जो मिथ्यारोष से कलुषित नायिका को सखियों के बीच शैल, उद्यान, वन आदि में मनाता है। जो नायक अपनी प्रेयसी को वस्त्र, अंगराग, माला आदि हृदयग्राही पदार्थ देकर प्रसन्न रखता है उसे 'दयित', कमनीय कथाओं, काम्य-भोग तथा अपने सद्व्यवहार से जो अपनी नायिका को प्रसन्न रखता है उसे 'कान्त', साम, दान और अर्थ संभोग से जो अपनी नायिका का लालन पालन करता है और उसके साथ एकान्त में रमण करता है वह 'नाथ', अपनी नायिका को अकृत्य से हटाकर जो उसकी कर्तव्य पथ में रुचि उत्पन्न कराता है और अपने स्वभाव में अवस्थित करता है उसे 'स्वामी' कहा जाता है। इसी प्रकार जो नायक सत्यवादी, विनयशील, उपकारशील, प्रियभाषी एवं स्वयं प्रसन्न रहकर अपनी नायिका के उपचार में रत रहता है वह 'प्रिय', जो दुःख, विपत्ति, मोह की अवस्था में और कार्य का समय बीत जाने पर भी उसके हित में सदा लगा रहता है उसे 'सुहृत्' माना गया है। अपने सौजन्य के कारण सखियों के बीच प्रशंसनीय रहकर जो अपनी प्रिया की प्रशंसा करता है वह 'नन्दन' कहलाता है। इसी तरह जो नायक अपनी नायिका को अभीष्ट शयन, आसन, भोजन तथा अनुकूल लीलाओं से प्रसन्न रखता है उसे 'जीवितेश', वह नायक

---

१. प्रणयी दयितः कान्तो नाथः स्वामी प्रियः सुहृत्।
नन्दनो जीवितेशश्च सुभगो रुचिरस्तथा ॥
इत्थं नायकसंज्ञाः स्युः स्त्रीभिः प्रीतिप्रयोजिताः ॥

भा० प्र०—पं० अधि० पृ० १०७, पं० ७-९।

सुभग कहलाता है जिसके शरीर पर सपत्नी के दन्त-नखादि चिन्ह नहीं रहते और मान एवं ईर्ष्या से शून्य होता है। इसी प्रकार अपनी नायिका की रुचि सम्बन्धी भोग्य पदार्थों को देकर उसे प्रसन्न रखने वाला नायक अपनी नायिका द्वारा 'रुचिर' इस संज्ञा से पुकारा जाता है।

१. शोभा, २. तेज, ३. विलास, ४. माधुर्य, ५. स्थैर्य, ६. गाम्भीर्य, ७. औदार्य एवं ८. ललित ये नायक के सात्त्विकगुण गुण भी बताये गये हैं[1]। इनके माध्यम से श्रेष्ठ नायक की महनीयता आंकी जाती है।

उपनायक

शारदातनय ने नायक के साथ ही साथ उपनायक पर भी विचार किया है। यहाँ पताका नायक को उपनायक कहा गया है उसके अनुचर रूप में नर्म सचिव, पीठ मर्द, विट और विदूषक का उल्लेख किया है[2]। इन्हें नायक का अनुचर, भक्त एवं गुणों में नायक से किञ्चित् न्यून बताया गया है। इनमें नर्मसचिव तो ऋत्विज, पुरोहित, तपस्वी, वेदविद् तथा व्रतशील ब्राह्मण और दूसरे आश्रम वाले होते हैं जो धर्म के कार्य में साचिव्य करते हैं। इसी प्रकार अर्थसचिवों के रूप में मन्त्री, सैन्यपाल, कुमार और सुहृत् का उल्लेख किया गया है। पीठमर्द, विट तथा विदूषक को सख्यादि परिवार सहित कामसचिव बताया गया है और प्रत्येक के गुण तथा व्यापार का पृथक्-पृथक् निर्देश भी किया गया है। इस सन्दर्भ में विट को एकविध तथा कामतन्त्रों में कुशल बताया गया है। विदूषक को विकृतांग, वचन तथा वेशादि द्वारा हास्य उत्पन्न करने वाला कहा गया है। पीठमर्द को विश्वसनीय तथा कुपित स्त्री को प्रसन्न करने वाला माना गया है। इस सन्दर्भ में दूत और दूतियों के व्यवहार, गुणादि का भी पृथक्-पृथक् विवेचन है।

नायिका वर्णन

नायक के वर्णन के अनन्तर शारदातनय ने नायिका तथा उसके ३८४ भेदोपभेदों के वर्णन के साथ ही साथ इनके यौवन, यौवन भेद, अवस्था में चेष्टाओं

---

१. शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्यमेव च।
ललितौदार्य तेजांसि सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः॥

भा० प्र०—प्र० अधि० पृ० ९-१०।

२. पताकानायकस्तेषामुपनायक उच्यते।
तस्यैवानुचरो भक्तः किञ्चिन्न्यूनश्च तद्गुणैः॥
....
एते स्युः कामसचिवाः पीठमर्दो विटस्तथा।
विदूषकश्च सख्यादिपरिवारेण संयुतः॥

भा० प्र०—चतु० अधि० पृ० ९३, पं० १२-२२।

और इन चेष्टाओं से होने वाले प्रभावों का यहाँ विशद वर्णन किया है। विभिन्न सत्त्व गुणों (भावों) के कारण अपने नायकों के प्रति नायिकाओं की अनुरागमयी एवं विरक्तिमयी मनोवृत्ति का हमारे आलोच्य ग्रन्थकार ने बड़ी ही मनोवैज्ञानिक पद्धति से प्रतिपादन किया है। जिसका संग्रह यहाँ ग्रन्थविस्तार भय से नहीं किया गया है।

आचार्य रुद्रट के मत का समर्थन एवं प्रतिपादन करते हुए सर्वप्रथम शारदातनय ने स्वकीया, अन्या (परकीया) तथा साधारणा नामक नायिका के तीन भेद किये हैं। इन भेदों में स्वकीया (स्वीया) के भी मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा नामक तीन भेदों का उल्लेख किया है। इसके अनन्तर मध्या नामक नायिका के भी अधीरा, धीरा तथा धीरा-धीरा नामक ये तीन भेद किये हैं। इसके अनन्तर मध्या ओर प्रगल्भा के पृथक्-पृथक् ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा भेद किये गये हैं। ज्येष्ठा और कनिष्ठा के भी पृथक् पृथक् उदात्ता, ललिता एवं शान्ता नामक तीन-तीन भेद किये हैं। स्वकीया के इन भेदोपभेदों के पश्चात् अन्या के ऊढा (प्रौढ़ा) तथा कन्यका नामक दो भेद बताये हैं। साधारणा (गणिका) नायिका एक ही होती है, अतः उसके भेद नहीं होते। इस प्रकार स्वीया के तेरह, अन्या के दो एवं साधारणा का एक भेद होने के कारण नायिकाओं के कुल १६ भेद किये गये हैं। ये सोलह भेदों में प्रत्येक भेद नायिकाओं की खण्डिता, विप्रलब्धा, वासक-सज्जा, स्वाधीन-भर्तृका, कलहान्तरिता, विरहोत्कण्ठिता प्रोषित-भर्तृका एवं अभिसारिका नामक अवस्थाओं के कारण आठ प्रकार के होते हैं। इस प्रकार कुल भेद १२८ होने पर पुनः ये सभी उपभेद उत्तम, मध्यम एवं अधम नामक नायिका भेदों के कारण तीन-तीन प्रकार के होंगे। इस प्रकार १२८×३ का गुणन करने पर नायिकाओं के ३८४ भेदों का वर्णन किया गया है[1]।

शारदातनय ने अन्या के विषय में रुद्रटाचार्य के विचार से भिन्न प्रकार के विचार वाले मनीषियों के मतों की चर्चा करते हुए बताया है कि कुछ मनीषी अन्या (परकीया) की आठ के स्थान पर केवल तीन ही अवस्थाएँ बताते हैं। विवेचन क्रम के अनुसार प्रथमावस्था में अन्या नायिका विरहोन्मना रहती है। इसकी दूसरी अवस्था अभिसारिका की स्थिति में स्वीकार की गयी है जब यह संकेत स्थल पर प्रिय से मिलती है। तीसरी अवस्था तब उत्पन्न होती है, जब वह

---

१. स्वाऽन्या साधारणा चेति त्रिविधा नायिका मता।

....

इत्थं शतत्रयं तासामशीतिश्चतुरुत्तरा।
सङ्ख्येयं रुद्रटाचार्यैरुपभोगाय दर्शिता॥

मा० प्र०— चतु० अधि० पृ० ९४ और ९५।

संकेत के अनुरूप प्रिय से नहीं मिल पाती। यह अवस्था भी विरह जन्य अर्थात् विरह परक ही होती है। पराधीनता के कारण इस वर्ग की नायिका की कोई अन्य अवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती। यदि अपने लोक-सम्मान का उल्लंघन कर यह नायिका चिरकाल तक किसी के साथ रहती है तो वह परकीया भी गणिका (वेश्या) की ही स्थिति में मानी जाती है। इस अवस्था को प्राप्त होने वाली वेश्या भी अन्या कही जा सकती है।

शारदातनय ने अन्या के विषय में उपर्युक्त विचार व्यक्त करने के पश्चात् सामान्या (साधारणा) की स्थिति पर भी प्रकाश डाला है। इसके विषय में आपका कथन है कि यह एक ऐसी गणिका होती है जो धन की ही इच्छा रखती है। इस वर्ग की नायिका का न तो किसी गुण विहीन के प्रति विद्वेष रहता है और न किसी गुणवान् के प्रति अनुराग ही रहता है। आपका कहना है कि ऐसी नायिका के विषय में धन-परक प्रवृत्ति एवं राग-द्वेष मूलक अभिनिवेश हीनता के फलस्वरूप ऐसे प्रसंगों में शृङ्गाराभास ही स्वीकार किया है और शृङ्गार-रस की स्थिति को अस्वीकृत कर दिया है। इस प्रकार विरोधी विचार व्यक्त करने वालों को ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने रुद्रटाचार्य के ऐसे मत को भी उपस्थित किया है जो शृङ्गाराभास मानने वालों के सर्वथा विपरीत दिखायी देता है। रुद्रटाचार्य का कथन है कि यदि गणिका राग-शृङ्गार से सर्वथा मुक्त रहती है तो स्त्री जाति में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाले स्मर (कामदेव) को गणिकाओं के अन्तर-भावों में पहुँच कर क्या कुत्तों ने भक्षण कर लिया है ? कहने का तात्पर्य यह है कि गणिका भी स्त्री होती है और स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुरूप उसमें भी स्मर का अस्तित्व रहता है। इस प्रसंग में शारदातनय ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि कला-केलि में प्रवीण ऐसी नायिकाओं में जो मन आह्लादक सुरत उत्पन्न होता है वह अन्य वर्ग की समस्त नायिकाओं का विस्मारक होता है। कामदहन के प्रसंग का उल्लेख करते हुए पौराणिक सन्दर्भ के आधार पर शारदातनय ने अपनी मान्यता को पुष्ट करने के लिये कल्पना परक आधार को भी प्रकट किया है। आपका कथन है कि क्रुद्ध होकर शंकर ने जब कामदेव को दग्ध कर दिया तब मानो वेश्या की दृष्टियों से ही प्रभावित होकर इन्होंने कामदेव को पुनर्जीवित कर दिया। आपने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि कुल-स्त्रियों में नायक की ईर्ष्या परक प्रवृत्ति नहीं रहती, क्योंकि ईर्ष्या परक प्रवृत्ति के लिये नायिका के लिये अनेक नायकों की स्थिति अपेक्षित है जो कुलांगनाओं में सम्भव नहीं है। इसी तरह परकीया में निःशंक-केलि सम्भव नहीं, किन्तु वेश्याओं में ये दोनों स्थितियाँ स्वभावतः उद्दीप्त रूप में पायी जाती हैं। इसीलिये वेश्याओं को कामदेव का सर्वस्व माना गया है। इस सन्दर्भ में कुलीना-स्त्रियों से शारदातनय का अभिप्राय स्वकीया वर्ग की नायिकाओं से है और परांगनाओं से

आपका तात्पर्य अन्या वर्ग की नायिकाओं से है। उपर्युक्त विवेचन से यह सर्वथा स्पष्ट है कि शारदातनय ने रुद्रटाचार्य के विचारों का समर्थन करते हुए सामान्या की स्थिति में स्वीकार की गयी वेश्या को भी नायिका रूप में ग्रहण किया है।

शारदातनय ने प्रस्तुत विवेचन प्रसंग में स्वकीया आदि नायिकों की विशेषताओं का परिचयात्मक वर्णन भी उपस्थित किया है। स्वकोया के विषय में आपका कहना है कि अग्नि को साक्षी रखकर समान कुल-शील वाले जिस नायक के साथ इस वर्ग की नायिका का विवाह होता है, उसी नायक की वह नायिका स्वीया (स्वकीया) कही जाती है। पति के अतिरिक्त दूसरे नायक के साथ पति रूप में सम्पर्क करने पर, वही अन्या नायिका कहलाती है। कन्या (कुमारिका) का यदि नायक के साथ इस रूप से सम्बन्ध होता है तो वह भी अन्या कही जाती है, किन्तु वह कुलांगना अर्थात् नायक की स्वकीया नहीं कही जाती। दोनों वर्ग की नायिकाओं के उद्देश्य पर विचार करते हुए शारदातनय का कहना है कि स्वकीया नायिकाएँ भोगेच्छा से ही नायक में प्रवृत्ति रखती हैं, किन्तु अन्या नायिकाएँ भोग के साथ ही साथ धन की भी इच्छा रखती हैं। जहाँ तक साधारणा (गणिका) का सम्बन्ध है वह केवल धन की इच्छा रखती है। स्वीया, सम्पत्ति और विपत्ति दोनों ही अवस्थाओं में प्रिय का परित्याग नहीं करती।

स्वीया, अन्या तथा साधारणा नामक नायिकाओं के मुख्य भेदों की पृथक्-पृथक् विशेषताओं का परिचयात्मक वर्णन प्रस्तुत करने के उपरान्त शारदातनय ने नायिकाओं के मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा नामक उपभेदों का भी परिचयात्मक विवरण उपस्थित किया है। इस प्रसंग में मुग्धा की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उसे रति की इच्छा रखने वाली नवीन अवस्था युक्त बताया है। इसमें शील सत्य तथा सरलता नामक गुण विद्यमान रहते हैं और यह एकान्त में संभोग की लालसा रखती है। यह रति चेष्टाओं में प्रयत्नशील होती है और क्रोध में भी मृदुल तथा अपराध की अवस्था में भी रुदन करती है, किन्तु प्रिय के प्रति अप्रिय वचन नहीं कहती। मध्या पर विचार करते हुए आपका कथन है कि यह रति विषयक केलि में प्रवृत्त होने के लिये प्रिय से प्रार्थना करती है और पुनः स्वयं उसमें प्रवृत्त होकर सम्भोग के श्रम को सहन करती है। यह नायिका पति के अपराधी रहने की दशा में क्रोध से उलहना पूर्ण बातें कहती है। प्रगल्भा पर विचार करते हुए आपका कहना है कि यह बाहर तथा भीतर विवाद आरम्भ करती है और अपराध की स्थिति में क्रोधवश पति के विपरीत कटु वचन बोलती है। इस प्रसंग में शारदातनय ने मध्या नायिका के धीर, अधीर तथा धीराधीर नामक उपभेदों पर भी विचार किया है। रति में श्रान्त होने पर भी धीरा विनय युक्त उपचारों तथा क्रम विहीन

सम्भाषणों द्वारा नायक को प्रोत्साहित करती है, किन्तु अधीरा प्रिय से आश्लिष्ट रहने पर भी रति चेष्टा को नहीं समझ पाती और स्वेद-रोमांच से मन्थर पति को बार-बार प्रसन्न करती है। धीरा जहाँ सापराध पति को दुःखी करती तथा उसकी ओर दृष्टि नहीं मोड़ती वहीं अधीरा अपराध की स्थिति में बार-बार 'हुँ' का प्रयोग करती है। इसके साथ ही साथ सखी के समक्ष केश-कर्षण तथा अपना ताड़न भी करती है। शारदातनय ने धीराधीर नायक नायिका में उपर्युक्त दोनों वर्ग की नायिकाओं के विशेष रूपों का उल्लेख किया है। इसके अनन्तर मध्यमा तथा प्रगल्भा इन नायिकाओं के पृथक्-पृथक् ज्येष्ठा और कनिष्ठा नामक दो-दो भेद बताये हैं। इन ज्येष्ठा और कनिष्ठा के भी उदात्ता, ललिता तथा शान्ता नामक तीन-तीन भेद किये गये हैं। उदात्त नायिका अपनी वेश भूषा, वस्त्रपरिधान, माला एवं अलंकार आदि पर विशेष ध्यान देती है और अपनी शय्या एवं आभरणों के संस्कार में सदा जागरूक रहती है। यह घोड़े, हाथी आदि की वृद्धि करती है। इसका स्नेह स्थायी होता है और यह सदा कृतज्ञता को व्यक्त करती है। पूजनीयों का सम्मान करने वाली, उत्सव मनाने वाली, बन्धु-बान्धवों के समुदाय से प्रसन्न रहने वाली, कृतज्ञा एवं मधुरभाषिण आदि गुणों से सम्पन्न नायिका उदात्ता मानी गयी है। इसके विपरीत अपनी सुन्दरता, ऐश्वर्य, सौभाग्य, विद्या तथा भोग्या होने के कारण अहंकार करने वाली, बन्धुओं का अपमान करने वाली, अभिमानिनी, माया एवं छद्म से युक्त एवं केवल अपने उदर को भरने वाली नायिका उद्धता कहलाती है। शान्ता नायिका मानापमान में सन्तुष्ट रहती है, असूया, अहंमन्यता, मत्सर आदि भावों से दूर रहती है, अपकारियों पर भी उपकार करने वाली तथा अपने बन्धुओं का आदर करने वाली होती है। ललिता नायिका यौवन तथा सौन्दर्य से सम्पन्न एवं अपनी सखियों की क्रीड़ाओं में भाग लेने वाली एवं वस्त्रों, अंगराग, माला को चाहने वाली होती है। समुद्र-तट, पर्वत, नदी आदि इसे अच्छे लगते हैं। यह सम्भोग में रति लेने वाली और विविध शिल्प-कलादि का ज्ञान रखती है। ऊढा (प्रौढा) एवं कन्यका ये दो भेद भी किये गये हैं जो अन्या नायिका के उपभेद हैं। साधारणा का कोई भेद नहीं होता है।

नायिका के अवस्थागत भेद

अवस्था के आधार पर नायिकाओं के खण्डितादि आठ प्रकार बताये गये हैं[1]। खण्डिता नायिका उसे कहते हैं जिसका पति अन्यत्र आसक्त रहने के कारण रात्रि बिता कर प्रातः घर आता है। एवं उसके संभोगमय अपराध चिह्न स्पष्ट दिखायी देते

---

१. भा० प्र०—चतु० अधि० पृ० ९८-१००।

हैं। खण्डिता नायिका तथा भयग्रस्त, चिन्तित एवं मौन रहकर सोचती रहती है और खिन्न होती है। पसीने से लथ-पथ होकर घूमती है और बार-बार दीर्घ निःश्वास लेकर पुनः रुदन एवं विलाप करती हुई इस प्रकार के विकारों को व्यक्त करती है। विप्रलब्धा नायिका में भी पूर्वोक्त विकार उत्पन्न होते हैं, किन्तु यह नायिका अपने पति को समय, संकेत स्थान आदि का निर्देश करती है और उसको बुलाने के लिये दूती को भी भेजती है, किन्तु उसका पति अन्यत्र आसक्त रहने के कारण नहीं आता। इस अवमानना के कारण चिन्ता, निःश्वास, खिन्नता, हृदय सन्ताप, बार-बार मूर्च्छित होना, प्रलाप, जागरण, कृशतादि विकार विप्रलब्धा नायिका में व्यक्त होते हैं। कवि पुंगवों ने वासक-सज्जा उस नायिका को कहा है जो स्वयं वासगृह में समग्र उपभोग के साधनों से सुसज्जित होकर अपने नायक की प्रतीक्षा करती है। इस नायिका के विकारों को विद्वानों ने इस प्रकार कहा है कि यह सखियों के साथ हँसी-मजाक, सम्भोग का ही चिन्तन, तर्क-वितर्क, श्वास-निश्वास एवं दूती के माध्यम से प्रत्यागमन करती है। स्वाधीनभर्तृका नायिका का पति रति क्रीड़ा में प्रसन्न रहकर सदा अपनी नायिका के साथ रहता है। उद्यान-विहार, जल-विहार, पुष्पचयन, मद्यपान, इन्द्रपूजा, वसन्तोत्सव, कामोत्सव आदि विलास स्वाधीनभर्तृका नायिका प्रदर्शित करती है। कलहान्तरिता नायिका अपराधी अपने पति का सखियों के बीच ईर्ष्या एवं क्रोध के कारण पहले तो तिरस्कार करती है, किन्तु बाद में अपने कृत्य पर पश्चाताप करती है। हृदय दाह, भ्रम, मोह, विश्वास, ज्वर, बार-बार विलाप, सभी वस्तुओं में अरुचि आदि विकार इस नायिका के माने गये हैं। उचित दिन आने पर भी जिस नायिका का पति बाहर से नहीं आने पाता उसे विद्वानों ने विरहोत्कण्ठा कहा है। शरीर की थकावट, कम्पन, अनुभूत स्मृतियों से द्वेष, हृदय सन्ताप, अश्रुपात, अपनी सखियों पर विश्वास एवं उन्हें अपनी सारी अवस्था का परिज्ञान आदि कराने के विकारों को यह व्यक्त करती है। प्रोषितभर्तृका उसे कहा जाता है जिसका पति स्वयं समुचित समय निर्देश के पश्चात् भी कार्यन्तर की व्यस्तता के कारण बाहर से नहीं आ पाता और वह जागरण, कृशता, शकुन की प्रतीक्षा, चिन्ता, जड़ता एवं व्यथा से प्रेमादि प्रदर्शित कर अपने मनोभावों को व्यक्त करती है। अभिसारिका नायिका उसे कहा गया है जो सौन्दर्य, यौवन एवं परम्परा प्राप्त धन से सम्पन्न रहती है और वस्त्र, अंगराग, माला, ऋतु, चन्द्रोदय आदि उद्दीपनों से उद्दीप्त होने वाले कामदेव के पाँच बाणों से पीड़ित होने पर भी अपने नायक को अभिसार के लिये प्रवृत्त करती है। अभिसरण के समय नायिका में उत्पन्न चेष्टाओं एवं विकारों का विशद वर्णन हमारे आलोच्य ग्रन्थकार ने किया है और इसके साथ ही साथ वेश्या, प्रेष्या आदि नामों से अभिहित होने वाली इस अभिसारिका के वेश-भूषा, हाव-भाव एवं नायक को आकृष्ट करने का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है।

उत्तमा, मध्यमा एवं अधमा ये तीन भेद नायिकाओं की प्रकृति के आधार पर किये गये प्रतीत होते हैं। उत्तमा नायिका उसे कहा गया है जिसे कुलीन, गुणवान् स्नेहमय व्यक्ति चाहते हैं। यह नायिका किसी कारणवश रूठती है और मनाने पर प्रसन्न हो जाती है। पति द्वारा ईर्ष्या युक्त अपराध करने पर भी चुप रहती है एवं अप्रिय व्यवहार करने वाले अपने नायक का भी प्रिय ही करती है, विद्वानों ने मध्यमा नायिका उसे कहा है जो स्वयं पुरुष की कामना करती है, पति के अपराध करने पर अपराध करती है, प्रेमपूर्वक व्यवहार करने पर प्रेम, असत्य बोलने पर असत्य बोलती है, उपकार के बदले उपकार करती है। अधम नायिका उसे कहा गया है जो पति के रुष्ट होने की चिन्ता नहीं करती। प्रिय सुन्दर हो या कुरूप, तरुण हो या वृद्ध अधम नायिका उसी को चाहती है जो उसे प्रिय लगता है और रोष, ईर्ष्या, कलह आदि भावनाओं से सदा आक्रान्त रहती है। उक्त गुण सभी नायिकाओं में रहते हैं, किन्तु ये गुण स्वीया नायिका में गुप्त रूप से, परकीया में मध्यम रूप से तथा वेश्यादि में प्रकट रूप से विद्यमान रहते हैं।

नायिका के स्वभावगत भेद

विभिन्न प्रकृतियों के अनुसार नायिकाओं के स्वभाव में भी भिन्नता आ जाती है। अतः यहाँ स्वभावगत विशेषताओं के अनुसार नायिका के भेदोपभेदों का वर्णन भरत के मत से किया गया है, जो इस प्रकार हैं[1]—देवशीला, दैत्यशीला, गन्धर्वशीला, यक्षशीला, राक्षसशीला, पतत्त्रिशीला, पिशाचशीला, व्यालशीला, नागशीला, मर्त्यशीला, हस्तिशीला, मृगशीला, मत्स्यशीला, उष्ट्रशीला, मकरशीला, खरशीला, सौकरशीला, हयशीला, महिषशीला, अजशीला, गोशीला। जिसके अंग और उपांग में स्निग्धता व्याप्त रहती है, जो स्वस्थ और मृदु स्वभाव वाली होती है जिसकी पलकें विलम्ब से झपती हैं जो दानशील एवं संगीत में रुचि रखती है, जिसे पसीना कम आता है और नायक के अभिप्राय को समझती है एवं कृतज्ञा है उसे देवशीला कहा गया है। दैत्यशीला नायिका वह कहलाती है जिसका क्रोध स्थिर रहता है और जो धूर्तता एवं अधर्म में रुचि लेती है। इस वर्ग की नायिका निष्ठुर भाषिणी, मद्य-मांस सेवन

---

१. देवदानवगन्धर्वयक्षरक्षःपतत्त्रिणाम् ।
पिशाचनागव्यालानां नरवानरहस्तिनाम् ॥
मृगमीनोष्ट्रमकरखरसूकरवाजिनाम् ।
महिषाजगवादीनां तुल्यशीलाः स्त्रियः स्मृताः ॥

भा० प्र०—पं० अधि० पृ० १०९ पं० १२-१५ ।

एवं प्रदर्शितं शीलं स्त्रीणां भरतवर्त्मना ।

भा० प्र० —पं० अधि पृ० ११२ पं० १३ ।

करने वाली, लोभी एवं चंचलस्वभाव वाली, कलहप्रिया ईर्ष्यालु एवं अस्थिर स्नेह वाली मानी गयी है। गन्धर्वशीला के त्वचा, केश और नयनों को बड़ा ही सलोना कहा गया है। इस वर्ग की नायिका नख-क्षत एवं दन्त-क्षत को अधिक पसन्द करती है। बाग-बगीचे में :उपभोग एवं मुस्कराहट के साथ वार्तालाप करती है। दुबला शरीर, संगीत में रुचि, कम सन्तान वाली, रति प्रिया एवं पुष्पों की शय्या चाहने वाली नायिका गन्धर्वशीला कही गयी है। जिसके शरीर से पसीना कम निकलता है, जो मद्य-गन्ध और मांस की अभिलाषा रखती है, चिरकाल से भूले हुए को प्राप्त करने पर कृतज्ञता पूर्वक मधुर वार्तालाप करती है, कम सोने वाली एवं मेधा सम्पन्न जो नायिका है उसे यक्षांगना कहा गया है। लम्बे-चौड़े शरीर वाली, रूक्ष एवं विशाल नेत्र वाली, रुखे रोमवाली, दिन में नियमित शयन करने वाली, ऊँचे स्तर से बोलने वाली, नखक्षत एवं दन्तक्षत करने वाली, क्रोध एवं ईर्ष्याभाव वाली, कलहप्रिया तथा रात्रि को विचरण करने वाली नायिका को राक्षसशीला कहा गया है। पंछी के स्वभाव वाली प्रतिपत्तिशीला नायिका मानी जाती है। इस वर्ग की नायिका खुले मुँह वाली, जल्दी चलने वाली, दूध तथा उद्यान के फल को चाहने वाली, एक जगह न ठहरने वाली, चंचल एवं तीक्ष्ण स्वभाव वाली, अधिक बोलने वाली और उपचार से पराङ्मुख रहने वाली कही गयी है। जिसके नेत्र, दन्त, ओष्ठ, कर्ण, स्तन, नख एवं अंगुलि आदि अवयव अधिक या न्यून होते हैं, रोमश शरीर वाली एवं भयंकर आवाज वाली, रति के समय कुत्सित आचरण करने वाली, बालकों को भयभीत करने वाली, रात्रि को घूमने वाली, असत्यभाषिणी, मद्य-मांस तथा बलि की इच्छा करने वाली नायिका पिशाचशीला मानी गयी है। व्यालशीला उन नायिका को कहा गया है जो मानापमान का ध्यान नहीं करती एवं जिसकी त्वचा रूखी, स्वर कर्कश एवं आँखें विशाल रहती हैं। धूर्तता एवं धृष्टता इसके स्वाभाविक कार्य होते हैं। नागशीला नायिका निद्राशील, क्रोध करने वाली, वक्र-गामिनी, ताम्रलोचना, गन्धाभिलाषिणी, तीखी नाक एवं भयंकर दान्तों वाली, चंचल स्वभाव एवं फुफकारने वाली होती है। मत्स्यशीला नायिका सरल स्वभाव वाली, मित्रों को प्यार करने वाली, देवता और गुरु में भक्ति करने वाली, क्षमाशील, सेवापरायणा, सदा अहंकार से रहित, सुशील, गन्ध, माल्य और रति में रुचि रखने वाली होती है। कपिशीला नायिका छोटे शरीर वाली, बगीचों में रुचि रखने वाली, पिंगल वर्ण के रोम तथा आँखों वाली, फलों को अत्यन्त चाहने वाली, तीक्ष्ण एवं चंचल स्वभाव वाली, जल्दी क्रुद्ध एवं प्रसन्न होने वाली कही गयी है। हस्तिशीला नायिका को धीर-गम्भीर गतिवाली, आलसी एवं अत्यधिक खाने वाली एवं बहुत देर तक क्रोध तथा प्रसाद करने वाली कहा गया है। मृगशीला नायिका की विशेषताएँ बताते हुए कहा गया है कि यह नायिका शीघ्र चलती है, चंचल, भीरु, गीत और वाद्य में रुचि रखने वाली, चंचल

तथा विस्तीर्ण नेत्रों वाली, क्रोधी, विरह को न सहन करने वाली, वन में शयन तथा निवास चाहने वाली होती है। मत्स्यशीला उस नायिका को कहते हैं जिसके पास बहुत से नौकर-चाकर होते हैं जो दूर तक चलने में समर्थ है, पानी पसन्द करने वाली, लम्बे शरीर वाली, दुराचारिणी और अपलक नेत्रवाली होती है। उष्ट्र-शीला नायिका की स्वभावगत विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह कठोर आवाज वाली, कड़वे, खट्टे और लवण रस वाले पदार्थों में रुचि रखने वाली, लम्बी और ऊँची ग्रीवा वाली और लम्ब्रोष्ठी होती है। मकरसत्त्वा नायिका, बड़ा सिर और संकुचित ग्रीवा वाली बतायी गयी है। खुले मुँह वाली एवं भारी आवाज वाली, मत्स्यशीला नायिका के शेष सभी गुणों से सम्पन्न नायिका मकरसत्त्वा कही गयी है। जिसकी जिह्वा, होठ और दन्त बड़े होते हैं, जो रूखी चमड़ी वाली, कटुभाषिणी, सदा प्रसन्न रहने वाली एवं रति में विशेष अनुरक्ति रखती है उसे खरशीला नायिका कहा गया है। सूकरशीला नायिका सपत्नी से द्वेष रखती है, सदा रुष्ट रहती है, अधिक सन्तान वाली होती, गुफा में निवास चाहने वाली, बड़े मुँह वाली, पिंगलवर्ण की आँखों तथा रोमावली से युक्त रहती है। हयशीला नायिका उसे कहा गया है जिसके पार्श्व, ऊरु, कटि, स्तन, श्रोणि और शिरोधरा विभक्त रहते हैं। इस नायिका के सीधे और स्थूल केश होते हैं, यह मधुर भाषिणी, क्रोधी स्वभाव वाली एवं रति क्रीड़ा में लवलीन रहने वाली होती है। महिषशीला का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस नायिका के बड़े दन्त, चौड़ी कमर, रूखे रोम, लाल आँख, उन्नत मुँह होता है, यह लोक-द्वेषिणी, रतिप्रिया एवं जल तथा वन को चाहने वाली होती है। कृश शरीर वाली, चंचल दृष्टि वाली, सूक्ष्म रोमवाली, दुबली भुजाओं वाली, शीत से डरने वाली, जल से दूर रहने वाली, अधिक सन्तति वाली, वन में खुश रहने वाली, गरम शरीर वाली, बहुत चलने फिरने वाली नायिका को अजशीला कहा गया है। जिसका कटिभाग चौड़ा, मोटा तथा उन्नत होता है जिसकी जंघाएँ दुबली हैं और जो मित्रों से प्रेम रखती है, माता-पिता और देवता के पूजन में लगी रहती है और जिसका प्रत्येक कार्य दृढ़ता पूर्ण होता है जो प्रजा का कल्याण करती है एवं स्थिर स्वभाव वाली तथा क्लेश सहन में समर्थ है, उसे गोशीला नायिका माना गया है।

नायिका यौवन भेद

शारदातनय ने सभी प्रकार की नायिकाओं के यौवन को चार भागों में विभक्त किया है जिन्हें इस प्रकार जाना जा सकता है[1]। प्रथम यौवन, द्वितीय यौवन, तृतीय यौवन एवं चतुर्थ यौवन। इन यौवन भेदों के माध्यम से नायिकाओं की मनःस्थिति

---

१. स्त्रीणां प्रायेण सर्वासां यौवनं च चतुर्विधम्।

भा० प्र०—पं० अधि० पृ० १०३, पं० १०।

एवं उससे उत्पन्न चेष्टाओं से नायक के प्रति अनुरक्ति तथा विरक्ति का भी सहज में ज्ञान हो जाता है। प्रथम यौवन में नायिका के नेत्रों में अनुराग झलकने लगता है, अधर पूरी तरह से अरुण हो जाते हैं, वदन, काम के अङ्कुरित होने से मोहक हो जाता है, कपोलों पर अभिमान जन्य रज दिखायी देने लगता है, प्रत्येक अंग में लावण्य खिल उठता है, वदन से सुगन्ध निकलने लगती है, स्तन कुछ-कुछ उठने लगते हैं, अंगों की सन्धियाँ परस्पर मिलने लगती है, रूप में सौम्यता एवं अंगों में कोमलता छा जातो है। इस अवस्था की नायिका में ये चेष्टाएँ होने लगती है—वह रति जन्य क्लेश सहन नहीं करती, कोमल स्पर्श चाहतो है और अपने अंग सँवारने में लगी रहती है, सखियों के साथ खेलना चाहती है एवं नायक के प्रति न तो अनुरक्ति और न ही विरक्ति की चेष्टाएँ प्रदर्शित करती है। द्वितीय यौवन में प्रविष्ट नायिका का स्तन मण्डल पीन हो जाता है, शरीर का पूर्ण विकास हो जाता है, नितम्ब फैल जाता है, मध्यभाग कृश एवं कटिभाग उन्नत हो उठता है। रोमावली स्पष्ट हो जाती है नाभि भिन्न एवं बलित्रय से व्यक्त हो जाती है, बाँधे हाथी के सूंड़ के समान, हाथ पैर लाल हो जाते हैं और पूरे अंगों, केश, नयन और दन्तपंक्ति में स्निग्धता खिल उठती है। द्वितीय यौवन में प्रविष्ट नायिका, नायक के किसी अपराध को सहन नहीं करती, अनुनय-विनय करने पर भी प्रसन्न नहीं होती, प्रणय में क्रोध और ईर्ष्या से भरी रहती है, अपनी सौत से डाह करती है, समान अभिप्राय वाली सखियों से स्नेह करती है, विश्वस्त बान्धवों पर क्रोध करती है, हठ पूर्वक मान धारण किये रहती है, बहुत मान-मनोबल कराती है और एकान्त में रतिक्रीड़ा पसन्द करती है। तृतीय यौवन अवस्था को प्राप्त नायिका कामक्रीड़ा में अत्यन्त निपुण हो जाती है, अपने प्रिय के प्रति अनुकूल रहती है, नायक के अपराध पर ध्यान नहीं देती, अपनी सौत से द्वेष नहीं करती, अपने प्रिय को कभी नहीं छोड़ती और बड़ी ही कुशलता से अपने नायक को आकृष्ट करने की चेष्टाएँ करती है। चतुर्थ यौवन में प्रविष्ट नायिका की ये अवस्थाएँ हो जाती हैं—उसके कटिभाग, स्तन, जांघ, नितम्ब, अधर और मुख का मांस सूख जाता है, अंग जर्जर हो जाते हैं और कपोल लटक जाता है। इस वर्ग की नायिका अशक्त हो जाती है, रति, व्यायाम, क्रीड़ा मे उसका उत्साह नहीं रह जाता, सौत आदि से अनुकूल व्यवहार करती है अपने प्रिय के साथ ही उठने बैठने लगती है।

नाटक के प्रयोक्ता

नाटक में वर्णित विषय को अभिनय प्रक्रिया के माध्यम से प्रेक्षकों के समक्ष प्रस्तुत करने का दायित्व नटों पर ही होता है। संगीत एवं नृत्यादि की जो भी स्थितियाँ नाट्य रस की उत्पत्ति के लिये नाटकोपयोगी रहती हैं उन्हें नट ही अपने अभिनय क्रम से प्रेक्षक के समक्ष उपस्थित करता है। नाट्य शास्त्र के समस्त

रूपों का सांगोपांग निरूपण करने वाले आचार्य शारदातनय नटों की नाट्य विषयक भूमिका से पूर्णरूपेण अवगत हैं। नाटक के प्रयोक्ताओं का विवेचन करते हुए आपने प्रत्येक के स्वरूप एवं कर्म का यथावत् प्रतिपादन किया है। नाट्यकर्म में उपयोगी व्यक्तियों की चर्चा करते हुए इस विषय में सर्वप्रथम सूत्रधार तदुपरान्त नट, नटी, पारिपार्श्विक, कुशीलव और विदूषक का उल्लेख किया गया है[1]। नाट्यकर्म के प्रयोक्ता को शैलूष, भरत, भाव, नट इत्यादि नामों से पुकारा जाता है। शैलूष पर विचार करते हुए शारदातनय का कहना है कि अनेक रूपात्मक शील वाले इस लोक के भावों को जो भूमिका रूप में प्रवेश करते हुए दृष्टिगोचर बनाता है उसे इसी कार्य विशेष के आधार पर शैलूष की संज्ञा दी जाती है। 'भृ' धातु की धारण प्रकृति के आधार पर शारदातनय ने 'भरत' पद के लोकसम्मत व्यवहार पर विचार किया है। आपका कहना है कि भाषा, वर्ण, उपकरण आदि द्वारा अनेक प्रकृति से उत्पन्न वेश, वय, कर्म चेष्टा को धारण करने के फलस्वरूप ही ऐसे व्यक्ति को भरत कहा गया है। नट पर विचार करते हुए उसे इस प्रकार का नाट्य-कर्म प्रयोक्ता स्वीकार किया गया है जो किसी अतीतकालीन लोक वृत्तान्त को रस-भाव से समन्वित रखते हुए स्वाभाविक की तरह अभिनीत करता है उसे नट कहा जाता है।

इस सन्दर्भ में शारदातनय ने सूत्रधार के विषय में भी विचार किया है। काव्य निक्षिप्तविषयवस्तु, नायक, कथा एवं रस आदि को एकसूत्रित करता हुआ जो व्यक्ति नान्दी श्लोक के माध्यम से परिचय प्रस्तुत करता है उसे सूत्रधार कहा गया है। अर्थात् किसी व्यक्ति को सूत्रधार कहने का मूल आधार यही है कि वह नाट्य विषय के सभी अंगों तथा उपागों को एक सूत्र रूप में उपस्थित करता है। इस विषय में शारदातनय ने पुनः स्पष्ट कर दिया है कि सूत्रधार, नायक, कवि और वस्तु के समस्त गुणों को एक सूत्र में बाँधता है और वह रंग प्रसाधन में प्रौढ़ होता है। इसी प्रकार पारिपार्श्विक के कर्तव्यादि की चर्चा करते हुए आपने स्पष्ट कर दिया है कि भरत द्वारा जो नाना रसाश्रय भाव अभिनोत किये जाते हैं उन्हें परिष्कृत करने वाला पार्श्वस्थ व्यक्ति ही पारिपार्श्विक कहा जाता है। वीणा बजाने में निपुण, वक्ता, मधुर-वाक्, गीत और तालादि को जानने वाला तथा उनका प्रयोग करने

---

१. सूत्रधारः प्रथमतो नटः पश्चात् ततो नटी।
स पारिपार्श्विकः पश्चात्ततस्ते च कुशीलवाः॥
विदूषकेण सहिता नाट्यकर्मोपयोगिनः।
नाट्यकर्मप्रयोक्ता यः स तद्विद्भिरुदीर्यते॥
भा० प्र०—दश० अधि० पृ० २८७, पं० १८-२१।

वाला व्यक्ति ही सूत्रधार होता है। इस प्रकार सूत्रधार के विषय में शारदातनय ने जहाँ एक ओर सूत्रधार पद की रचना प्रकृति के साथ लोकसम्मत उसके अर्थ परक रूप का परिचयात्मक वर्णन किया है वहीं दूसरी ओर उसके विशेष-गुणों तथा नाट्य विषय में दिखायी देने वाली उसकी उपयोगिताओं पर भी प्रकाश डाला है।

सामान्य गुण

नटों के सामान्य गुणों पर विचार करते हुए शारदातनय का कहना है कि[1] उज्ज्वल, रूपवान् और राजा का उपकार करने वाले, मेधावी, विधान-विशेषज्ञ, अपने कार्य में दक्ष तथा सूत्रधार द्वारा संकेतित कार्य को उपस्थित करने में सहायक, निपुण एवं उद्देश्य के अनुरूप प्रयोग करने वाले व्यक्ति नाट्य में नट होते हैं।

कुशीलव—इनकी चर्चा करते हुए शारदातनय का कथन है कि कर्म, वाक् तथा अंग की चेष्टाओं द्वारा अनेक भूमिकाओं के माध्यम से स्वाभाविकता को उपस्थित करते समय जिनकी कुशलता प्रकट होती है, उन्हें 'कुशीलव' कहा जाता है। कुशीलव भी वीणा बजाने में निपुण, उसके भेदों को जानने वाले, कलाओं में निपुण, साधन तथा अभिनय को जानने वाले और सभी भाषाओं में दक्ष होते हैं। शारदातनय ने नट की गृहणी को नटी कहा है और उसे नाट्यव्यापारों में नट का सहयोग करने वाली माना है। विनोद के प्रसंगों में सर्वत्र विदूषक का प्रयोग किया जाता है। रतिमूलक-विषयों में सहयोग करने वाले व्यक्ति के रूप में विट का उपयोग किया जाता है। इस सन्दर्भ में विद्वान् आचार्य ने विदूषक एवं विट के कर्तव्यों तथा विशेष गुणों का भी वर्णन किया है और विदूषक को वेदवित् तथा नायक का नर्मवित् अर्थात् नायक के समस्त गूढ़ भावों से परिचित बताया है और यह भी निर्देश किया है कि वह लड़खड़ाने वाला पिंगल नेत्रों वाला, हास्य की कला से विभूषित, पिंगल केश, हरित श्मश्रु एवं नृत्य कुशल भी होता है। इसी तरह विट की विशेष स्थितियों का परिचयात्मक वर्णन प्रस्तुत करते हुए उसे वेश्या को अनुकूल करने में कुशल, मधुर, दक्षिण, कवि, ज्ञानवान्, वक्ता एवं चतुर कहा गया है। इसके साथ ही साथ इसे मालाओं द्वारा अलंकृत, अकारण ही क्रुद्ध एवं प्रसन्न होने वाला, प्राकृत बोलने वाला तथा प्रायः अनेक विकारों वाला माना गया है। तीन प्रकृति वाले राजाओं की विशेष स्थितियों

---

१. उज्ज्वला रूपवन्तश्च नृपोपकरणक्रियाः।
मेधाविनो विधानज्ञाः स्वस्वकर्मणि पण्डिताः॥
सूत्रधारहिता दक्षा यथोद्देशप्रयोगिनः।
एभिरेव गुणैर्युक्ता नटा नाट्ये भवन्ति हि॥

भा० प्र०—दशम अधि० पृ० २८८ पं० १५-१८।

के अनुसार नाट्य के प्रयोक्ता पुरुष वर्ग वालों का विशेष विवरण दिया गया है। जहाँ तक स्त्री वर्ग का सम्बन्ध है इसमें महिषी, महादेवी, सहभोगिनी, देवी, आश्रिता, नाटकीया, कामुका, शिल्पकारिका, अन्तःपुरिका, परिचारिका, शय्यापाली, छत्रपाली, चामरधारिणी, संवाहिका, गन्धयोक्त्री (गन्धलेपन करने वाली) माला तथा आभूषणों की योजना आदि करने वाली को अनुचारिका कहा है। इस सन्दर्भ में संचारिका को भी नाना प्रकार के कक्षों की अधिष्ठात्री, तपोवन की भूमिका में उपस्थित होने वाली, देवताओं की पूजा, क्रीड़ा तथा हर्म्य और प्रासाद से सम्बन्ध रखने वाली बताया है। संचारिकाओं (अनुचारिकाओं) के अनेक भेद हैं—पान लाने वाली, वेत्रधारिणी, असिधारिणी, आह्वान करने वाली, भेजने वाली और रात्रि में जागरण करने वाली। ये सभी अवस्थाओं में राजा के पास ही रहती हैं और इन्हें अनुचारिका भी कहा गया है। अन्तःपुर के सेवक भी अनेक हैं—महत्तरी, प्रतिहारी, बृद्ध सेविकाएँ, बृद्ध कञ्चुकी, किरात, कुब्ज, वामन, निर्मुण्ड, अभ्यागार, गूंगें आदि हैं, जिन्हें इस प्रकार जाना जा सकता है—

शारदातनय ने प्रत्येक का पृथक्-पृथक् लक्षण बताते हुए मूर्द्धाभिषिक्ता को राजमहिषी कहा है जो समान कुल तथा शीलवाली होती है और इसे सपत्नियों से अनभिज्ञ एवं धर्म-पूर्वक रहने वाली कहा गया है। महादेवी की चर्चा करते हुए कहा है कि इस वर्ग की नायिका अन्तःपुर को चाहने वाली, साध्वी, शान्त एवं कल्याण वचनों से युक्त, ईर्ष्या हीन, पति के शील को समझने वाली एवं पतिव्रता होती है। महादेवी के गुणों से युक्त कुछ सत्कारहीन, गर्वीली, रति-सम्भोग में तत्पर, ईर्ष्यालु, रूप एवं यौवन से सम्पन्न नायिका राजा द्वारा देवी कही जाती है। नित्य अलंकृत रहने वाली शील-रूप गुणों से युक्त, भोगकाल में स्वयं रति में अग्रसर होने वाली, सपत्नियों को न सहने वाली भोगिनो मानी गयी है। आश्रिता उसे कहा जाता है जो स्वयं भोग के उपकरणों को सजाती है, राजा से कृत्रिम (छद्म) व्यवहार करती है, ईर्ष्या हीन, भोग में निपुण और दयालुता पूर्ण होती है। राजा की गेय वस्तुओं को गाने वाली, रति मन्दिर में शृङ्गार चेष्टाओं से पति के काम को उत्तेजित करने वाली, मुख पाठ के साथ नृत्य भी करने वाली, नाटकीया मानी गयी है। जो नायिका देश काल को नहीं जानती पति के बैठने पर बैठती है, चलने पर पीछे चलती है, भोजन करने के पश्चात् स्वयं भोजन और शयन करती है उसे कामुका कहा गया है। वस्त्र, अंगलेप, आभूषण, माला तथा शिल्प का विधान करने वाली, विचित्र प्रकार की सुरत-क्रीड़ा वाली, पति को विचित्रता का बोध कराने वाली, शयन, आसन एवं शिल्प को जानने वाली, शिल्प कारिका कही गयी है। काम, उपभोग, सम्भोग, गुह्य तथा अगुह्य के समर्थन में राजा द्वारा जिन स्त्रियों का प्रयोग किया जाता है उन्हें प्रेक्षणिकाएँ कहा गया है। अन्तःपुर में निवास करने वाली जो स्त्रियाँ आशीर्वाद एवं

स्वस्ति वाचनादि से नित्यप्रति देवी का कुशल पूछती हैं उन्हें महत्तरी कहा गया है। पाँच वर्ष से अधिक एवं दस वर्ष से न्यून आयु वाली कुमारियाँ कही गयी हैं। इन कुमारियों में प्रतिहारी का भी अभिधान किया जाता है। ये प्रतिहारियाँ सदा कुमारियों के साथ अन्तःपुर में समाचार देती हैं। रति-सम्भोग से सर्वथा शून्य, लज्जालु, अन्तःपुर में विचरण करने वाली ये कुमारियाँ कुलजा भी कहलाती हैं। राजा के अन्तःपुर में इनका लालन पालन अन्तःपुर की वधुओं द्वारा किया जाता है। बृद्धा उन्हें कहते हैं जो पूर्ववर्ती राजाओं की नीति से परिचित, उनसे सम्मानित एवं उनके सेवा कार्यों का पूर्ण ज्ञान रखती हैं और ये प्रहसन पूर्ण वाक्यों द्वारा सुन्दर कथाओं को कहती हुई अन्तःपुर की रानियों का मनोविनोद करती हैं। फल-मूल, औषधि, माला, गन्ध, आभूषण, वस्त्र, भाण्डायुध आदि आसनों वाली ये आठ आयुक्तिकाएँ कही गयी है। ये अन्तःपुर की परिचरिकाएँ हैं जो अपने नामानुकूल कार्य तथा व्यवहार करती हैं। कामभावना से रहित, ब्राह्मण-जातीय, ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न, कञ्चुक को पगड़ी तथा छड़ी युक्त व्यक्ति को विद्वानों ने कञ्चुकी कहा है। अल्पप्राण, स्त्री स्वभाव वाले, नपुंसक, स्वयं निष्काम अथवा जन्म से काम विहीन जो होते हैं उन्हें वर्षवर के नाम से पुकारा जाता है। जंगल के फल-मूलों का आहार करने वाले, पल्ली (छोटागाँव) और पर्वत के निवासी, स्त्रियों के चरित्र तथा भाषा के ज्ञाता, हुड्डी (चिबुक) वाले और कठोर अंगों वालों को किरात कहा गया है। राजाओं को चाहिये कि इन किरातों का अन्तःपुर के दण्ड विधान में प्रयोग करें। कर्ण-वेध से रहित, नपुंसक, छोटे शरीर वाला, भयंकर दातों वाला, अन्तःपुरचारी तुन्दिल (बड़े पेट वाला) व्यक्ति ही औपस्थायिक कहा जाता है। बहुओं के उपस्थापन में औपस्थायिक का प्रयोग किया जाता है। अज्ञात कामना वाला और कोष हीन व्यक्ति निर्मुण्ड कहा गया है, और इसका उपयोग बहुओं के प्रस्थापन में होता है। पुरुष और स्त्री के चिह्नों से रहित, स्वल्प स्तन तथा थोड़ी दाढ़ी वाला व्यक्ति अभ्यागार कहा गया है। अभ्यागार के अधिकारी सभी अवस्थाओं में सर्वदा राजाओं के आदेश का पालन करने वाले होते हैं। कुहक की आवाज से सदा हँसाने वाला पात्र, मूक कहलाता है। नट को इन सबका ज्ञान अवश्य करना चाहिये।

सभासद

शारदातनय ने सभासदों की गणना करते हुए राजा, सेनापति, युवराज, पुरोहित, प्राश्निक, प्राड्विवाक और आयुक्त की चर्चा मुख्य रूप से की है[1]। सभा-

१. राजा सेनापतिश्चैव युवराजः पुरोहितः।
प्राश्निकाः प्राड्विवाकास्त आयुक्ताः सचिवास्तथा ॥
एते समासदः कार्याः प्राश्निकाः प्रागुदाहृताः ॥
भा० प्र०—दशम अधि० पृ० २९३ पं० १९-२१।

सदों के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ये लोग अनेक भावों के ज्ञाता, विविध कलाओं के विद्वान्, शयन, आसन, लेख्य, अलंकरण, परिहास, संकेतज्ञ, वीणावादन विशेषज्ञ, नृत्त-गीत में कुशल मनस्वी, मानधनी, तर्क-वितर्क में प्रवीण, स्त्री एवं अर्थ विषयक विषयों में शुद्ध भाव रखने वाले होते हैं। इन सदस्यों के अतिरिक्त कभी-कभी वैतालिक, बन्दीजन, नान्दी, मंगल पाठ करने वाले सूत और मागध को भी सदस्य कोटि में रखा जाता है। विद्वान् आचार्य ने इनके लक्षणों का प्रतिपादन करते हुए भिन्न-भिन्न अवसरों के योग्य रागों द्वारा भिन्न-भिन्न समय बोधक श्लोकों द्वारा तत्काल ही ताल सहित गीत गाने वाले को वैतालिक कहा है। वैतालिक इस गीत को स्वयं गाता है या यह गीत किसी अन्य व्यक्ति के मुख से अथवा नेपथ्य में गाया जा सकता है। वन्दनीय राजा की सम्पत्ति, कुल, वीर्य तथा उसके गुणों की स्तुति करता हुआ जो व्यक्ति राजा के उत्कर्ष को व्यक्त करता है, उसे बन्दी कहा गया है। आशीर्वाद से युक्त-मंगल सूचक भाव को व्यक्त करने वाले वाक्यों द्वारा जो स्तुति गान करता है उसे नान्दी मंगल पाठक कहा गया है। राजाओं को प्रसन्न करना नान्दी मंगल पाठक का उद्देश्य होता है। राजाओं के सुखद शयन का ज्ञान रखने वाला, प्रातः स्तुति करने वाला एवं सवन (स्नान) सम्बन्धी कार्यों का बोधक व्यक्ति सूत कहा गया है। राजा के पुरवासियों के भी मंगल को व्यक्त करने वाला तथा आदर पूर्वक मागधिक गीतों से स्तुति करने वाले व्यक्तियों को मागध कहा जाता है।

प्रेक्षक

शारदातनय ने नाट्य में सहायक विविध उपयोगी अंगों तथा पात्रों की स्थितियों पर विचार करते हुए प्रेक्षक, नट एवं प्राश्निकादि के विशेष गुणों पर भी प्रकाश डाला है। इस सन्दर्भ में प्रेक्षक पर विचार करते हुए आपका कहना है कि यश और धर्म में रत रहने वाला, शान्त स्वभाव वाला, अभिजनोचित चरित्र वाला, षडंग नाट्य में कुशल अर्थात् नाटक के सभी अंगों को समझने में चतुर, वीणावादन में प्रवीण, पवित्र, अभिनयज्ञ, रस-भाव विवेचक, नेपथ्य के देश एवं भाषा को समझने वाला, कला एवं शिल्प का ज्ञाता, शब्द, छन्द तथा अभिव्यक्ति के स्वरूप को जानने वाला, सब तरह के सिद्धान्तों तथा तत्त्वों को जानने वाला, मत्सर एवं दोष से रहित व्यक्ति ही प्रेक्षक होता है[1]। इसी तरह नट पर विचार करते हुए

---

१. यशो धर्मरतः शान्तः श्रुताभिजनवृत्तवान्।
षडङ्गनाट्यकुशलः चतुरातोद्यविच्छुचिः॥
चतुरोऽभिनयज्ञश्च रसभावविवेचकः।
नैपथ्यदेशभाषाज्ञः कलाशिल्पविचक्षणः॥
शब्दच्छन्दोऽभिधानज्ञः सर्वसिद्धान्ततत्त्ववित्॥

मा[illegible]—अष्टम अधि० पृ० २२६ पं० १०-१५।

शारदातनय ने नट को प्रेक्षक के सभी गुणों से युक्त बताने के साथ ही साथ उसकी कतिपय विशिष्ट स्थितियों पर भी विचार किया है जो नट को प्रेक्षक से पृथक् करती हैं। नट विषयक इन विशिष्टताओं का उल्लेख करते हुए विद्वान् आचार्य ने नट को नाट्य के प्रयोग में सर्वथा कुशल बताया है। नट संकेत एवं आकृति-मूलक चेष्टाओं की मूकवाणी के अर्थ से सुपरिचित होता है और अनेक प्रकार की प्रकृति एवं शील को समझने वाला होता है। यह शिल्प का ज्ञाता होने के साथ ही साथ ऐसी भावनात्मक अवस्था वाला होता है, जो नायक के साथ इसके साधारणीकरण में सहायक होती है। शारदातनय ने नट को विभिन्न प्रकार के रंगों तथा अनेक रंगों के मिश्रण से जायमान विशेष रूपों को जानने वाला भी बताया है। नट के अतिरिक्त प्राश्निक की विशेष दशाओं का भी उल्लेख किया गया है। इसे नट तथा प्रेक्षक दोनों के पूर्वोक्त गुणों से युक्त बताते हुए यज्ञ का ज्ञाता, नर्तक, छन्द एवं शब्दों को समझने वाला अभीष्टार्थ के अनुरूप चित्र बनाने वाला, वेश्या, गान्धर्व तथा राजसेवक आदि में से कोई एक स्वीकार किया गया है। आपका कहना है कि संघर्ष उत्पन्न होने पर उपर्युक्त राजादिक ही प्राश्निक माने जाते हैं। इस विषय में नर्तक, राजा, चित्रकृत, वेश्या, गान्धर्व तथा राजसेवक की पृथक्-पृथक् संक्षिप्त परिचयात्मक चर्चा भी की गयी है[1]।

नाटक का वर्गीकरण

नाटक के वर्गीकरण में शारदातनय ने सुबन्धु के मत का उल्लेख किया है। वस्तुतः विषय निरूपण के सन्दर्भ में शारदातनय को जहाँ कहीं किसी आचार्य के विचार का मतभेद परक उल्लेख अभीष्ट रहा है वहाँ अपने मत का विस्तृत विवेचन करते हुए विपरीत मत का केवल संकेतग्राही उल्लेख मात्र आपने किया है। जहाँ तक नाटक सम्बन्धी सुबन्धु के वर्गीकरण का सम्बन्ध है शारदातनय ने इस मत से सम्बद्ध नाटक भेदों का यथाविधि विवेचन भी किया है। साथ ही साथ नाटक के इन भेदों के विपरीत यहाँ किसी दूसरी प्रक्रिया का उल्लेख नहीं किया गया है। अतः इस सम्बन्ध में यही कहना सर्वथा युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि शारदातनय आचार्य सुबन्धु के मत से सहमत हैं। आपने सुबन्धु के अनुसार नाटक के पाँच भेद बताये

---

१. नटप्रेक्षकयोरुक्तगुणैरेतैर्विभूषितः।
यज्ञविन्नर्तकश्चैव छन्दोविच्छब्दविन्नृपः॥
इष्टार्थश्चित्रकृद् वेश्या गान्धर्वो राजसेवकः।
समुत्पन्ने च सङ्घर्षे प्राश्निकास्ते भवन्ति हि॥

भा० प्र०—अष्टम अधि० पृ० २२६-२२७ पं० २१-२२ एवं १-२।

हैं[1]—१. पूर्ण, २. प्रशान्त, ४. भास्वर, ४. ललित, ५. समग्र। पूर्ण नामक नाटक में मुखादि पाँच सन्धियों का रहना आवश्यक बताया गया है और '-कृत्यारावण' (अप्रकाशित; नामक नाटक को पूर्ण नाटक के उदाहरण रूप में उपस्थित किया गया है। प्रशान्त की चर्चा करते हुए उसे रस भूयिष्ठ, न्यास युक्त, बीज गर्भ अनुदिष्ट संहार, पंच-सन्धिमय ओर सात्त्विक-वृत्ति वाला कहा गया है। इस विषय में प्रशान्त नाटक के लिये सात्त्विक वृत्ति की उपयोगिता के विषय में आचार्य द्रौहिणी के एक मात्र विचार का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत संकेत के अनुसार द्रौहिणी ही एक ऐसे आचार्य प्रतीत होते हैं जिन्होंने प्रशान्त नाटक में सात्त्विक वृत्ति को आवश्यक बताया है। "स्वप्नवासवदत्तम्" नामक नाटक को प्रशान्त का उदाहरण बताया है और इसमें न्यास, वीजोक्ति तथा बीजदर्शन आदि उन समस्त स्थितियों का उल्लेख भी किया गया जो प्रशान्त नाटक के लिये आवश्यक हैं। प्रशान्त नाटक में रसमयता की दशा आवश्यक बतायी गयी है। भास्वर नामक नाटक पर विचार करते हुए उसे भारती-वृत्ति वाला एवं वीर और अद्भुत रसों का आश्रय कहा गया है। "बाल-रामायण" को भास्वर संज्ञक नाटक के उदाहरण रूप में उपस्थित किया गया है। शारदातनय ने भास्वर के विषय में वृत्ति एवं रस के अतिरिक्त सन्ध्यादि किसी नाटक अंग की चर्चा नहीं की है और बाल-रामायण के किसी प्रसंग विशेष का भी कहीं उल्लेख नहीं किया है। ललित नामक नाटक को कैशिकी-वृत्ति वाला तथा शृङ्गार नामक एक ही रस का आश्रय बताया है। यह एक ऐसा नाटक रूप है जिसमें कैशिकी वृत्ति के सहारे शृङ्गार रस की ही निष्पत्ति का प्रयास विद्यमान रहता है। ललित के उदाहरण रूप में उर्वशी वियोग की चर्चा की गयी है। इत सम्बन्ध में विलास, विप्रलम्भ, विप्रयोग, विशोधन, उद्दिष्टार्थोपसंहार तथा पाँच सन्धियों का भी उल्लेख किया गया है। विलास की चर्चा करते हुए उसे नायक आदिकों का ऋतु के अनुरूप रति सेवन बताया गया है। वत्सराज के वसन्तोत्सव वर्णन में विलास की स्थिति स्वीकार की गयी है। विप्रलम्भ की चर्चा करते हुए नायक-नायिकाओं का ईर्ष्या तथा किसी व्याज से पृथक् रहना ही स्वीकार किया गया है। वत्सराज का वासवदत्ता से पृथक् रहना विप्रलम्भ की ही स्थिति प्रकट करता है। शाप के प्रभाव से घटित होने वाले विप्रलम्भ की कलात्मक सीमा एक वर्ष की बतायी गयी है। इस सम्बन्ध में शर्मिष्ठा और ययाति के प्रसंग को उदाहरण रूप में उपस्थित किया गया है। लोकनिन्दा के भय से दोष शोधन के कार्य को विशोधन कहा गया है। समग्र नामक नाटक भेद की चर्चा करते हुए उसे सम्पूर्ण वृत्तियों से सम्पन्न तथा सर्व-लक्षण युक्त कहा गया है और "महानाटक" को समग्र नाम का प्रतिनिधि बताया गया है। समग्र नाटक में उपक्षेप, परिकर, परिन्यास और विलोभन

---

१. भा० प्र०—अष्टम अधि० पृ० २३८, २४१ पं० ४।

नामक अगों का निधान आवश्यक बताया गया है। प्रशान्त नामक पूर्व वर्णित नाटक में शारदातनय ने युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान और परिभावन को आवश्यक बताया है। भास्वर नाटक में आज्ञा, अपवाद, संफेट, प्रसंग, विद्रव और संग्रह का अंगों के साथ सन्निवेश आवश्यक कहा है। ललित नाटक में विरोध, प्रवण, पर्युपासन, पुष्प तथा वज्र का सन्नियोजन आवश्यक माना है। इस प्रकार सुबन्धु के नाटक भेद विषयक मत का उल्लेख करते हुए शारदातनय ने नाटक के प्रत्येक भेद का सम्यक् विवेचन किया है।

शारदातनय ने हर्ष की मान्यताओं का उल्लेख करते हुए उनके अनुसार त्रोटक को भी नाटक का ही एक भेद बताया है। इस सम्बन्ध में तोटक की दिव्य-मानुष-संयोगादि विशेषताओं का भी उल्लेख किया गया है। इस सम्ब्रन्ध में आपका कहना है कि अन्य विद्वान् त्रोटक को नाटक का भेद स्वीकार नहीं करते, क्योंकि त्रोटक में नाटक की व्यापकता का अभाव रहता है। कुछ विद्वानों ने ९,८,७ तथा ५ अंक वाले ऐसे त्रोटक को नाटक से उत्पन्न भेद रूप में स्वीकार किया है जिसमें दिव्य-मानुष संगम विद्यमान हो। शारदातनय की अपनी दृष्टि के अनुसार उस प्रकार का तोटक, नाटकानुसारी होता है। विवेचन क्रम को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि शारदातनय ने तोटक को नाटक का अनुसारी स्वीकार करते हुए भी उसे नाटक का भेद नहीं माना है। तोटक के सन्दर्भ में उसके नवाङ्क, अष्टाङ्क, सप्ताङ्क तथा पञ्चाङ्क रूपों वाले विविध ग्रन्थों का उल्लेख भो किया है।

शारदातनय ने अङ्कों के आधार पर भी नाटक के दो रूपों का उल्लेख किया है जिनमें पाँच अङ्क वाले नाटक को अपर तथा दस अङ्क वाले नाटक को पर कहा है। प्रस्तुत प्रसंग में नाटकी गुण परक, भाव तथा शैली परक विशिष्ट स्थिति का भी उल्लेख किया है। इसके अनुसार वीर तथा शृङ्गार रसों में से एक का अङ्गीरस रूप में प्रस्तुत रहना आवश्यक है। नाटक को उपमा, रूपकादि अलंकारों से सुशोभित रहना चाहिये। इसमें रामायण अथवा इतिहास प्रसिद्ध कोई आधिकारिक कथावस्तु रहनी चाहिये। साथ ही नाटक का नायक भी धीरोदात्तादि गुणों से युक्त कोई देव अथवा मनुष्य होना चाहिये। अर्थोपक्षेपकों से युक्त ३६ भूषणों से देदीप्यमान, अर्थ-प्रकृतियों, अवस्थाओं, सन्धियों तथा सन्ध्यन्तरों से परिपूर्ण, पताका-स्थानक युक्त, अंग सहित वृत्ति तथा प्रवृत्ति वाला, नान्दी एवं प्रस्तावना युक्त, अधिक से अधिक १० और कम से कम ५ अंकों वाला अभिनयात्मक कथा रूप ही नाटक कहा गया है। वस्तुतः शारदातनय ने सफल नाटक के लिये अङ्कों की संख्या के बदले उसके (नाटक के) अन्य गुण-धर्मों की स्थिति पर विशेष बल दिया है। नाटक चाहे पाँच अङ्कों का हो अथवा उसमें अङ्कों की संख्या दस तक पहुँच गयी हो, किन्तु

पूर्वोल्लिखित गुण-धर्मों के विद्यमान रहने पर ही उसे नाटक कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में आपने इतना अवश्य स्वीकार किया है कि नाटक में अङ्कों की संख्या पाँच से न्यून नहीं होनी चाहिये[1]। प्रस्तुत सन्दर्भ प्रयुक्त अन्यून पद इसी तथ्य को ध्वनित करता है।

अङ्क चर्चा

शारदातनय ने अङ्क का परिचयात्मक वर्णन करते हुए तद्विषयक विविध स्वीकृतियों तथा मत-मतान्तरों का भी उल्लेख किया है। आपका कहना है कि अङ्क में नायक का चरित प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत रहना चाहिये, उसे विन्दु की व्याप्ति को आगे बढ़ाने वाला, अनेक प्रकार के अर्थ संविधान तथा रस का आश्रय भी रहना चाहिए। इस विषय में आपका स्पष्ट मत है कि जहाँ नायक का चरित निर्दिष्ट किया गया हो, जो नाना रूपों का प्रयोजक तथा अलंकारों एवं रस का आधार हो उसे अङ्क मानना चाहिए। आपने अङ्क को रूढ़िगत स्वीकार किया है। अङ्क पद की व्युत्पत्तिगत स्थिति का सामञ्जस्य न हो सकने के फलस्वरूप ही उसे रूढ़ शब्द के रूप में स्वीकार किया गया है। रूढ्यर्थ के अनुसार इस पद से यह विदित होता है कि भावों तथा रसों के माध्यम से अर्थों को आगे बढ़ाने वाले तथा नाना-विधानों से युक्त को ही अङ्क कहा है। प्रबन्ध चिह्न रूप होने से अथवा रस का आश्रय रहने से जहाँ अर्थ की समाप्ति और बीज का संहार होता है तथा कुछ-कुछ विन्दु का लगाव प्रारम्भ हो जाता है, उसे अङ्क मानना चाहिए।

अङ्क के विषय में शारदातनय ने ग्राह्य एवं त्याज्य रूपों में कतिपय विधि-निषेधों का भी उल्लेख किया है। नाटक की रस सिद्धि के लिये विधेय रूप में वर्णित अंशों को जहाँ अङ्क में ग्राह्य बताया गया है वहीं निषेध रूप में वर्णित विषयों को अङ्क के लिये त्याज्य कहा गया है। इस सन्दर्भ में रस के सम्पोषक विभावानुभावादि भाव रूपों की व्यवस्थित स्थिति का अङ्क में रहना विधेय कहा गया है। विषय वस्तु तथा रसादि की स्थिति ऐसी रहनी चाहिए, जिससे कोई अंग अन्य अंगों को दबा न सके अर्थात् रसादि की अतिशयता के प्रभाववश विषयवस्तु अपने व्यवस्थित क्रम से विच्छिन्न न हो सके। इस तरह उपमादि अलंकारों की अतिशयता भी न होने पाये। विद्वान् आचार्य ने इस सन्दर्भ में अङ्कगत निषेधों का उल्लेख करते हुए दूर मार्ग, वध, युद्ध, राज्य-देश विप्लव. भोजन, स्नान, सुरत, अनुलेपन, अम्बरग्रहण आदि के प्रत्यक्ष रूप को अङ्क के लिये त्याज्य बताया है। इसी तरह विभिन्न पात्रों, घटना

---

१. अन्यूनदशपञ्चाङ्कं नान्दीप्रस्तावनायुतम्।
यद्रूपकविशेषः स्यात्तन्नाटकमिति स्मृतम्॥
भा० प्र०—अष्टम अधि० पृ० २३७ पं० १३-१४।

क्रमों आदि की ग्राह्य एवं त्याज्य स्थितियों का भी निरूपण करते हुए समस्त पात्रों के निष्क्रमण के अन्त को अङ्क कहा गया है।

अङ्क के विषय में आचार्य कोहल के मत का उल्लेख करते हुए शारदातनय का कहना है कि इन्होंने समस्त पात्रों के निष्क्रमावसान के साथ ही साथ इसमें पताका स्थानकों का प्रयोग तथा अन्त में बीज की तरह विन्दु के उपयोग को आवश्यक बताया है[1]। अङ्क के विषय में वर्णित विविध विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक विशेषता की पृथक्-पृथक् स्थिति के आधार पर भिन्न नाटक ग्रन्थों का अलग-अलग उल्लेख भी किया गया है। जिस नाटक ग्रन्थ में अङ्कगत जिस विशेषता की स्थिति दिखलायी पड़ी है उसे उसी विशेषता वाले अङ्क रूप का उदाहरण बताया गया है। शारदातनय ने पाँच अङ्क वाले रूपक को नाटक तथा दस अङ्क वाले रूपक को प्रकरण नाम से भी व्यवहृत किया है और नाटकों की भिन्न-भिन्न अङ्क संख्याओं के अनुसार भिन्न-भिन्न नाटक ग्रन्थों का नामोल्लेख भी किया है।

अभिनय निरूपण

नाट्यवर्णन के प्रसंग में शारदातनय ने भावों की आस्वाद्यता को ध्यान में रखते हुए दृश्य काव्य की विशेष स्थिति का सम्यक् विवेचन किया है। वस्तुतः भावोद्‌बोधन, उद्दीपन तथा उसके आस्वाद्य योग्य सम्पोषण के लिये वर्ण्य विषय की स्थिति के साथ सामाजिक की स्थिति का साधारणीकरण अपेक्षित रहता है। नाटक एक ऐसी विद्या है, जिसकी सफलता का बहुत कुछ आधार अभिनय प्रक्रियाओं के बीच ही विद्यमान रहता है। कवि को जो कुछ कथ्य रूप में अभीष्ट है उसे वह वाक्यात्मक विवरण प्रसंगों द्वारा ही उपस्थित करने के बदले नाटक के अभिनयात्मक माध्यमों द्वारा व्यक्त किया करता है। इसलिये प्रेक्षक केवल श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य वाक्यात्मक रूपकों को सुनकर ही भाव ग्रहण करके तृप्त नहीं हो पाता, अपितु उसके नेत्रों के समक्ष यथार्थ जीवन की एक प्रत्यक्ष झांकी उपस्थित हो जाती है। यही कारण है कि उसके सामने घटित घटना का अतीत भी प्रत्यक्ष जीवन के वर्तमान का स्वरूप लेकर उपस्थित हो जाता है। संक्षेप में नाटक का प्रेक्षक अपनी भावात्मक तृप्ति तथा रसानुभूति के लिये कथा सुनने के बदले यथार्थ जीवन की प्रत्यक्ष स्थिति का साक्षात्कार करना चाहता है। देश काल की परधि में आबद्ध घटना का प्रत्यक्ष रूप जब अपनी विशेष परिधि को पारकर प्रेक्षक के समक्ष वर्तमान का रूप लेकर भावों के अनुरूप अपनी प्रभावात्मक स्थिति को जिस सीमा तक उपस्थित करने में सक्षम

---

१. समस्तपात्रनिष्क्रामावसानोऽङ्कोऽभिधीयते।
पताकास्थानकाग्यत्र विन्दुरन्ते च बीजवत्॥
भा० प्र०—अष्टम अधि० पृ० २३६ पं० १७-१८।

होता है उसी के अनुरूप रसानुभूति एवं आस्वाद्यमयता का बोध हो पाता है। अभिनय की समस्त प्रक्रियाएँ इसी लक्ष्य की सिद्धि का साधन बन कर प्रस्तुत होती हैं। इस प्रकार अभिनय वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा अभिप्रेत भाव को सामाजिकों के पास साक्षात्कारात्मक रूप में (प्रत्यक्ष की तरह) पहुँचाया जाता है।

अभिनय प्रकार

शारदातनय ने नाट्यशास्त्र की परम्परागत मान्यताओं का यथावत् संरक्षण करते हुए अभिनय प्रक्रिया के चार रूपों का उल्लेख किया है[1] जिन्हें १. वाचिक, २. आङ्गिक, ३. सात्त्विक एवं ४. आहार्य कहा गया है।

आलम्बन तथा उद्दीपन नामक विभावों के सहयोग से जागृत तथा उद्दीप्त हुआ स्थायीभाव जो प्रतिक्रिया उपस्थित करता है तथा जिन प्रतिक्रियात्मक बाह्य स्थितियों से भाव के जागरण तथा उद्दीपन का संकेत दूसरों द्वारा प्राप्त होता है उनकी अनुभाव रूपों में परिगणन गात्रारम्भानुभाव, मन आरम्भानुभाव, वागारम्भानुभाव तथा बुद्ध्यारम्भानुभाव शीर्षकों द्वारा अनुभाव वर्णन प्रसंगों में विस्तार पूर्वक किया जा चुका है। अभिनय प्रसंग में शारदातनय की दृष्टि अनुभावों के दृश्यमान रूप में उपस्थित किये जाने एवं उन्हें रसनिष्पत्ति के योग्य परिपुष्ट रूप देकर प्रदर्शित करने की ओर रही है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये अभिनेता जिन प्रक्रियाओं को माध्यम रूप में ग्रहण करता है उन्हें वाणी, अंग, सत्त्व एवं बाह्य भेष-भूषा की विशेष स्थितियों को ध्यान में रखते हुए अभिनय के उपर्युक्त चार प्रकार का निरूपण किया गया है। इसलिये अभिनय के वाचिक रूप के सन्दर्भ में बुद्ध्यारम्भानुभाव के प्रवृत्ति नामक विशेष विवरण के भाषा स्वरूप पर दृष्टि रखना शैली के सर्वथा अनुरूप है। इस प्रसंग में भावाभिव्यक्ति के लिये अपनाये जाने वाले वाणी व्यापार के महत्त्वपूर्ण प्रभावों को उपस्थित करना अभीष्ट रहा है। वस्तुतः भावों की अनेक रूपता के अनुसार वाणी व्यापार का श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य रूप भी अनेक रूपता प्राप्त करता रहता है। एक ही प्रकार की वाक्यावली तथा उसका ध्वन्यात्मक परिवेश सर्वविध भावों को प्रस्तुत करने में सहायक नहीं होते। आन्तरिक भाव के ही प्रभाव से आलाप, विलाप आदि के वाक्यगत तथा ध्वनिमूलक भिन्न-भिन्न रूप श्रुति गम्य होते हैं। जहाँ मुख से निःसृत वचनावली का स्वरूप आन्तरिक अनुभूति के सर्वथा अनुरूप रहता है वहाँ प्रतिपाद्य विषय का अनुकूल प्रभाव सामाजिकों के मन पर पड़ता है। यही प्रभाव सामाजिकों को नायक के मनोभावों की स्थिति में पहुँचा देता है। तात्पर्य यह है कि वाणी व्यापार के माध्यम से भावों के अनुकरण में

---

१. चतुर्भिश्चाप्यभिनयैः प्रपद्यन्ते रसात्मताम्।

भा० प्र०—द्वि० अधि० पृ० ३६ पं० ८।

जहाँ अभिनेता अपनी विशेष रूपात्मक अभिनय प्रक्रिया को ग्रहण करता है वहाँ अभिनय के वाचिक रूप को स्वीकार किया जाता है। शारदातनय ने वाचिक अभिनय के उपर्युक्त प्रभाव एवं स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया है। शारदातनय की विवेचनात्मक दृष्टि अत्यन्त गहराई तक पहुँची है। विद्वान् आचार्य ने संगीत के ध्वनि, स्वर, ताल, नाद, वर्ण, राग, यति, गति, लय, वृन्दगीत आदि के विविध ध्वन्यात्मक एवं प्रभावात्मक रूपों की भी छानबीन की है, जिसे आगे प्रसंगानुसार प्रस्तुत किया जायगा।

आङ्गिक अभिनय

आङ्गिक अभिनय के रूप में शारदातनय ने गात्रारम्भानुभावों के अभिनेय रूपों का निरूपण किया है। इसलिये आङ्गिक अभिनय का सम्बन्ध नेत्रादि अंगों के उन व्यापारगत रूपों से है जो आन्तरिक अनुभूतियों को प्रभावपूर्ण रूप में प्रस्तुत करते समय अपनाये गये हैं। तात्पर्य यह है कि किसी विशेष अंग की किसी विशेष स्थिति के प्रभाव से जहाँ किसी आन्तरिक भाव के विशेष भाव को दृश्यमान रूप में व्यक्त करना होता है वहाँ अभिनय के आङ्गिक रूप को अपनाया जाता है। शारदातनय ने अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के आङ्गिक रूपों को ध्यान में रखते हुए ही नृत्य, नृत्त, लास्य एवं ताण्डवादि के भेदोपभेद का सम्यक् विवेचन किया है। अङ्ग संचालन की भावात्मक स्थितियाँ अनुभूति परक सूक्ष्म भावों के प्रभावपूर्ण रूपों को मौन भाषा के माध्यम से बोधगम्य रूप में उपस्थित करती हैं। अन्तर मन की जब जैसी अवस्था रहती है तब उसी अवस्था के अनुरूप अंग विशेष की गति-विधि का स्वरूप भी उपस्थित होता है। अभिनेता अपनी कलात्मक कुशलता द्वारा अंग संचालन की ऐसी मुद्राएँ प्रदर्शित करता है जो अनुकरण मूलक होती हुई भी नैसर्गिक प्रभाव वाली रहती हैं। यह अंग संचालन का प्रक्रियात्मक स्वरूप जितना ही स्वाभाविक होगा उतना ही भावबोध में सहायक होगा। वस्तुतः आन्तरिक भावों के प्रभाव से अंगसंचालन की बाह्य स्थितियाँ प्रभावित होती हैं, तत्-तत् अंग के विशेष प्रक्रियात्मक स्वरूप की अवस्थाएँ उपस्थित होती हैं, तथा अंग संचालन की बाह्य स्थितियों द्वारा सूक्ष्म भावों का दर्शक एवं सामाजिक को भावबोध होता है। इस प्रकार अंग संचालन का भावबोध के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने आङ्गिक अभिनय रूप में अंग संचालन की कलात्मक स्थितियों का विवेचन किया है।

सात्त्विक अभिनय

शारदातनय ने सात्त्विक अभिनय के सन्दर्भ में सात्त्विक रूप में गिने गये भावों के अभिनयात्मक स्वरूपों पर विचार किया है। आपकी स्पष्ट मान्यता है कि मन की

शान्त स्थिति सात्त्विक भावों के उदय में सहायक होती है। स्वेद, रोमाञ्च आदि इसी भाव के रूप में गृहीत होते हैं। इन भावों को अभिनय की जिस प्रक्रिया के माध्यम से प्रत्यक्ष के दृश्यमान स्वरूप की प्रभावपूर्ण दशा में उपस्थित किया जाता है उन्हें सात्त्विक अभिनय की संज्ञा दी गयी है। तात्पर्य यह है कि सात्त्विक अभिनय का सीधा सम्बन्ध सात्त्विक भावों से रहता है जो आङ्गिक तथा वाचिक कहे गये अभिनय रूपों से सर्वथा पृथक् होते हैं। सात्त्विक भावों को वाणी व्यापार के माध्यम से प्रभावपूर्ण रूप में बोधगम्य बना सकना सम्भव नहीं होता। इसी तरह अंग संचालन की विशेष प्रक्रियाएँ भी स्वेद, रोमाञ्चादि की मूक वाणी के गम्भीर प्रभावों को उपस्थित करने में सफल होती हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए शारदा-तनय ने अभिनय के सात्त्विक स्वरूप को उसके वाचिक तथा आङ्गिक स्वरूपों से सर्वथा अलग रखा है।

आहार्य अभिनय

आहार्य नामक अभिनय का सीधा सम्बन्ध वेश-भूषा, रंग, अलंकार आदि ऐसे स्वरूपों से जो कृत्रिम साज-सज्जा के रूप में पात्र के आकार-प्रकार की बाह्य स्थितियों को प्रभावित करते हैं। देश, काल एवं परिस्थिति तथा भाव सन्दर्भ के अनुरूप आकार-प्रकार की ब्राह्य स्थितियाँ भी प्रभावित होती हैं। आहार्य संज्ञक अभिनय के प्रसंग में शारदातनय ने आकार-प्रकार की इन्हीं बाह्य स्थितियों के अभिनयात्मक रूप पर विचार किया हैं। वस्तुतः इस वर्ग के अन्तर्गत ग्रहण किये जाने वाले अभिनय के रूपों का सीधा प्रभाव दर्शक एवं सामाजिक के मन पर होता है। वह (सामाजिक) पात्र विशेष की इन बाह्य स्थितियों को देखते ही ग्राह्य अर्थ की भूमिका में पहुँच जाता है। इस प्रकार आकृति की साज-सज्जा मूलक बाह्य स्थितियाँ भाव-बोध की पृष्ठ भूमि का निर्माण करती हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए देश एवं परिस्थिति के अनुरूप देश एवं रूप की रचना पर बल दिया जाता है। शारदातनय ने इस सन्दर्भ में वस्त्र-आभूषण के साथ-साथ माला आदि के विविध रूपों तथा भाव सन्दर्भ के अनुसार प्रत्येक की उपयोगिताओं पर भी गम्भीर रूप में प्रकाश डाला है।

वाचिक अभिनय

भाषा अभिनय के वाचिक स्वरूप को ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने भाषा के विविध स्वरूपों का पृथक्-पृथक् उल्लेख करने के साथ ही साथ प्रत्येक के सन्दर्भगत महत्त्व का भी निरूपण किया है। वस्तुतः कथावस्तु के विभिन्न स्तरों पर भाषा का स्वरूप भी बदलता रहता है। उदाहरण के लिये विष्कम्भक तथा प्रवेशक जैसे अर्थोपक्षेपकों के प्रयोग में एक ही भाषा का उपयोग नहीं किया जा

सकता, क्योंकि ऐसा करने से वस्तु निरूपण की स्वाभाविकता में बाधा पड़ती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने विष्कम्भक में प्राकृत तथा प्रवेशक में संस्कृतभाषा के प्रयोग का निर्देश किया है[1]। इसी तरह पात्र विशेष की वैयक्तिक क्षमता को ध्यान में रखते हुए भी भावाभिव्यक्ति के माध्यम से भाषा विशेष की अवस्था के महत्त्व को स्वीकार करना पड़ता है। प्रत्येक पात्र की शैक्षणिक, बौद्धिक तथा मानसिक स्थितियाँ एक जैसी नहीं रहा करती और न प्रत्येक के जीवन निर्वाह का समान परिवेश ही उपलब्ध होता है। ऐसी स्थिति में पात्रों के विभिन्न स्तरों पर भाषा के स्वरूप में भिन्नता की स्वभाविक अवस्थाएँ विद्यमान रहती हैं। अभिनय द्वारा जीवन की वास्तविक स्थिति को पूरी सशक्तता के साथ जीवन्त रूप में उपस्थित करने का उपक्रम किया जाता है। यथार्थ जीवन का स्वभाविक अनुकरण ही अभिनय व्यापार को कलात्मकता प्रदान करता है। यह अनुकरण यथार्थ जीवन के जितना ही सन्निकट रहता है उतने ही प्रभावपूर्ण रूप में प्रेक्षक की चित-वृत्ति को आह्लादित करने में सक्षम होता है। अभिनय कला के परम पारखी आचार्य शारदातनय ने इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए पृथक्-पृथक् संस्कार वाले पात्रों की विविध वर्ग की विविध-भाषाओं का अलग-अलग निर्देश किया है।

आपने भरतों को नाना भाषावादी कहा है जो यह स्पष्ट करता है कि भरत नाम से व्यवहृत व्यक्तियों को अनेक भाषाओं का ज्ञाता तथा उनके प्रयोग में कुशल होना चाहिये। इसी तरह कुशीलवों की चर्चा करते हुए इन्हें भी सर्वभाषा विचक्षण बताया गया है। वस्तुतः भरत तथा कुशीलवों का सम्बन्ध अभिनय प्रसंग में अनेक भाषा भाषी पात्रों के साथ रहता है। इसीलिए शारदातनय ने इन दोनों के भाषा विषयक व्यापक ज्ञान पर बल दिया है[2]। विट के भाषा विषयक ज्ञान का निर्देश करते हुए शारदातनय ने उस प्राकृतिवादी कहा है[3]। इसी प्रकार दिव्य पात्रों की संस्कृत भाषा, मनुष्य की अर्द्ध संस्कृति एवं गान के विविध सन्दर्भों में भाषा के विविध रूपों का भी उल्लेख किया गया है। देव द्विज तथा नृपों के गान

---

१. संस्कृतवाग्भिरपीत्थं प्रवेशकः संविधातव्यः।

मा० प्र० - स० अधि० पृ० २१६ पं० ८।

२. नानाशीलस्य लोकस्य भावान् भासयतीह यः।
भूमिकास्ताः प्रविख्यातः शैलूषः इति कथ्यते।
भाषावर्णोपकरणैर्नानाप्रकृतिसम्भवम्।
वेषं वयः कर्म चेष्टां बिभ्रद् भरत उच्यते॥

भा० प्र०—अधि० दशम अधि० पृ० २८८ पं० १-४।

३. विटः प्राकृतवादी च प्रायो बहुविकारवान्।

भा० प्र० दशम अधि० पृ० २८९ पं० ११।

में संस्कृत भाषा के प्रयोग का विधान है किन्तु वैश्यों के गान में अर्द्ध प्राकृत के साथ-साथ संस्कृत के व्यवहार का निर्देश किया गया है। शूद्रों के गान की भाषा के रूप में पैशाची तथा मागधी का उल्लेख विद्यमान है। इनसे अतिरिक्त वर्ग के लोगों द्वारा उपस्थित किये जाने वाले गीतों में अपभ्रंश भाषा के प्रयोग का निर्देश किया गया है। विद्वान् आचार्य ने नाटक के विविध पात्रों की उत्तम, मध्यम तथा अधम अवस्था के अनुरूप संस्कृत, प्राकृत तथा पैशाची भाषाओं के पृथक्-पृथक् प्रयोग का भी निर्देश किया है[1]। उक्त वर्ग वाले पुरुषों तथा महादेवी एवं कहीं-कहीं मन्त्रिजा तथा वेश्या के व्यवहार में भी संस्कृत का उपयोग का उल्लेख किया गया है। सामान्यतया स्त्री पात्रों के लिये शौरसेनी, प्राकृत तथा अधम एवं अत्यन्त नीच पात्रों के लिये पैशाची के उपयोग का संकेत यहाँ विद्यमान है। इसी प्रकार उत्तम वर्ग वालों में कतिपय विशिष्ट गुणों का उल्लेख करते हुए उनके सम्भाषणों में संस्कृत भाषा के उपयोग की चर्चा की गयी है। इसके साथ ही साथ विद्वान् आचार्य ने एक पात्र द्वारा दूसरे पात्र को सम्बोधित करने के लिये उपयोग में लाये जाने वाले सम्बोधन परक रूपों का भी अलग-अलग निर्देश किया है[2]। इसी तरह स्वीकार तथा अस्वीकार सूचक शब्दों के प्रयोगार्ह रूपों का भी उल्लेख किया है। शारदातनय के इस सूक्ष्म विवेचन का यही अभिप्राय है कि अभिनय का वाचिक रूप पूरी तरह ज्ञात हो सके।

शारदातनय ने नृत्य के विविध रूपों की चर्चा के प्रसंग में त्रोटक को नृत्य प्रधान बताते हुए उसमें देशी रीति के उपयोग का उल्लेख किया है। ऐसे प्रसंगों में गीत, वाद्य तथा नर्तन क्रम में देशी भाषा तथा देशी क्रिया (कार्यप्रणाली) के उपयोग को चर्चा की है। इसी सन्दर्भ में भारत देश की भौगोलिक सीमा को हिमालय से समुद्र पर्यन्त बताते हुए इसे सप्त-सहस्र योजन वाला कहा है, और काल क्रम के प्रभाव से भू-भाग में निवास करने वाले मनुष्यों की निवासभूमि में घटित होने वाले परिवर्तनों पर भी ऐतिहासिक, पौराणिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी विचार किया है। विद्वान् आचार्य ने इस देश के विविध अंचलों में निवास करने वाली प्रमुख जातियों के आचार-विचारों का भी संकेत किया है। इस देश को आपने जनपदों के आधर पर चौंसठ भेदों में विभक्त माना है, और

---

१. यथा नियमिता भाषाः संस्कृताद्याः पुरातनैः।
नायिकादिषु पात्रेषु नियमोऽत्र प्रदर्श्यते ॥
भा० प्र०—नवम० अधि० पृ० २६९-२७० ।

२. कान्तेति नायको ब्रूते दक्षिणः पूर्ववल्लभः।
... ...
आयुष्मन्निति वक्तव्यो रथी सारथिना सदा।
भा० प्र०—नवम० अधि० पृ० २७१-२७२ ।

प्रत्येक के पृथक्-पृथक् नामों का भी उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में भाषा के अठारह नामों का उल्लेख करते हुए उन भाषावार अठारह प्रदेशों की भी चर्चा की गयी है जिनके आधार पर भाषाओं तथा तत्-तत् भाषाओं को बोलने वाले तत्-तत् देश निवासियों का नामकरण भी किया गया है। शारदातनय ने इन समस्त भाषा रूपों को म्लेच्छभाषा कहा है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आपने तत्-तत् देशों में गाये जाने वाले गीतों को तत्तद्देशीय भाषाओं के माध्यम से ही उपस्थित करने का निर्देश दिया है[1]। इस सन्दर्भ में विद्वान् आचार्य ने नाट्योपयोगी भाषाओं के रूप में पाँच, छः या सात भाषाओं का विशेष रूप में नामोल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—१. संस्कृत, २. प्राकृत, ३. पैशाची, ४. मागधी और ५. सूरसेनी, इन पाँच के अतिरिक्त अपभ्रंश छठी भाषा है और सातवीं के रूप में अपभ्रंशाह्वय का नाम लिया है जो सम्भवतः परिनिष्ठित अपभ्रंश से विकसित होने वाले लोकभाषा के नवीन रूप का प्रतिनिधित्व करती है। शारदातनय ने अपभ्रंश सहित पूर्व की छः भाषाओं के नागर, ग्राम्य एवं उपनागरक नामक तीन उपभेदों का भी उल्लेख किया है, जिनके आधार पर भाषाओं की संख्या अठारह बतायी गयी है। विद्वान् आचार्य ने गीत आदि के प्रसंग में भाषाओं के विशिष्ट रूपों का ध्यान रखकर ही संगीत क्रम में प्रवृत्त होने का निर्देश किया है।

शारदातनय ने बुद्ध्यारम्भानुभावों के प्रसंग में जिन भाषाओं तथा उपभाषाओं का उल्लेख किया है, उनका वर्णन बुद्ध्यारम्भानुभाव के प्रवृत्ति नामक उपभेद के प्रसंग में किया गया है। यहाँ केवल यही कहना यथेष्ट है कि इन अनुभावों के अभिनयात्मक स्वरूप की वाचिक स्थिति भी अपने-अपने सन्दर्भ के अनुरूप उन्हीं भाषाओं तथा उपभाषाओं का उपयोग किये जाने पर यथार्थ जीवन की वास्तविक झाँकी उपस्थित करती है।

संगीत

शारदातनय ने नृत्त, गीत और वाद्य को नाटकादि का उपकारक बताया है[2]। वस्तुतः नाट्य का निरूपण करना ही आपका मुख्य विषय है। नाटकादि रूपकों का

१. तत्तद्देशेषु सङ्गीतं तत्तद्भाषाभिरन्वितम्।
देशीति दैशिकमपि कथयन्ति मनीषिणः॥
भाषा नाट्योपयोगिन्यः स्युः षट्पञ्चाथ सप्त वा।
संस्कृतप्राकृताख्या च पैशाची मागधी तथा॥
शौरसेनीति पञ्च स्युरपभ्रंशयुताश्च षट्।
अपभ्रंशाह्वयां भाषां सप्तमीमपरे विदुः॥
भा० प्र०—दशम० अधि० पृ० ३१० पं० १५-२०।

२. नृत्तं गीतञ्च वाद्यञ्च नाटकाद्युपकारकम्।
भा० प्र०—सप्तम अधि० पृ० १८१ पं० १५।

नाड़ियों के विविध प्रकार तथा स्वरों की उत्पत्ति एवं प्रत्येक स्वर की नाम परक प्रकृति का भी प्रामाणिक वर्णन प्रस्तुत किया है। स्वरों की उत्पत्ति में वायु का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। शारदातनय ने वायु के इसी प्रभाव को दृष्टि में रख-कर प्राण, अपान, उदान आदि वायु के विविध भेदों एवं प्रत्येक को व्यापार मूलक स्थितियों का भी वर्णन किया है। स्वरों की उत्पत्ति के विषय में दो सिद्धान्त उपस्थित किये गये हैं। यथा—प्रथम सिद्धान्त के अनुसार नाड़ियों के सहयोग से श्रुतियों द्वारा स्वरों की उत्पत्ति होती है। इस सन्दर्भ में शारदातनय ने वर्णों के साथ कण्ठ, तालु आदि स्थानों का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्येक स्थान पर उत्पन्न होने वाला स्वर दूसरे स्थान वाले स्वर से भिन्न रूप वाला होता है। इसीलिये स्थानों के अनुरूप स्वरों के सात रूप होते हैं। स्वरोत्पत्ति विष-यक दूसरे सिद्धान्त के अनुसार शरीर में विद्यमान त्वगादि सात धातुओं के अनुरूप संगीत के मूलभूत (सा, रे, ग, म, प, ध, नी) सात स्वर उत्पन्न होते हैं। स्वर विषयक इस विवेचन क्रम के साथ ही साथ तान, ग्राम, मूर्च्छना आदि संगीत शास्त्र से सम्बद्ध पारिभाषिक शब्दावलियों द्वारा व्यक्त किये गये विषयों का भी वर्णन किया गया है। शारदातनय को संगीत विषयक जिन विषयों के निरूपण में सूत्रमयता जैसी लघु रूपता दिखलायी देती है उन्हें विस्तृत रूप में समझने के लिये उन्होंने 'शारदीय नामक अपने किसी संगीतविषयक ग्रन्थ के अवलोकन का निर्देश किया है (प्रयत्न करने पर भी शारदातनय का यह ग्रन्थ लेखक को प्राप्त नहीं हो सका)। शारदातनय द्वारा संगीत के सन्दर्भ में उपस्थित किये गये विषय को निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है—

३६ तत्त्व विवेचन

गेय की उत्पत्ति के सन्दर्भ में विद्वान् आचार्य ने ३६ तत्त्वों का निरूण किया है, जो इस प्रकार हैं[१]—

१. शिव, २. शक्ति, ३. सदाशिव, ४. ईश्वर, ५. शुद्धविद्या, ६. माया, ७. काल, ८. नियति, ९. कला, १०. विद्या, ११. राग, १२. पुरुष, १३. महान् (बुद्धि), १४. अहंकार, १५. ज्ञ (पुरुष), १६. मन, १७. शब्द, १८. स्पर्श, १९. रूप, २०. रस, २१. गन्ध, २२. क्षिति, २३. जल, २४. पावक, २५. गगन, २६. समीर, २७. श्रोत्र, २८. त्वग्, २९. चक्षु, ३०. रसना, ३१. घ्राण, ३२. वाक्, ३३. पाणि, ३४. पाद. ३५. वायु और ३६. उपस्थ। शारदातनय ने उपर्युक्त तत्त्वों में से प्रथम पाँच को शुद्ध तत्त्व बताया है और तदुपरान्त सात तत्त्वों को शुद्धाशुद्ध नाम से व्यवहृत किया है।

---

१. तस्माद् गेयसमुत्पत्तिः सङ्क्षेपेणात्र कथ्यते।
इह तत्त्वानि षट्त्रिंशच्छिवः शक्तिः सदाशिवः॥
भा० प्र०—स० अधि० पृ० १८१ पं० १८-१९।

शेष २४ तत्त्वों को अशुद्ध रूप में ग्रहण करते हुए विद्वान् आचार्य ने इन्हें अन्यत्र (सांख्य में) विख्यात मानते हुए इनके विवेचन का उपक्रम यहाँ नहीं किया है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि शारदातनय की तत्त्व विषयक उपर्युक्त मान्यता शैवागम के प्रत्यभिज्ञादर्शन की मान्यता से सर्वथा साम्य रखती है।

२. प्रकृति के गुण

तत्त्व विषयक उपर्युक्त मान्यता का उल्लेख करने के बाद शारदातनय ने प्रकृति के तीन गुणों का वर्णन किया है जो रूप, नाम और क्रियापदों द्वारा व्यक्त किये गये हैं। आपका कहना है कि इन (गुणों) में संक्रमित होने पर ही पुरुष, प्राज्ञ, तैजस् तथा विश्व भेद से तीन प्रकार का हो जाता है। पुरुष के इन रूपों में प्राज्ञ को प्रधान एवं अपनी पृथक् सत्ता वाला बताया गया है। जहाँ तक तैजस् का सम्बन्ध है, शारदातनय का कथन है कि वह बुद्धि, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी के रूप में कार्य-कारण भाव से विभक्त होता है। इन्हीं के समवाय में विश्व की अवस्थिति (सत्ता) मानी जाती है और वह विश्व, विराट्-पुरुष और ईश्वर कहा जाता है। इस (विराट्) को सोम, अग्नि और सूर्य का कारण माना गया है।

जीवोत्पत्ति

शारदातनय ने संगीत के मूलभूत तत्त्वों पर विचार करते हुए विश्व नाम से प्रसिद्ध इस पार्थिव सत्ता में प्राणियों की विशेष स्थितियों की सृष्टि-परक अवस्था पर भी विचार किया है। आपने विराट् पुरुष से ही इस समस्त प्राकृतिक रचना को सिद्धान्त रूप में ग्रहण किया है। इस सन्दर्भ में भौतिक रूप वाले प्राणियों के चार नश्वर वर्गों का उल्लेख किया है[१]। सम्भवतः शारदातनय का अभिप्राय अण्डज, पिण्डज तथा स्थावर एवं जंगम रूपों से सम्बद्ध प्राणियों से है, किन्तु इस प्रसंग में किसी विशेष नाम का कहीं भी उल्लेख आपने नहीं किया है। आपका कथन है कि दाम्पत्य-मूलक संगम से उस प्रभु ने जीवत्व रूप ग्रहण किया। इस सन्दर्भ में शुक्र एवं शोणित रूप वाली प्राकृतिक पौरुषी तथा प्राकृती शक्ति वायु के साथ गर्भाशय में प्रवेश करती है। शारदातनय ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए स्वीकार किया है माता-पिता के शुक्र एवं ऋतु (शोणित) मलों के साथ प्राण एवं अपान वायु गर्भाशय में विद्यमान रहते हैं। इन्हीं दो के सम्पृक्त तत्त्वों से तीसरे की उत्पत्ति बतायी गयी है। द्वितत्त्व सम्भूत तीन संख्या वाले गुणों से शारदातनय का अभिप्राय सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण से प्रतीत होता है। आपने इन तीन गुणों से पाँच

---

१. चतुष्प्रकारसम्भिन्ना नश्वरास्तु प्रजज्ञिरे।
भा० प्र०—स० अधि० पृ० १८२ पं० १४।

की उत्पत्ति का उल्लेख किया है। यहाँ पाँच से शारदातनय का अभिप्राय चक्षु, श्रोत्र, त्वग् घ्राण एवं रसना रूपी पाँच ज्ञानेन्द्रियों से है। आपने पुनः इन पाँचों से पाँच के चतुष्क की चर्चा की है[1]। इस पंचक के प्रसंग में शारदातनय ने जो विवरण दिया है उसमें श्रवणादि भूतों तथा शब्द-वागादिकों का उल्लेख किया है। यदि श्रवणादि भूतों को पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के रूप में ग्रहण किया जाय तो उनके पंचक को रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द रूपी पाँच विषयों वाला स्वीकार करना होगा। पंचक के चतुष्क का निर्धारण तो पञ्चतन्मात्राओं, पञ्चमहाभूतों, पञ्च-ज्ञानेद्रियों तथा पञ्चकर्मेन्द्रियों के आधार पर ही सम्भव है। जहाँ तक शारदातनय द्वारा प्रस्तुत किये गये विवरण का सम्बन्ध है उसमें भाषणादि को वाक्यादि चतुष्टय तथा संशय, प्रमा, निश्चय एवं अनुभव के ज्ञान मूलक रूपों को भी चतुष्क कहकर उपस्थित किया है। भाषणादि के वाक्यादि चतुष्टय को परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी नामक वाणी के चार रूपों में ग्रहण किया जा सकता है और ज्ञान की चार स्थितियों के रूप में संशयादि को भी चतुष्क रूप में ग्रहण किया जा सकता है[2]। इन विशिष्ट गुणों से युक्त यह विलक्षण जीव काल-पाक के प्रभाव से पूर्णाङ्ग होकर अवाङ्मुख उत्पन्न होता है। शारदातनय ने सभी शरीरधारियों के शरीर को ९६ अङ्गुल के प्रमाण का बताया है। इस शरीर के मध्यभाग में जो आधार (योगियों के मूधाधार चक्र से तात्पर्य प्रतीत होता है) रहता है उसे कन्द कहा गया है। यह आकार सोम, सूर्य तथा अग्नि मण्डलों से (इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना नाड़ियों से तात्पर्य है) बलयित रहता है। इसी के मध्य में अग्नि की शिखा उसी तरह विद्यमान रहती है जिस प्रकार नोप में केशर विद्यमान रहता है। इसी को परा-प्रकृति एवं अम्बिका भी कहा गया है। शारदातनय का कहना है कि जिस प्राण-वायु के अस्तित्व से यह जीव, प्राणी नाम से व्यवहृत होता है वह प्राण-वायु मूर्द्धा में विद्यमान रहता है। उर तथा कण्ठ में विचरण करता हुआ वह वायु, बुद्धि, हृदय, इन्द्रिय एवं चित्त का भी सम्पर्क प्राप्त करता है। इस प्रसंग में शारदातनय ने शरीर में व्याप्त वायु के चार भेदों का निरूपण किया है, जिन्हें उदान (प्राण) व्यान, अपान एवं समान नाम दिये गये हैं। उदानवायु के कार्य व्यापार पर विचार करते हुए उसे उर में विद्यमान कहा गया है और नासिका, नाभि तथा ग्रीवा में संचरण करने वाला माना गया है। इसे वाणी व्यापार के प्रयत्न, ऊर्जा, बल तथा स्मृति प्रदान

१. पञ्चभ्यः पञ्चकानान्तु चतुष्कं प्रतिपद्यते।

भा० प्र० —स० अधि० पृ० १८३ पं० ४।

२. भाषणादीनि वाक्यादिचतुष्टयमुदाहृतम्।

तत्संशयप्रमातृत्वनिश्चयानुभवार्थकृत्॥

भा० प्र०- स० अधि० पृ० १८३ पं० ७-८।

करने वाला भी बताया गया है। व्यान नामक वायु को समस्त शरीर में विचरण करने वाला, अतिशय वेगवान् माना गया है। इसी को गति, अवक्षेपण, उत्क्षेपण, निमेष एवं उन्मेष का कारण भी कहा गया है। शरीरधारियों की प्रायः समस्त क्रियाएँ इसी वायु से सम्बद्ध बतायी गयी हैं। अपानवायु पर विचार करते हुए उसे श्रोणी, बस्ति, मेढ्रा एवं ऊरु में अनुभव गम्य होने वाला कहा है। यह वायु शुक्र एवं रजस्, शकृत् (मल) एवं मूत्र को गर्भ से निकालने में सहायक होता है। समानवायु पर विचार करते हुए इसे कोष्ठ में सदा विचरण करने वाला अग्नि का समीपस्थ कहा गया है, जो अन्न को पचाने, विरेचन तथा भोजन करने में सहायता पहुँचाता है।

दश धाम

शारदातनय ने जीव-शरीर के दस धामों का उल्लेख करते हुए उन्हें १. शिर, २. उरो बन्धन, ३. कण्ठ, ४. ओष्ठ, ५. हृदय, ६. नाभि, ७. बस्ति, ८. शुक्र, ९. गुदा एवं १०. ओज नामक बताया है[1]। आपने हृदय में विद्यमान शिराओं की दस संख्या का उल्लेख किया है जो शरीर में सर्वतो-भावेन रहती हुयी रसात्मक रूप में शक्ति का संचार करती है। शरीर की समस्त चेष्टाएँ इन्हीं से सम्बद्ध मानी गयी हैं। इस तरह इन से ही शिराओं के सात सौ रूप विकसित होते हैं। आभ्यन्तर में विद्यमान इडा, पिंगला और सुषुम्ना नामक तीन नाड़ियाँ विद्यमाम हैं[2]। सुषुम्ना मध्यमा नाड़ी है जो अग्नि की शिखा के सम्पर्क को प्राप्त करती है और शिखा के प्राण से संसृष्ट होने पर नाद की स्थिति उत्पन्न होती है। सुषुम्ना, नाद रूप मार्ग से ही आकाश के सहस्रार चक्र की उँचाई तक पहुँचती है। यही योगियों में नाद की अनुभूति उत्पन्न कराती है और क्रमिक रूप में अन्य कलारूप वर्णों का भी विमोचन करती है।

स्वरोत्पत्ति

शारदातनय ने नाद को श्रुति की उत्पत्ति का रूप माना है और श्रुतियों से स्वर की उत्पत्ति बतायी है। जहाँ तक श्रुतियों की उत्पत्ति का सम्बन्ध है, इन्हें नाड़ियों से उत्पन्न कहा गया है। वस्तुतः हृदय प्रदेश में स्थित ऊर्ध्वनाड़ी से सम्बद्ध २२ नाड़ियाँ हैं जिन पर वायु का आघात होने से श्रुतियाँ उत्पन्न होती हैं। शारदातनय ने वर्णों की उत्पत्ति के (उच्चारण) स्थानों पर भी विचार किया है और उन्हें कण्ठ, तालु, ओष्ठ, मूर्द्धा और दन्त रूप में स्वीकार किया है। इनके अतिरिक्त

---

१. दश जीवनधामानि शिरोरसनबन्धनम्।
कण्ठोष्ठहृदयं नाभिर्बस्तिः शुक्रो गुदौजसी ॥
भा० प्र०—स० अधि० पृ १८४ पं० ८-९।

२. सिराजालधरा नाम तिस्रश्चाभ्यन्तराश्रयाः।
इडा च पिङ्गला चेति सुषुम्ना चेति नामतः ॥
सुषुम्ना मध्यमा नाडी शिखां वह्नेः समाश्रिता।
शिखा प्राणेन संसृष्टा नादाख्यां लभते स्फुटम् ॥
भा० प्र०—स० अधि० पृ० १८४ पं० १३-१६।

वर्णों को कण्ठ, तालु, कण्ठौष्ठ, दन्तौष्ठ तथा जिह्वा स्थानों से भी पृथक्-पृथक् उत्पन्न होने वाला कहा है। कण्ठ के पास जत्रु को बाँधने वाली चार नाड़ियाँ बतायी गयी हैं। इसी तरह तालु के मूल को बाँधने वाली तीन नाड़ियों को तालु के मूल में स्थित बताया है। दोनों ओष्ठों को बाँधने वाली दो नाड़ियों का अस्तित्व भी माना गया है। ब्रह्म पदाश्रित ऐसी चार नाड़ियों का उल्लेख किया गया है जो मूर्द्धा-स्थान को बाँधती हैं। दाँतों को बाँध कर रखने वाली चार नाड़ियाँ बतायी गयी हैं। इसी तरह कण्ठ और तालु के बीच में तीन नाड़ियों की स्थिति मानी गयी है। इस प्रकार मध्य नाड़ी से जुड़ी हुयी २२ नाड़ियाँ गिनायी गयी हैं। इन्हीं नाड़ियों में सहसा वायु के आघात होने से नाद रूप श्रुतियाँ अनुभूत होने लगती हैं। ग्रन्थकार ने श्रुतियों के काल का भी निर्धारण किया है। हृदय-ग्रन्थि के ऊपर तथा कपालफलक के नीचे वायु का संचार होता रहता है। वहीं ये श्रुतियाँ व्यञ्जित होती हैं। वर्णों के उच्चारण स्थान पर वायु का आघात होने से जो श्रुतियाँ उत्पन्न होती हैं उन्हीं को स्वर कहा है। इन स्वरों की सात संख्या मानी है। स्वरों की चर्चा से पहले श्रुतियों के विविध रूपों तथा स्थितियों पर विचार करना आवश्यक है।

रागों की चर्चा करते हुए शारदातनय ने इनके मन्द, मध्यम और तार नामक तीन स्थानों का उल्लेख किया है[1]। इन स्थानों को श्रुतियों की विविध जातियों के सन्दर्भ में यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो प्रस्तुत स्थान भेद से श्रुतियों के भी तीन रूप हो जाते हैं। वस्तुतः ऊर्ध्व नाड़ी में संलग्न तिरछी अवस्था वाली जो २२ नाड़ियाँ हैं उन पर हृदय स्थान में वायु का आघात होने से २२ ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। यह ध्वनिसमूह श्रुति नाम से प्रसिद्ध है। हृदयस्थान पर श्रूयमाण यह ध्वनिरूप, मन्त्र स्थिति को व्यक्त करता है। कण्ठ स्थान में वायु का आघात होने से २२ ऐसी ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं जो हृदय स्थान पर उत्पन्न होने वाली ध्वनियों से दुगुने प्रमाण की होती हैं जो मध्यम स्थिति को व्यक्त करती हैं। इसी प्रकार शिर में मध्यम से भी दुगुने प्रमाण की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, जो श्रुति की तार नामक स्थिति को व्यक्त करती हैं।

स्वरोत्पत्ति प्रथम मत

जहाँ तक स्वरोत्पत्ति का सम्बन्ध है शारदातनय का कथन है[2] कि कण्ठ में चार (तीव्रा, कुमुद्वती, मन्दा, छन्दोवती) श्रुतियों से १. 'षड्ज' (स) स्वर उत्पन्न

१. मन्द्रमध्यमतारं तत्स्थानत्रयमितीरितम् ॥
भा० प्र०—स० अधि० पृ० १९० पं० ५।

२. कण्ठे सज्जति यो नादः स षड्जः स्याच्चतुश्श्रुतिः।
....
नादो निषण्णः कण्ठोष्ठे निषादो द्विश्रुतिर्भवेत् ॥
स्वयंमाणतया तत्तत्स्थानेषु मरुदाहते।
स्वरसंज्ञां लभन्ते ते तत्तन्नामपुरस्कृताः ॥
भा० प्र०—स० अधि० पृ० १८५-१८६।
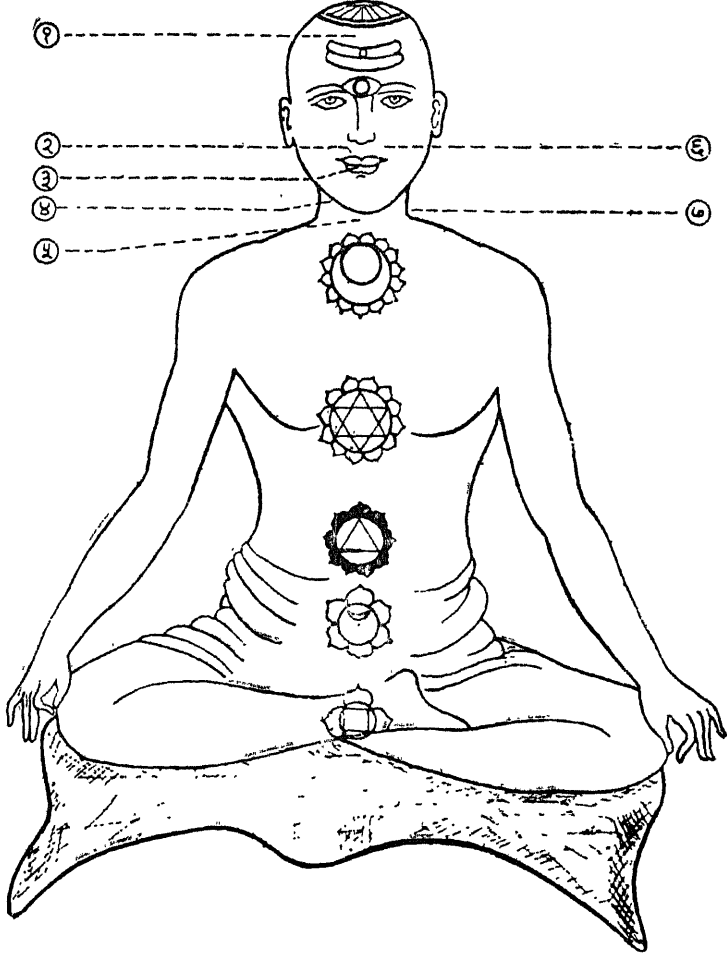
१—मूर्धा (मध्यम)
२—ओष्ठ (गान्धार
३—दन्त (पंचम)
४—कण्ठ (षड्ज)
५—कण्ठ-तालु (धैवत)
६—तालु (ऋषभ)
७—कण्ठोष्ठ (निषाद)

यौगिक स्वरोत्पत्ति
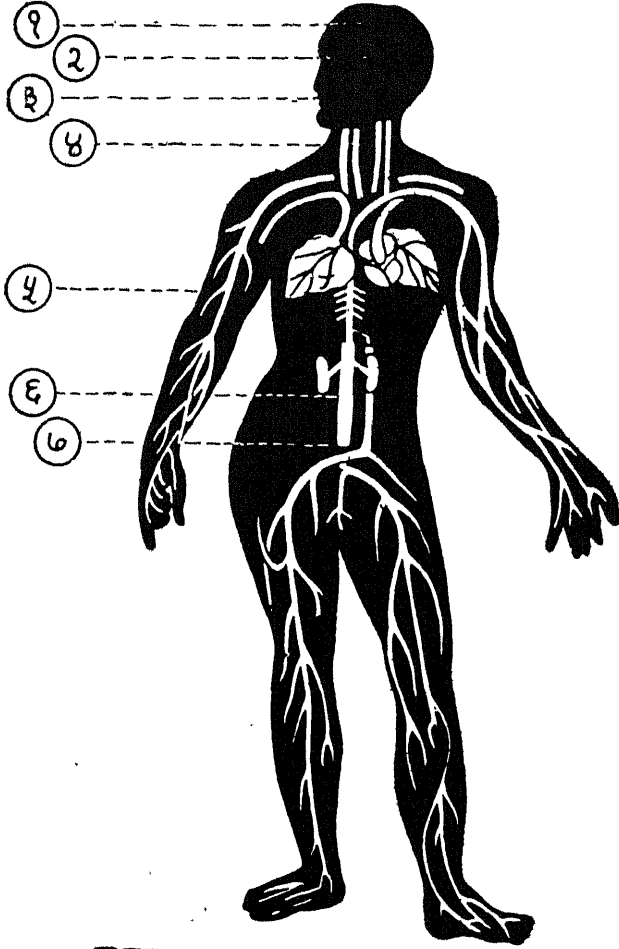
भाव प्रकाशानुसार स्वरोत्पत्ति

धातुज स्वरोत्पत्ति

१—रक्त (धैवत)
२—त्वचा (निषाद)
४—मांस (पंचम)
४—मेदा (मध्यम)
५—अस्थि (गान्धार)
६—मज्जा (ऋषभ)
७—शुक्र (षड्ज)

होता है। इसी तरह तालुमूल में तीन (दयावती, रंजनी, रति) श्रुतियों से दूसरा ऋषभ (रे) स्वर उत्पन्न होता है। इसी प्रकार दो (रौद्री, क्रोधा) श्रुतियों से ओष्ठ स्थान में तीसरा गान्धार (ग) स्वर उत्पन्न होता है। शारदातनय ने चौथे मध्यम (म) स्वर की उत्पत्ति मूर्धा स्थान में चार (वज्रिका, प्रसारिणी, प्रीति, मार्जनी) श्रुतियों से बतायी है। इस सन्दर्भ में दन्त, तालु, कण्ठ, ओष्ठ और मूर्धा स्थानों में चार (क्षिति, रक्ता, सन्दीपनी, आलापिनी) श्रुतियों से पाँचवें पंचम (प) स्वर की उत्पत्ति कही गयी है। छठे धैवत (ध) स्वर की उत्पत्ति दन्तपंक्ति के सहारे कण्ठ, तालु स्थान में तीन (मदन्ती, रोहिणी, रम्या) श्रुतियों से बतायी गयी है।' सातवाँ निषाद (नि) स्वर कण्ठोष्ठ में दो (उग्रा, क्षोभिणी) श्रुतियों से उत्पन्न होता है।

स्वरोत्पत्ति धातुजमत

ऊपर की गयी स्वरोत्पत्ति विषयक चर्चा से स्पष्ट है कि संगीत के मूलभूत सात स्वरों की उत्पत्ति बाईस श्रुतियों से होती है। इस सन्दर्भ में शारदातनय ने एक दूसरे मत का भी उल्लेख किया है। इस द्वितीय मत के अनुसार संगीत के सात स्वरों की उत्पत्ति सात धातुओं से मानी गयी है[1]। धातुओं के विषय में शारदातनय का कहना है कि प्राणियों के भीतर सात धातुएँ सप्ताग्नि के रूप में विद्यमान हैं जिन्हें कुछ लोग सप्ताग्नि तथा कुछ ऊष्मा कहते हैं। धातुओं के नाम इस प्रकार हैं— त्वक्, असृक् (रक्त), मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र। शारदातनय का कहना है कि सात धातुओं के ओज की वृद्धि धमनियों द्वारा होती है। इसी सन्दर्भ में विद्वान् विचारक ने धमनियों की स्थिति पर भी विचार किया है। इन (धमनियों) की संख्या चौबीस बतायी गयी है। इनमें से एक मूर्धा तथा एक अधःकोष्ठ पर आश्रित है। इनके मध्य में विद्यमान धमनी ही धातुओं के ओज की वृद्धि करती है। कुछ आचार्यों का कथन है कि हृदय में विद्यमान धमनी ही धातुओं के ओज का संवर्द्धन करती है। शारदातनय ने प्रस्तुत प्रसंग में विज्ञान से सम्बद्ध आयुर्वेद की शास्त्रीय मान्यता का भी संकेत किया है। इस मान्यता के अनुसार धातुओं के ओज को बढ़ाने वाली धमनी के तीन रूप आयुर्वेद में बनाये गये हैं। तदनुसार कन्द स्थान में विद्यमान चार धमनियाँ शुक्र का सम्बर्द्धन करती हैं। नाभिस्थान में विद्यमान तीन धमनियाँ मज्जा नामक धातु को बढ़ाती हैं। इसी तरह हृदय में स्थित दो धमनियाँ हड्डियों को बढ़ाती हैं। कण्ठ देश में विद्यमान चार धमनियाँ मेदा की वृद्धि

---

१. अन्ये धातुभ्यः उत्पन्नाः स्वरा इत्येव जानते ।

धातवः सप्त भूतानामन्तः सप्ताग्नयः स्थिताः ॥

भा० प्र०—स० अधि० पृ० १८६ पं० ५-६ ।

करती हैं। तालु के मूल में विद्यमान चार धमनियाँ मांस को बढ़ाती है, मूर्धा में अधोमुख होकर तीन धमनियाँ असृक् (रक्त) को बढ़ाती हैं। भ्रुओं के मध्य में विद्यमान दो धमनियाँ त्वचा को बढ़ाती हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में विद्वान् विचारक ने आत्मा एवं मन की विशेष अवस्थाओं पर भी विचार किया है। आत्मा द्वारा मन को प्रेरणा प्राप्त होती है और मन प्राण सहित पाँच वायुओं को प्रेरित करता है जो (वायु) धातुओं में व्याप्त होकर धमनी के अग्रभाग से उन (धमनियों) में विद्यमान अग्नि को प्रज्ज्वलित करता है। इस प्रकार इन धमनियों से ही नाद की उत्पत्ति मानी गयी है। धमनियों की अनेकता के अनुरूप ध्वनियाँ भी अनेक रूप वाली हो जाती है। ध्वनियाँ ही श्रुति कही जाती है। श्रुतियों की संख्या धमनियों की संख्या के आधार पर मानी जाती हैं। तत्-तत् स्थानों से उत्पन्न होने वाली श्रुतियाँ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित एवं प्रचय कही जाती हैं। शुक्रधातु से उत्पन्न होने वाला नादात्मक स्वर षड्ज माना जाता है जो चार श्रुतियों वाला कहा गया है। मज्जा नामक धातु से उत्पन्न नादात्मक स्वर ऋषभ कहा गया है जो तीन श्रुतियों वाला होता है। अस्थि नामक धातु से उत्पन्न स्वर गान्धार कहा गया है जिसमें दो श्रुतियाँ रहती हैं। इसी तरह मेदा नामक धातु से उत्पन्न होने वाला नादात्मक स्वर मध्यम कहा जाता है जिसमें चार श्रुतियाँ होती हैं। मांस नामक धातु से उत्पन्न नादात्मक स्वर को पंचम कहते हैं जो चार श्रुतियों वाला माना गया है। रक्त नामक धातु से उत्पन्न नादात्मक स्वर को धैवत कहा गया है, जिसमें तीन श्रुतियाँ होती हैं। त्वचा धातु से उत्पन्न नाद को निषाद कहा गया है, इसमें दो श्रुतियाँ होती हैं। इस प्रकार धातुओं से स्वरोत्पत्ति पर विचार करने के पश्चात् शारदातनय ने इन धातुओं की शरीरगत अवस्थाओं पर भी क्रमिक रूप में विचार किया है। प्रस्तुत विवरण के अनुसार शुक्र नामक धातु के आवरण का रूप ही मज्जा है। इसी प्रकार मज्जा का आवरण अस्थि, अस्थियों का आवरण मेदा, मेदा का आवरण मांस, मांस का आवरण असृक् (रक्त), असृक् का आवरण त्वचा को माना गया है[1]। त्वचा से उत्पन्न होने वाला स्वर तार और मन्द्र कहा गया है। स्वर एवं श्रुतियों के विविध रूपों पर विचार करने के उपरान्त शारदातनय ने ग्राम, मूर्च्छना, तान तथा राग आदि की स्थितियों पर भी विचार किया है।

---

१. शुक्रस्यावरणं मज्जा तदावरणमस्थि च।
अस्थ्नामावरणं मेदो मांसं तस्यावृतिर्भवेत् ॥
मांसावरणमस्रं स्यात्त्वक्चास्रावरणं भवेत् ॥

भा० प्र०—स० अधि० पृ० १८८ पं० ३-५।

ग्राम

शारदातनय ने वक्ता की इच्छा के अनुरूप ध्वनि में दिखायी देने वाली स्थितियों को ग्राम की कल्पना का आधार बताया है[1]। आचार्य प्रवर का अभिप्राय यह है कि वक्ता की इच्छा के अनुरूप ध्वनि के स्वरूप की स्थितियाँ अलग-अलग रूपों में प्रकट होती हैं। अर्थात् ध्वनि के रूप-गठन में वक्ता की इच्छा का ही एक मात्र प्रभाव रहता है। ध्वनि के स्वरूपों में दिखायी देने वाली विविध रूपात्मक स्थितियों को ध्यान में रखते हुए ग्राम शब्द का व्यवहार किया गया है। वस्तुतः स्वर, श्रुति आदि के संयोग से ग्राम की स्थिति समूह परक मानी जाती है (समूह-वाचिनौ ग्रामौ स्वरश्रुत्यादिसंयुतौ। मतङ्ग। म० को० पृ० १८९)। यद्यपि संगीत के परवर्त्ती आचार्यों ने ग्राम के तीन रूपों का अस्तित्व स्वीकार किया है, किन्तु आचार्य भरत ने इस सम्बन्ध में केवल दो ही ग्रामों का उल्लेख किया है। भरत की परम्परा का अनुसरण करते हुए शारदातनय ने भी ग्राम के मध्यम तथा षड्ज नामक दो ग्रामों का ही वर्णन किया है। मध्यम ग्राम में पञ्चम तीन श्रुतियों का होता है और षड्ज ग्राम अन्तिम श्रुति को ग्रहण कर लेने से धैवत चतुःश्रुति का हो जाता है।

मूर्च्छना

मूर्च्छना पर विचार करते हुए शारदातनय ने सात स्वरों के क्रमिक प्रयोग को ही मूर्च्छना कहा है[2]। इस प्रकार सप्त-स्वरता को मूर्च्छना का लक्षण माना गया है। शारदातनय ने मध्यम ग्राम तथा षड्ज ग्राम की तीन तानों में सात-सात मूर्च्छनाएँ स्वीकार की है।

षड्ज ग्राम

उत्तरमन्द्रा, रजनी, उत्तरायता, शुद्धषड्जा, मत्सरीकृता, अश्वक्रान्ता, अभि-रुद्गता। मध्यमग्राम सौवीरी, हारिणाश्वा, कलोपनता, शुद्धमध्या, मार्गी, पौरवी, हृष्यका। शारदातनय ने द्वादश स्वर-मूर्च्छनावाद का भी उल्लेख किया है जो भरत की परम्परा से भिन्न मत वाले आचार्य मतंग की मान्यता का संकेत ग्राहक है। इस मान्यता के अनुसार मूर्च्छना में राग की स्थिति भी स्वीकार की गयी है। फलतः

---

१. ध्वनिर्विवक्षावशतो ग्रामभेदप्रकल्पना।
विवक्षयैव रागाणां मूर्च्छना तानकल्पना॥

भा० प्र०—स० अधि० पृ० १८८ पं० ११-१२।

२. अन्त्यादिक्रमयोगेन व्यत्ययात्सप्त मूर्च्छनाः।

भा० प्र०—स० अधि० पृ० १८८ पं० १६।

मूर्च्छना में तीन तानों के अनुसार बारह स्वरों का उल्लेख करते हुए मूर्च्छना के भी १२ रूपों को दर्शाया गया है[1]।

तान

तान को मूर्च्छना पर आश्रित माना गया है। शारदातनय ने मूर्च्छनाओं की पूर्ण संख्या ८४ बतायी है[2]। इनमें ४९ का सम्बन्ध षड्ज तथा ३५ का औडुव नामक तान से है। आपका कहना है कि ४२ तानों तथा छः स्वरों से भाषा का स्वरूप गठित होता है। इसी तरह विभाषा के स्वरूप गठन में ३१ तानों तथा पाँच स्वरों का योग स्वीकार किया गया है और २८ तानों तथा चार स्वरों से अनुभाषा निर्मित होती है। वस्तुतः गान काल में श्रुतियों का स्मृति, व्यवसित, आरम्भ, स्पर्श, भिन्न तथा लय नामक अंगों से एकता मूलक संयोग रहता है। विद्वान् आचार्य ने इस प्रसंग में प्रत्येक अंग की परिचयात्मक स्थिति का भी विवेचन किया है[3]।

स्मृति की चर्चा करते हुए आपका कहना है कि ध्वनि का तारतम्य ग्रहण ही स्मृति है। नाड़ी मुखों से नाद की अभिव्यक्ति को व्यवसित माना गया है। श्रुति की एक भावना-परक उत्सुकता को आरम्भ कहा गया है। अभिव्यक्ति के सात स्थानों में तत्-तत् ध्वनियों से होने वाले स्पर्श को ही स्पर्श की संज्ञा दी गयी है। इसी तरह ध्वनि के विभेद को भेद नाम से पुकारा गया है। श्रुतियों का विलीन हो जाना ही लय कहा गया है। इस प्रकार स्वरांश रूप में श्रुतियों के पुनः तीन प्रकारों का उल्लेख करते हुए उन्हें क्रमशः भिन्न, न्यून और अधिक कहा गया है। भिन्न में दो श्रुतियाँ, न्यून में तीन श्रुतियाँ और अधिक में चार श्रुतियाँ मानी गयी हैं। भिन्न की दो श्रुतियों से स्वरित तथा अनुदात्त, न्यून की तीन श्रुतियों से उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित तथा अधिक की चार श्रुतियों से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित एवं प्रचय का सम्बन्ध निरूपित किया गया है।

राग

इसकी चर्चा करते हुए शारदातनय ने श्रुति के अनुरूप उत्पन्न होने वाले राग को शुद्ध राग कहा है[4]। भिन्न एवं अधिक के क्रम में उत्पन्न होने वाले को

१. तानत्रये द्वादशभिः स्वरैर्द्वादश मूर्च्छनाः।

भा० प्र०—स० अधि० पृ० १८८ पं० १८।

२. तानाश्चतुरशीतिस्तु तेऽपि स्युर्मध्यमादयः।

भा० प्र०—स० अधि० पृ० १९० पं० १९।

३. भा० प्र० – सप्तम अधि० पृ० १८८-१८९।

४. यथाश्रुतिभवाः शुद्धरागा इति समीरिताः।

भा० प्र०—स० अधि० पृ० १८९ पं० १३।

गौडराग कहा गया है। अधिक और न्यून की संसृष्टि रहने पर उत्पन्न होने वाला राग बेसर कहा गया है। भिन्न एवं न्यून के उपगम में भिन्न नामक राग माना जाता है। जहाँ भिन्न, न्यून एवं अधिक की स्थितियाँ व्याप्त रहती हैं वहाँ साधारण राग माना जाता है। इस सन्दर्भ में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय, निहत, कम्पित तथा अकम्पित को स्वरों का अंग माना गया है। आद्यन्त के अन्वय भेद से, न्यून भिन्न तथा अधिक के प्रभाव से, मन्द्र-मध्य एवं तार भेद से, छाया तथा संख्या क्रम से उदात्त, अनुदात्त स्वरित एवं प्रचय के प्रभाव से कम्पित और अकम्पित स्वरों से राग की उत्पत्ति मानी गयी है। इस प्रसंग में रागोत्पत्ति के कारण रूप में वर्णित प्रत्येक तत्त्व का पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है। इस सन्दर्भ में जातियों के दस रूपों का भी उल्लेख किया गया है। इन समस्त तत्त्वों के प्रभाव से रागों की सात सौ संख्या बतायी है[1]।

शारदातनय ने संगीत के महत्त्व पूर्ण अंगों पर विचार करते हुए[2] पद, यति, गति, स्थान, लय, काल, अलंकार, गमक, मार्ग, निमेष, मान, पञ्चक, छन्द आदि का भी वर्णन किया है।

पद

पद पर विचार करते हुए शारदातनय ने उसे स्वर का अधिकरण तथा अर्थ का प्रत्यायक कहा है। तद्भव, तत्सम तथा देशी रूप में पद के तीन भेद किये हैं।

यति

यति पर विचार करते हुए आपने द्वन्द्व, भिन्न तथा समा नामक तीन यतियों का उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में यति के चित्र, वार्तिक एवं दक्षिण नामक तीन मार्गों का उल्लेख किया है। समा नामक यति पर विचार करते हुए उसे आदि, अन्त और मध्य में लय, पाणि तथा पदों की समान स्थिति वाली एवं वाद्य की प्रधानता व्यक्त करने वाली यति कहा गया है। कहीं पर स्थिर एवं कहीं पर गतिशील होना भिन्ना नामक यति का परिचायक है, जो (भिन्ना) वाद्य गेयात्मिक मानी गयी है। जिसमें वर्ण अव्यक्त रह जाते हैं तथा जो गुरुओं एवं लघुओं से युक्त रहती है और गीत प्रधान होती है, वह दक्षिणा यति कही गयी है।

गति

शारदातनय का कथन है कि गीत में संगीतशास्त्रियों ने गति के पाँच रूप ग्रहण किये हैं जो सिंह, मृग, भृंग, रथ एवं शकट की गतियों के साम्य भावपरक हैं।

---

१. एतद्रागविभागार्थं दशकं जातिलक्षणम्।
एतैः सप्तशतं रागाः सङ्ख्याता गीतकोविदैः॥
भा० प्र०—स० अधि० पृ० १९० पं० ११-१२।

२. पदं यतिर्गतिः स्थानं लयः कालस्तथा त्रिधा।
भा० प्र०—स० अधि० पृ० १९० पं० २०।

स्थान

स्थान को लय बताते हुए शारदातनय ने इसके द्रुत, मध्य तथा विलम्बित नामक तीन रूपों का उल्लेख किया है।

काल

विद्वान् आचार्य ने द्विमात्रिक, चतुर्मात्रिक तथा अष्टमात्रिक भेद से काल के तीन रूपों का उल्लेख किया है।

अलंकार

संगीत सम्बन्धी अलंकारों पर विचार करते हुए शारदातनय ने २७ अलंकारों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है[1]—प्रसन्न, मधुर, रक्त, गम्भीर, विशद, लघु, अस्पष्ट, उल्लास, ललित, गुरु, ओजस्वी, सम, मृदु, प्रौढ़, प्ररूढ़, आत्त, विदग्ध, शुद्ध, उद्धत, विदर्भित, पल्लवित, नव, कोरकित, कल, निरपेक्ष, निराकांक्ष, निरालम्बन। इन्हीं अलंकारों को गुण भी कहा गया है। छायालाप सम्बद्ध धातुओं में अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। भरत के मत का उल्लेख करते हुए शारदातनय ने वर्णाश्रित अलंकारों की ३६ संख्या बतायी है जबकि दूसरे आचार्यों ने वर्णाश्रित अलंकारों की केवल १३ संख्या कही है।

गमक

शारदातनय ने गमकों की सात संख्या का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं[2]—कम्पित, स्फुरित, लीन, त्रिभिन्न, त्रिरिपु, आन्दोलित, आहत। आपने, इनके स्वरूपों की व्याख्या नहीं की है। मार्ग गमकों की २२ संख्या का उल्लेख करते हुए निःस्वानित, स्फुरित, वितत, विधुत, भ्रामित, दीर्घललित, उरस्तार, शिरोगुरु, उल्लोलित, आक्षिप्तक, लीलोत्सरित, कुञ्चित, प्रतिश्रुत, उरःक्षिप्त, कण्ठाक्षित, समाक्षिप्त, कोमल, मूर्द्धाक्षिप्त, विकृष्टक, उद्वर्तिक, परावृत्त, अपवर्तित नामों की चर्चा की है।

शारदातनय ने गीत का परिचयात्मक वर्णन करते हुए उसे मानपंचक, रीतिपंचक, चतुराराम संभिन्न, आठ छन्दों से युक्त, ध्वनि रूपों से पूर्ण, विचित्र स्वरमय तथा तत्-तत् छाया-परिष्कारों से ललित कहा है। गीत के इन समस्त आवश्यक अंगों पर यथाक्रम विचार भी किया गया है।

---

१. प्रसन्नं मधुरं रक्तं गम्भीरं विशदं लघु।
....
सप्तविंशदलङ्कारा ह्येत एव गुणाः स्मृता॥
भा० प्र० –स० अधि० पृ० १९१-१९२।

२. कम्पितः स्फुरितो लीनः त्रिभिन्नस्त्रिरिपुस्तथा।
आन्दोलितश्चाहतश्च गमकाः सप्तकीर्तिताः॥
भा० प्र०—स० अधि० पृ० १९२ पं० ७-८।

मान-पंचक

शारदातनय ने समान, उच्छ्रित, लम्ब, भिन्न और अपकृष्टक नामक पाँच मान पंचकों का उल्लेख किया है[1]। जहाँ ध्वनि और शरीर में साम्यभाव रहता है वहाँ समान, इनमें से (ध्वनियों में से) किसी के न रहने पर उच्छ्रित, स्थान-स्थान पर ध्वनि के लम्बित होने से लम्ब तथा ध्वनियों के संश्लेष की अवस्था में भिन्न की स्थिति मानी गयी है। इसी तरह गीत में जहाँ ध्वनि का अपकर्षण किया जाता है वहाँ अपकृष्टक नामक मानपंचक कहा गया है।

रीति-पंचक

शारदातनय ने रीतिपंचक रूप में गौड, पाञ्चाल, लाट, वैदर्भ और मिश्रज नामों का उल्लेख किया है। इसी तरह चतुरायाम पर विचार करते हुए आगति, गति, व्यावृत्ति और व्याकुलीनता नामों का उल्लेख किया गया है।

गीतज-छन्द

गीत विषयक छन्दों पर विचार करते हुए अतल, तरल, उल्लोल, अलग, अग्राण, लिप्सित, घट्टित और विघट्टित नामक आठ भेदों का उल्लेख किया गया है[2]। आपका कहना है कि छन्द के गति विशेष का निर्णय संगीत में मात्रा एवं वर्ण के आधार पर नहीं किया जा सकता। अतल नामक छन्द में ताल के बिना ही धातु की मात्राओं में राग संश्लिष्ट रूप में बोधगम्य होता है। इसी तरह जहाँ तालादि को तारतम्य रूप में तरल कर दिया जाता है वहाँ तरल नामक छन्द की स्थिति रहती है। जहाँ किसी ध्वनि को आरोहित किया जाता है वहाँ उल्लोल नामक छन्द होता है। ताल के अनुसार चलने वाला जो लय-राग, स्थान से अलग रहते हुए दृष्टिगोचर होता है उस पर आश्रित गति को अलग कहा जाता है। जहाँ उग्रता पूर्वक राग और ताल व्यवहृत होते हैं वहाँ उग्राण छन्द होता है। जो राग दूसरे राग की ओर प्रवृत्त रहता है उसे लिप्सित कहा जाता है। रागान्तर से युक्त गीत में घट्टित छन्द माना गया है। ताल के विरुद्ध की दशा में विघट्टित छन्द कहा गया है।

---

१. समानमुच्छ्रितं लम्बं भिन्नं चैवापकृष्टकम्।
मानपञ्चकमेतत्तु कथितं गीतकोविदैः॥
भा० प्र०—स० अधि० पृ० १९२-१९३।

२. अतलं तरलं चैवमुल्लोलमलगं तथा।
उग्राणं लिप्सितं चैव घट्टितञ्च विघट्टितम्॥
एतानि रागगीतेषु छन्दांसीति च मन्वते॥
भा० प्र०—स० अधि० पृ० १९३ पं० १०-१२।

शारदातनय ने संगीत वर्णन के प्रसंग में सात गीतिज दोषों का भी उल्लेख किया है[1] जो भिन्न, उच्च, आवर्त, कील, आकुल, मुद्रित एवं द्रुत कहे गये हैं। विद्वान् आचार्य ने मात्रा, कला आदि पर भी विचार किया है। आपके अनुसार निमेष के काल परिमाण को मात्रा कहा जाता है। दो मात्राओं को कला कहते हैं। चित्र में द्विमात्रिक कला रहती है और वार्तिक में चार मात्राएँ स्वीकार की जाती हैं, दक्षिण में आठ मात्राएँ बतायी गयी हैं। इस प्रसंग में निमेष की चर्चा करते हुए उसके पाँच भेदों का उल्लेख किया गया है जो अवाप, निष्क्राम, विक्षेप, प्रवेशण, चतुर्विकल्प रूप में कहे गये हैं।

संक्षेप में आचार्य शारदातनय ने संगीत के उन आधारभूत तत्त्वों तथा अंगोंपांगों का संकेत-परक वर्णन करते हुए अभिनय के वाचिक रूप का प्रभाव पूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

आङ्गिक-अभिनय

शारदातनय ने नाट्य वर्णन के अभिनय प्रसंग में आङ्गिक अभिनय का भी प्रभावपूर्ण रूप में विवेचन किया है। वस्तुतः अभिनय अनुकरण मूलक ही होता है। जहाँ तक अभिनय के आङ्गिक रूप का सम्बद्ध है इसकी दो स्थितियाँ स्वीकार की जा सकती हैं—१. रूपाश्रित, २. भावाश्रित। रूपाश्रित स्थिति वाले अनुकरण का सम्बन्ध शरीर के किसी विशेष अवयव द्वारा आन्तरिक भाव की होने वाली अभिव्यक्ति के बाह्य रूप के अनुकरण से है। नेत्र संचालन, मुखमुद्रा की विशेष संरचना, हस्त-पादादि के संचालन की विविधता पूर्ण दशा के अनुकरण को आङ्गिक अभिनय, रूपाश्रित वर्ग में स्वीकार किया जाता है। विद्वान् विचारक ने गात्रारम्भानुभाव रूप में जब शारीरिक स्थितियों का उल्लेख किया है जो आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों के सहयोग से जागृत तथा उदीप्त हुए स्थायीभाव के बाह्य प्रभाव को सूचित करते हैं। इन प्रभाव सूचक बाह्य-दशाओं का अभिनय-परक अनुकरण ही आङ्गिक अभिनय के रूपाश्रित स्वरूप को व्यक्त करता है। इस वर्ग के अभिनय में नेत्र, मुख, हस्त और पादादि अंग साधन का कार्य करते हैं।

जहाँ तक भावाश्रित स्थिति का सम्बन्ध है यह आङ्गिक अभिनय के ऐसे स्वरूप को व्यक्त करती है जो प्रेक्षक के मन में पात्र की आन्तरिक अनुभूति को संप्रेषणीय रूप में पहुँचाने वाला है। वस्तुतः अभिनय के भावाश्रित रूप को भावानुभूति के आधार पर भाषा का मूक रूप कहा जा सकता है। यदि भावा-बोध के सूक्ष्म प्रभाव को ध्यान में रखते हुए भावाश्रित आङ्गिक अभिनय के परिणाम पर

१. भिन्नमुच्चं तथावर्तं कीलं चाकुलमेव च।
मुदितश्च द्रुतं चैव दोषाः सप्तैव गीतिजाः॥

भा० प्र०—स० अधि० पृ० १९४, पं० २-३।

विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि जिन भावों को बोधगम्य रूप में प्रस्तुत करते समय जहाँ वाणी-व्यापर की समस्त शक्ति शिथिल पड़ जाती है वहाँ अभिनय का भावमूलक आङ्गिक रूप ही भावाभिव्यक्ति का एक मात्र साधन सिद्ध होता है। शब्दों की सीमित शक्ति आन्तरिक भावों के सूक्ष्म स्वरूप को व्यक्त करने में असमर्थ रहती है, क्योंकि शब्द जिस अर्थ में प्रसिद्ध रहता है उसी के आस-पास अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जनादि शक्तियों की सहायता से भाव को व्यक्त करता है। इस प्रकार की भावाभिव्यक्ति को ग्रहण करने में वक्ता की प्रयोग कुशलता के साथ ही साथ श्रोता के भावग्रहण की सूक्ष्म विवेचनात्मक शक्ति के सहयोग की आवश्यकता रहती। जहाँ तक भावाश्रित अभिनय का सम्बन्ध है यह दर्शक की आँखों के सामने परकीय भावों को बोधगम्य बनाने का एक ऐसा माध्यम सिद्ध होता है जो अन्तः हृदय के सूक्ष्मभावों को प्रत्यक्ष जगत् के इन्द्रियग्राह्य स्थूल रूप में उपस्थित कर देता है। दर्शक अपने आप को एक ऐसी स्थित में पाता है जो बाह्य जगत् की भावात्मक स्थिति के साथ अपनी आन्तरिक अनुभूतियों के तादात्म्य की स्थापना में समर्थ रहता है। नाट्य-शास्त्रीय-विवेचन प्रसंग में शारदातनय ने अनुकरण की इस अभिनय प्रणाली के आङ्गिक स्वरूप को भावाश्रित कह कर व्यक्त किया है। इस सन्दर्भ में विद्वान् आचार्य ने जहाँ वाक्यार्थ-बोध को रसाश्रित स्वीकार किया है वहीं प्रत्येक पद से होने वाले अर्थ-बोध को भावमूलक मात्र कहते हुए उसे भावाश्रित कहा है। आपका अभिप्राय यह है कि रसात्मक वाक्य ही होते हैं, क्योंकि वाक्य ही भाषा की वह मूल इकाई है जो भावात्मक स्थिति के रसात्मक स्वरूप को व्यक्त करने में सक्षम है। वाक्यगत पद विशेष द्वारा रसात्मक अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि जब तक वाक्यगत पदों का अर्थ-परक पारस्परिक सन्नियोजन नहीं होता तब-तक रसात्मक अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। प्रत्येक पद की शक्ति अपने ही अर्थ तक सीमित रहती है। वाक्य की विशेष शक्ति के बल पर ही वाक्यगत प्रत्येक पद की पारस्परिक अन्वितति हो पाती है, जो रसात्मक बोध का कारण है। शारदातनय का कहना है कि जो रसात्मक रहता है उसका अभिनय वाक्यार्थ-परक होता है अर्थात् अभिनय की रसात्मक स्थिति द्वारा वाक्यार्थ को ही अभिनीत रूप में उपस्थित किया जा सकता है। इसके विपरीत जहाँ भावात्मक अभिनय की अवस्था रहती है वहाँ पदार्थाभिनय का स्वरूप ही स्वीकार किया जाता है, क्योंकि भाव की अभिव्यक्ति पद द्वारा होती है। इसीलिये पदार्थ को भाव-परक माना जाता है। जहाँ इस प्रकार के भाव विशेष को अभिनीत किया जाता है वहाँ पदार्थाभिनय ही स्वीकृत है। विद्वान् आचार्य ने नृत्त को रसाश्रित तथा नृत्य को भावाश्रित बताया है।

नृत्त-नृत्य

नाट्य विषयक विवेचन क्रम में सर्व प्रथम नाट्य की परिचयात्मक स्थिति को परिभाषित करते हुए आचार्य शारतदानय ने स्पष्ट कर दिया है कि नाटक में विद्यमान वाक्यार्थ एवं पदार्थ के अभिनय गर्भ नट-कर्म को ही नाट्य कहा जाता है[1]। प्रस्तुत सन्दर्भ में आपने नाट्य के हेतु अभिनयपरक नट-कर्म पर विशेष बल दिया है। नाटक में वाक्यार्थ तथा पदार्थ के जिस स्वरूप को भाषा के माध्यम से व्यक्त किया गया हो उसी को अभिनय प्रक्रिया द्वारा प्रेक्षक के भाव-बोध की रसात्मक स्थिति में पहुँचा देना नाट्य का लक्ष्य है। शारदातनय ने इस पदार्थमात्राभिनय रूप नर्तक नटकर्म के दो भेद बतलाये हैं जिन्हें नृत्त एवं नृत्य कहा गया है[2]। इन दोनों के भी मार्ग तथा देशी नामक दो भेदों का उल्लेख किया गया है। मार्ग को भावाश्रित बताते हुए शारदाननय का कथन है कि जहाँ समस्त ध्रुव, चार-नीतियाँ, ताल-मार्ग, एवं लय युक्त प्रसंग की अवतारणा की गयी हो उसे मार्ग कहते हैं। इसी तरह देशी को ताल एवं लयों का आश्रय बताया गया है। शारदातनय ने इनके भी मधुर एवं उद्धत नामक दो भेद किये हैं। मधुर को लास्य तथा उद्धत को ताण्डव भी कहा गया है। गीत, वाद्य एवं उभयात्मक स्थितियों के कारण सभी के तीन-तीन रूपों का उल्लेख किया गया है। शारदातनय ने इनमें से किसी के भी परिचयात्मक स्वरूप का वर्णन नहीं किया है। सन्दर्भ के अनुसार इन तीनों का सम्बन्ध मधुर एवं उद्धत अर्थात् लास्य तथा ताण्डव से ही प्रतीत होता है। इनके प्रथम रूप को गीत प्रधान, द्वितीय को वाद्य प्रधान तथा तृतीय रूप को गीत एवं वाद्य की साम्य स्थिति-परक माना है। इसी सन्दर्भ में आपका पुनः कथन है कि नट द्वारा किये जाने वाले रसप्रधानाभिनय मार्ग को नृत्त तथा नर्तकाश्रित भाव-प्रधानाभिनय मार्ग को नृत्य कहा जाता है[3]।

लास्य

शारदातनय ने लास्य का परिचयात्मक विवरण उपस्थित करते हुए उसे रसभाव युक्त, अंगचालन से परिपूर्ण, ललित-लयों तथा ललित अंगहारों से सम्पन्न

---

१. नटकर्मैव नाट्यं स्यादिति नाट्यविदां मतम्।

भा० प्र०— दशम अधि० पृ० २९६, पं० ७।

२. पदार्थमात्राभिनयरूपं नर्तककर्म यत्।
तन्नृत्तनृत्यभेदेन तद्द्वयं द्विविधं भवेत्॥

भा० प्र०—दशम अधि० पृ० २९६ पं० ८-९।

३. रसप्रधानाभिनयं मार्गं नृत्तं नटाश्रयम्।
भावाभिनेयं मार्गं तन्नृत्यं यन्नर्तकाश्रयम्॥

भा० प्र०—दशम अधि० पृ० २९६ पं० १६-१७।
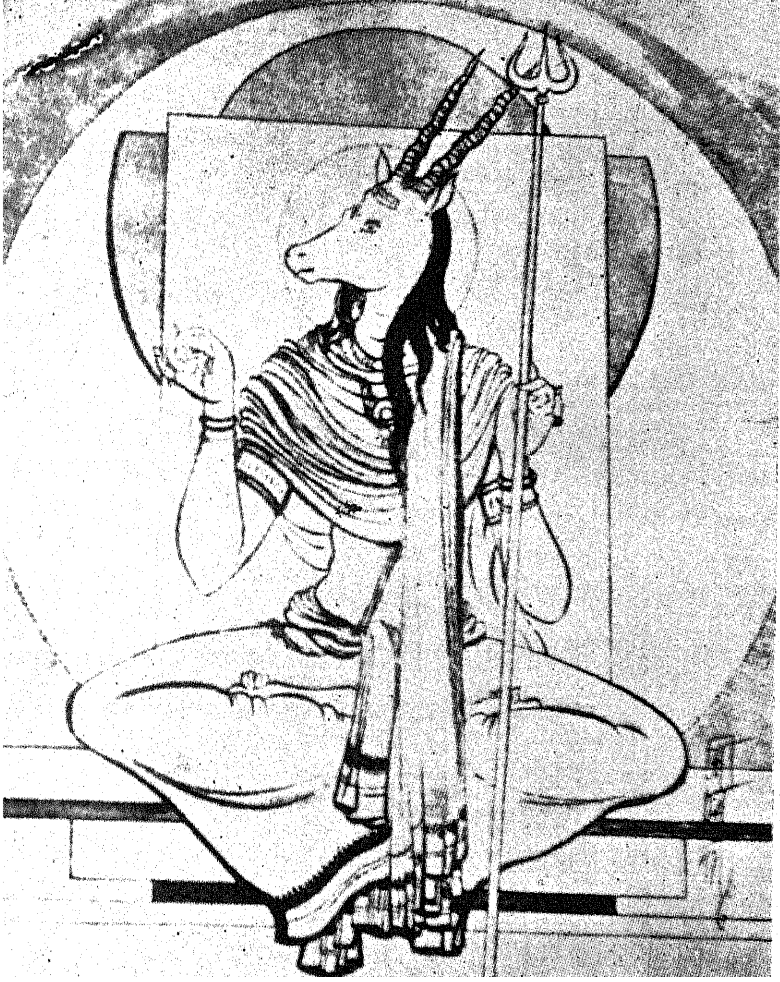
नृत्य-स्वरूप

नृत्तशास्त्रमिदं रम्यं मृगवक्त्रं जटाधरम् ।
अक्षसूत्रं त्रिशूलञ्च बिभ्राणं च त्रिलोचनम् ॥

—श्रीतत्त्वनिधि, पृ० १०१

किये जाने वाला, गीतियुक्त एवं कैशिकी वृत्ति से परिपूर्ण स्थिति वाला बताया है। इसी तरह ताण्डव पर विचार करते हुए उसे उद्धत करणों तथा अंगहारों से सम्पन्न किये जाने वाला और गीतकालीन आरभटी-वृत्ति वाला स्वीकार किया है। दोनों (लास्य-ताण्डव) ही नटकर्म रूपात्मक होते हैं। इसलिये इन्हें नाट्य भी कहा जाता है[1]।

लास्य के भेदों पर विचार करने से पूर्व लास्य पद की चर्चा करते हुए शारदातनय का पुनः कहना है कि ताल, गीत, वाद्य, नृत्त एवं अभिनय क्रम में लास्य के बीच सुकुमार प्रयोग निश्चित रहता है। आपने लास्य के चार उपभेदों का उल्लेख किया है जो क्रमशः शृङ्खला, लता, पिण्डी एवं भेद्यक नाम से व्यवहृत हैं। शारदातनय ने लता नामक लास्य को ही रासक बताते हुए उसके तीन रूपों का क्रमशः दण्डरासक, मण्डलरासक और नाट्यरासक नामों से उल्लेख किया है। शृङ्खला एवं भेद्यक के भी दस भेदों का उल्लेख किया है, किन्तु उनकी नाम परक गणना का यहाँ अभाव ही है। जहाँ तक पिण्डी नामक बन्ध का सम्बन्ध है उसके अनेक भेदों का संकेत करते हुए भी उनकी गणना तथा नामोल्लेख नहीं किया गया है।

शारदातनय ने भाव भेद अर्थात् भावों की अनेक रूपता के आधार पर लास्य की भी अनेक रूपता का संकेत किया है। लास्य के ऐसे ही भेदों में गुण्डलीवृत्त की भी गणना की गयी है। इस गुण्डलीवृत्त को नियमों से हीन, देश विशेष की रुचि के अनुरूप परिवर्तित किये जाने वाला बताया है। यह देशी तालों, वाद्यों तथा देशी गीतों के आधार पर प्रवर्तित होता है। इसमें ६४ अंग विद्यमान रहते हैं परन्तु इसमें और लय तथा रीति का ध्यान नहीं रखा जाता। यह नृत्त भी शुद्ध, चित्र एवं मिश्र भेद से तीन प्रकार का बताया गया है। इसमें कभी कन्दुक क्रीड़ा आदि की स्थिति विद्यमान रहती है और विभिन्न स्थानों में सम्पन्न होने वाली लीलाओं को लेकर यह प्रवर्तन होता है।

वृन्द

प्रस्तुत सन्दर्भ में विद्वान् विचारक ने वृन्द के भी महत्त्व की चर्चा की है तथा उसके परिचयात्मक स्वरूप को भी उपस्थित किया है। इस सन्दर्भ में भरत आदि पूर्ववेत्ता आचार्यों का उल्लेख करते हुए शारदातनय का कहना है कि वृन्द के बिना नाट्य, नृत्य और नृत्त शोभायमान नहीं होता। इसीलिये भरतादि आचार्यों

---

१. रसभावसमायुक्तमङ्गचालनसंश्रयम्।

....

नटकर्मात्मकत्वात्तद्द्वयं नाट्यमितीरितम्॥

मा० प्र०—दशम अधि० पृ० २९६-२९७।

ने भी वृन्द की परिकल्पना को आवश्यक बताया है। वृन्द का स्वरूप-परक परिचय उपस्थित करते हुए कहा गया है कि जिस प्रयोग में नट, नर्तक एवं गायक और वादकादि सम्मिलित स्थिति में रहते हैं उसे वृन्द कहा जाता है[1]। शारदातनय ने अभ्यन्तर एवं बाह्य रूप में वृन्द के दो भेदों का उल्लेख किया है। अभ्यन्तर वर्गीय वृन्द में केवल स्त्रियाँ रहती हैं तथा बाह्य में स्त्री एवं पुरुषों की मिश्रित अवस्था रहती है। आपने ज्येष्ठ, मध्य एवं कनिष्ठ रूप में भी वृन्द के तीन भेदों का उल्लेख किया है, किन्तु इनके स्वरूप का परिचय नहीं दिया।

ताण्डव

शारदातनय ने ताण्डव के भी तीन भेदों का उल्लेख किया है जो चण्ड, प्रचण्ड एवं उच्चण्ड नाम से व्यवहृत हैं[2]। चण्ड नामक ताण्डव में आरभटी-वृत्ति तथा लय की विलम्बित स्थिति स्वीकार की गयी है। इस (चण्ड) का उपयोग वीर, रौद्र तथा संसृष्ट रस की उत्पत्ति में बताया गया है। इसी तरह आरभटी-वृत्ति के साथ जहाँ मध्य-लय विद्यमान हो वहाँ प्रचण्ड ताण्डव स्वीकार किया गया है। रौद्र और बीभत्स के मिश्रण में प्रचण्ड ताण्डव के प्रयोग का निर्देश किया गया है। जहाँ तक उच्चण्ड ताण्डव का प्रश्न है इसमें आरभटी-वृत्ति के साथ लय का द्रुत रूप स्वीकार किया गया है। रौद्र, बीभत्स एवं भयानक के समुच्चय में उच्चण्ड ताण्डव के उपयोग का निर्देश किया गया है।

शारदातनय ने 'भाण' नामक उपरूपक प्रसंग में लास्य की उपयोगिता पर विचार करते हुए उसके दस रूपों का वर्णन किया है जिन्हें लास्य में सहायक होने वाले अंगों को विशेष दशा के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। विवेचन के इस क्रम में लास्य विषयक आङ्गिक प्रक्रिया का कहीं भी उल्लेख नहीं है। फिर भी गीत-क्रम तथा वाद्यादि व्यवस्था की भिन्नता के आधार पर लास्य को दस रूपों में उपस्थित किया जाता है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर शारदातनय ने लास्य के इन दस रूपों की परिचयात्मक चर्चा की है। लास्य के वे दस रूप इस प्रकार हैं—१. गेयपद, २. स्थितपाठ्य, ३. आसीन, ४. पुष्पगण्डिका, ५. प्रच्छेदक, ६. त्रिमूढक, ७. उत्तमोत्तम, ८. उक्तप्रत्युक्त, ९. द्विमूढक और १०. सैंधव। गेयपद की चर्चा करते हुए शारदातनय ने ऐसे लास्य को गेयपद कहा है जिसमें वीणादि वाद्यों का सहयोग ललितरूप तथा नायिका द्वारा गीत भी उपस्थित हो। इसी तरह नायिका द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले वाक्याभिनय से युक्त लास्य को स्थित-पाठ्य कहा

१. नटाश्च नर्तकाश्चैव गायका वादकादयः।
यस्मिन् प्रयोगे मिलितास्तत्र तद्वृन्दमुच्यते ॥
भा० प्र०—दशम अधि० पृ० २९८ पं० ३-४।

२. भा० प्र०—दशम अधि० पृ० २९८-२९९।

है। जिस लास्य में अपने स्थान पर स्थित रहती हुई नायिका भ्रू, नेत्र, पाद आदि के संचालन द्वारा विलास का अभिनय उपस्थित करती है उसे आसीन नामक लास्य कहा गया है। जो लास्य अनेक प्रकार के वाद्यों, तालों तथा लयों के योग से प्रस्तुत किया जाता है उसे पुष्पगण्डिका कहा गया है। जिस लास्य में नायिका नायक के किसी अन्या (नायिका) के संगम की आशंका से रुष्ट होकर प्रेम के विच्छेद को प्रकट करती है उसे प्रच्छेदक कहा जाता है। कोमल पदयुक्त, संवृत्तों से विभूषित पुरुषभाव विषयक नास्य को त्रिमूढक कहा जाता है। जहाँ लास्य देश, भाषा की विशेषता के साथ चंचल वलयों की श्रृङ्खला के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है वहाँ सैन्धव नामक लास्य माना गया है। जहाँ लास्य भाव तथा रसों से युक्त रूप में ललितचारियों द्वारा चित्रार्थं का अभिनय उपस्थित किया जाता है उसे द्विमूढक कहते हैं। उत्तमोत्तम नामक लास्य में पास के व्यक्ति की उपस्थिति जाने बिना ही उत्कण्ठा पूर्ण वाक्य सहित लास्य को गेय भाव के साथ उपस्थित किया जाता है। जिस लास्य में क्रोध एवं प्रसाद जनित प्रश्नोत्तरात्मक वाक्य विद्यमान रहते हैं, उसे उक्त प्रत्युक्त नामक लास्य कहा जाता है। शारदातनय ने इस प्रसंग में एक भाविक नाम का भी उल्लेख किया है। इसमें नायिका अपने प्रिय को स्वप्नमयी स्थिति के बीच देखकर प्रभावित होकर जागृत दशा में भी उसी मनोभाव को प्रस्तुत करती हुई दृष्टिगोचर होती है। लास्य के इन रूपों की चर्चा के पश्चात् विद्वान् आचार्य ने नृत्त विषयक किसी अन्य मत का भी उल्लेख किया है। इस मत के अनुसार गुल्म, श्रृङ्खलित, लता तथा भेद्यक नामक नृत्य के चार भेद किये गये हैं। गुल्म नृत्य सामूहिक स्थिति द्वारा व्यक्त किया जाता है, श्रृङ्खला नामक नृत्य में दो नर्तक एक दूसरे को बाँधे रहते हैं, लता में अंग परस्पर आवेष्टित रहते हैं और समुदाय से अलग हट कर एक-एक का नृत्य उपस्थित करना ही भेद्यक नृत्य कहा गया है। शारदातनय का कथन है कि कुछ लोग पिण्डी-बन्ध तथा गुल्म को एक दूसरे का पर्याय मानते हैं। बिलम्ब में गुल्म-बन्ध तथा लयाञ्चर में श्रृङ्खला की स्थिति रहती है और मध्यम में लता-बन्ध और द्रुत में भेद्यक नृत्य स्वीकार किया जाता है।

वाद्य

नाटकादि के उपकारक अंगों में शारदातनय ने नृत्त और गीत के ही समान वाद्य को भी महत्त्वपूर्ण बताया है। वास्तव में पूर्वरंग के प्रारम्भ से ही वाद्य की उपयोगिता का अनुभव होने लगता है। यह, एक ऐसा आवश्यक एवं उपयोगी अंग है जो नृत्त और गीत का सहयोगी होने के साथ ही साथ अभिनय प्रक्रिया में भी महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि का निर्वाह करने वाला है। शारदातनय ने गीत के विविध रूपों में तथा उनकी प्रभावपूर्ण स्थितियों पर विचार करते समय जहाँ वाद्य के उपयोग

का संकेत किया है वहीं नृत्त की प्रक्रियाओं में भी वाद्य विशेष तथा उसके सामूहिक प्रयोगों की चर्चा की है। मुख्यतः वाद्य की चर्चा के तीन स्थल बहुत ही महत्त्वपूर्ण रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। सर्वप्रथम पूर्वरंग की विभिन्न स्थितियों का परिचयात्मक वर्णन करते समय वाद्यों के आवश्यक सन्निवेश का उल्लेख किया है। इसके अनन्तर शृङ्ग अथवा समाज के वर्णन क्रम में वाद्य के विविध रूपों तथा उनकी विभिन्न संख्यागत स्थितियों का भी संकेत परक उल्लेख किया गया है। इसी तरह ध्रुवा वर्णन प्रसंग में भी वाद्य के प्रभावों का संकेत करते हुए ध्रुवा के विविध रूपों का वर्गीकरण किया गया है।

संगीत शास्त्रियों ने वाद्य की विविध अवस्थाओं पर विचार करते हुए विभिन्न वाद्यों के भिन्न-भिन्न प्रभावों का पृथक्-पृथक् विश्लेषण किया है। राग, लय, ताल आदिकों का संगीत के साथ ही साथ नाट्य विषयक अन्य महत्त्वपूर्ण उपयोगी अंगों की दृष्टि से भी महत्त्व होता है। ताल आदि उपकरणवाद्य के साथ ही साथ नृत्य के भी आवश्यक स्वरूप को निर्धारित करते हैं। इसलिये वाद्य एवं तालादि का विस्तृत विवेचन संगीत शास्त्र में उपलब्ध है। विवेचन क्रमानुसार सम्पूर्ण वाद्य यन्त्रों को चार भागों में विभक्त किया गया है जो क्रमशः—तत, सुषिर, आनद्ध और घन नाम से प्रसिद्ध हैं। तन्त्री जैसे वाद्य तत वर्ग में, वशी आदि को सुपिर वर्ग में, मृदंगादि को अनवद्ध एवं घण्ट-घड़ियाल जैसे वाद्यों को घन वर्ग में गिना जाता है।

शारदातनय ने पूर्वरंग, शृङ्ग एवं ध्रुवा वर्णन प्रसंगों में जिन-जिन वाद्यों का उल्लेख किया है वे वाद्य यन्त्रों के प्रत्येक वर्ग का समुचित प्रतिनिधित्व करते हैं। विद्वान् आचार्य ने शृङ्गादि के प्रसंगों में विविध वाद्य यन्त्रों के प्रयोग की पृथक्-पृथक् संख्याओं का भी निर्देश किया है। 'भावप्रकाशन' में उल्लिखित कतिपय महत्त्वपूर्ण वाद्य-यन्त्रों तथा वादकों के नाम इस प्रकार हैं[1]—तन्त्री, मुरज, विट्टालिक, वांशिक, ओताकर, पाटहिक, मृदंग, वैणिक, झर्झरिका (भेद-हुडुक्किका तथा कोहलिक) आदि। आपने पूर्वरंग प्रत्याहार वर्णन प्रसंग में कुतप के विन्यास का उल्लेख किया है और कुतप की परिचयात्मक स्थिति का विवेचन करते हुए उसे मुरजादिक भाण्डवाद्यों का संचय बताया है। इसी तरह मुरजादि वाद्यों को प्रस्तुत करने की क्रियात्मक दशा को कार्य कहा है। आस्तावण नामक पूर्वरंग की चर्चा करते हुए उसमें आतोद्य रंजन पर बल दिया है और दण्ड, हस्तादिकों से तन्त्री आदिक वाद्यों की दीप्ति को आतोद्यरंजन कहा है। वाद्य-वृत्तियों के विभाग को बक्त्रयाणी कहा गया है। इस सम्बन्ध में सम, उपरि और पूर्व नामक पाणी के तीन भेद बताये गये हैं। तन्त्री में ओज लाने के लिये उपयोग में आने वाली पाणी

१. भा० प्र० —दमश अधि० पृ० ३००-३०१।
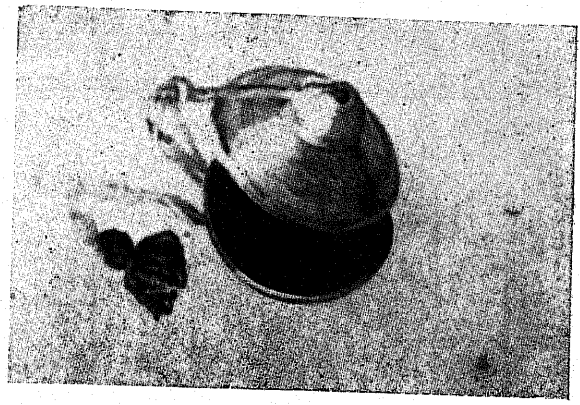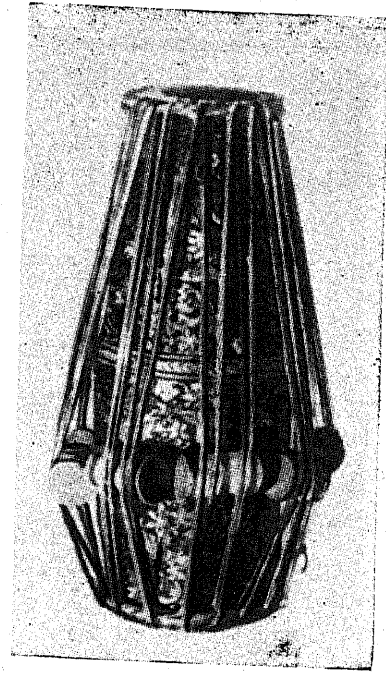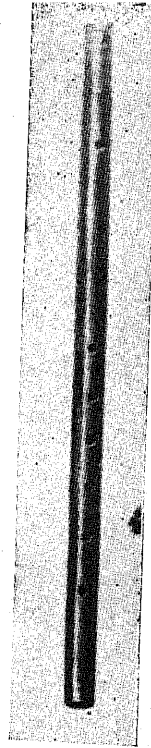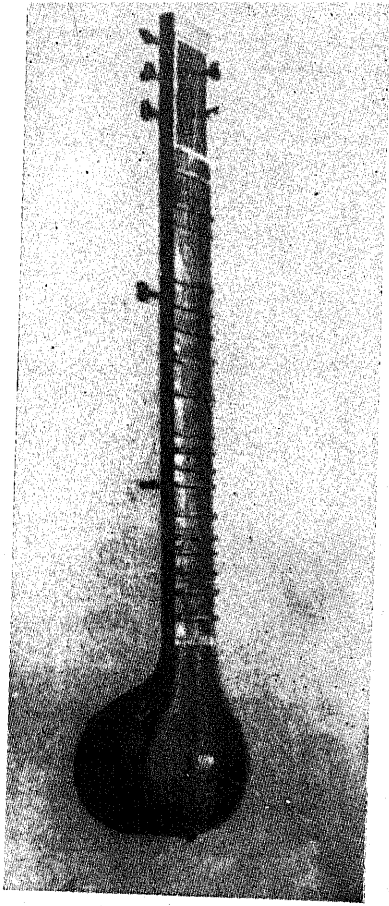
वाद्ययन्त्र (१) तत, (२) सुषिर, (३) आनद्ध, (४) घन—दि म्यूजिक एण्ड म्यूजिकल इन्स्ट्रूमेण्टस्

(५) आरोह-अवरोह—नार्दन इण्डियन म्यूजिक वाल्यूम द्वितीय (ले०-एलिन डी०)

को परिघट्टना कहा है। संघट्टना में वीणा के लिये प्रयुक्त विधि की आवश्यकता कही गयी है। तन्त्री एवं भाण्डवाद्यों के योग को मार्गासारित कहा है।

शारदातनय ने ताण्डव, लास्यादि नृत्त भेदों में प्रयुक्त होने वाले उपयोगी अंगों के समूह को शृंग कहा है और उसके उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यमोत्तम, मध्यम और कनिष्ठ नामक पाँचों भेदों का उल्लेख किया है। उत्तमोत्तम नामक शृंग में आठ विहालक, छः वांशिक, पाँच ओताकार एवं तीन पाटहिकों के समुदाय का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार उत्तमोत्तम शृंग वह है जिसमें अनेक वाद्य यन्त्रों तथा प्रत्येक के वादकों की भिन्न-भिन्न संख्याओं के सामूहिक उपयोग की आवश्यकता बतलायी गयी है। वस्तुतः शृंग में वाद्यों की सामूहिक स्थितियों का सर्वत्र उपयोग किया जाता है, किन्तु भिन्न-भिन्न शृंग रूपों में वाद्य यन्त्रों तथा उनके वादकों की संख्याओं की स्थिति पृथक्-पृथक् रहती है। उत्तम नामक शृंग पर विचार करते हुए उसमें छः विहालक, चार वांशिक, चार ओताकार, चार मार्दङ्गिक और दो पाटहिकों की आवश्यकता बतायी गयी है। इसी तरह मध्यमोत्तम में पाँच वांशिकियों, तीन ओताकारों, तीन पाटहिकों तथा तीन मार्दङ्गिकों की आवश्यकता होती है। मध्यम में तीन विहालक, तीन वांशिक, तीन विहालिकाओं, तीन ओत-कारों चार मार्दङ्गिकों तथा दो पाटहिकों की आवश्यकता बतायी गयी है। कनिष्ठ नामक शृंग में दो वांशिक, दो ओताकार एक पाटहिक, दो मार्दङ्गिक, एक विहालक होता है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रत्येक शृंग रूप में वाद्य यन्त्रों एवं वादकों के सामूहिक प्रभाव का रूप निर्दिष्ट किया गया है।

शारदातनय ने ध्रुवा के परिचयात्मक वर्णन प्रसंग में वृत्तों के माध्यम से ध्रुवा के परिज्ञान का निर्देश किया है। इस सम्बन्ध में आपने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जहाँ कहीं भी वाद्य का संयोग रहता है वहाँ वृत्त की निश्चित स्थिति विद्यमान रहती है। इस प्रकार वाद्यों के संयोग द्वारा वृत्तों तथा वृत्तों द्वारा ध्रुवाओं के परिज्ञान की स्पष्ट व्यवस्था की गयी है। विद्वान् आचार्य ने मार्ग की चर्चा करते हुए उसमें ध्रुवाओं के प्रयोग की आवश्यकता बतायी है। इसी सन्दर्भ में अभिनय की रसात्मकता के लिये पाँच प्रकार की ध्रुवाओं के प्रयोग का उल्लेख किया गया है जो इस प्रकार है[1]—प्रावेशिकी, आक्षेपिकी, प्रसादिकी अन्तरा और नैष्क्रामिकी।

---

१. ध्रुवाः पञ्च प्रयोक्तव्या रसाभिनयसिद्धये।
प्रावेशिकी तु प्रथमा द्वितीयाऽऽक्षेपिकी स्मृता॥
प्रासादिकी तृतीया तु चतुर्थी चान्तरा ध्रुवा।
नैष्क्रामिकी पञ्चमीति ज्ञेयाः क्वापि क्वचिद् ध्रुवाः॥
....

यत्र यत्र ध्रुवास्तत्र न योज्या नाट्ययोक्तृभिः।

नाट्यकर्म में पात्रों के प्रवेश की सूचना देने वाली नाना रसात्मक गाथा को प्रावेशिकी, क्रम का उल्लंघन करके किसी दूसरे लय के आक्षेप से परिपूर्ण ध्रुवा को आक्षेपिकी, आक्षेप के कारण अन्तर उपस्थित होने पर जिस ध्रुवा से रंगमण्डप को आह्लादित किया जाता है उसे प्रासादिकी, वस्तु-रसादि के प्रभाव से सभी के बीच में कल्पित की गयी ध्रुवा को अन्तरा और सभी अंकों के बाद प्रस्तुत विषयक के निर्योग में प्रयुक्त ध्रुवा को नैष्क्रामिकी कहा गया है। इस सन्दर्भ में ध्रुवा के पाँच हेतुकों का भी उल्लेख विद्यमान है जो क्रमशः जाति, स्थान, प्रमाण, प्रकार एवं नाम के रूप में कल्पित किये गये हैं। जहाँ अक्षर को मानकर वृत्त का प्रयोग किया जाता है वहाँ जाति मानी गयी है। स्थान नामक हेतुक के पाँच भेद कहे गये हैं जो इस प्रकार हैं— प्रवेश, आक्षेप, निष्क्राम, प्रासादिक और अन्तर। प्रमाण नामक हेतुक परिचय देते हुए उसे छः अथवा आठ कलाओं पर आधारित बताया गया है और प्रयोग के सम, अर्द्ध तथा विषम रूप को प्रकार कहा है। इसी तरह ध्रुवा के प्रसंग में कहे गये ध्रुवा गत नाम को ही नाम नामक संज्ञा दी गयी है। शारदातनय ने गीत, रोदन, सम्भ्रान्ति, प्रेष्य, उत्पात और विस्मय में ध्रुवा के उपयोग का निषेध किया है। आपने प्रसंग के अनुसार ध्रुवा की पृथक् पृथक् भाषाओं का भी उल्लेख किया है जो संस्कृत, अर्द्ध संस्कृत, अर्द्ध प्राकृत-संस्कृत, पैशाची अथवा मागधी एवं अपभ्रंश के रूप में स्वीकृत हैं।

आहार्याभिनय

शारदातनय ने नाट्य की प्रक्रिया के सम्यग् निर्वाह तथा नाट्य विषयक रस सिद्धि को ध्यान में रखते हुए विभिन्न पात्रों के आधार, उपचार, व्यवहार, अलंकार, आकार तथा वेश और विहार आदि की विभिन्न रूपात्मक स्थितियों को ध्यान में रख कर ही अभिनय प्रस्तुत करने का निर्देश किया है। वस्तुतः सामाजिक अवस्थाओं तथा प्रादेशिक विशिष्टताओं के प्रभाववश पात्र की प्रवृत्तियों में अन्तर तो दृष्टिगोचर होता ही है साथ ही साथ उनकी बाह्य स्थितियाँ भी अपने-अपने सन्दर्भ में प्रभावित होती तथा एक दूसरे की स्थिति से भिन्नता प्रकट करती हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में अभिनय की उस दशा पर विचार करना है जिसे आहार्य कहा गया है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि आहार्य का सम्बन्ध रूपात्मक साज-सज्जा की बाह्य स्थितियों से रहता है। देश, काल, सामाजिक परिवेश आदि ऐसे तथ्य हैं जो पात्र विशेष की आचार, विचार तथा व्यवहार की अवस्थाओं के साथ ही साथ उसके अलंकारों तथा वेश रचना परक वस्त्रादिकों को भी प्रभावित करते हैं। राजकीय वस्त्राभरणों में जो रूप दृष्टिगोचर होता है, साधारण नागरिकों तथा ग्रामीण आदिकों में उसका वही रूप नहीं रहता।

भारत के प्राचीन जनपद
भाव प्रकाशन में वर्णित.
पारसीक
पामीर
सांकण
काजाक
वाह्लीक
काश्मीर
शक
हूरा
कम्बोज
कैकेय
आरट्ट
कुरु
किरात
नेपाल
मरु
शूरसेन
कौशल
सिक्किम
भूटान
कामरूप
सिन्ध
पाल
यदु
मैथिल
सौवीर
दशार्ण
वर्धक
नागालैण्ड
काशी
मगध
अवंती
अंग
गुर्जर
लाट
कारुष
बंगाल
सौराष्ट्र
आनूर्प
कोंकण
औड्र
क्रथकशिक
कलिंग
बम्बई
विदर्भ
आन्ध्र
पराजी
कर्नाटिक
मद्रास
नगर
केरल
पल्लव
चौल
पाण्डय
सिंहल

मानचित्र

इसी तरह देश और काल (ऋतु आदि) की स्थितियाँ भी रूपात्मक बाह्य स्थितियों के परिवर्तन का कारण होती हैं। इस महत्त्वपूर्ण विषय को ध्यान में रख कर ही हमारे आलोच्य आचार्य ने इस सम्पूर्ण भारतवर्ष की प्रादेशिक स्थितियों का वर्गीकृत विश्लेषण प्रस्तुत किया है[1]। सम्पूर्ण भारतवर्ष को नौ हजार लम्बा तथा सात हजार चौड़ा बताते हुए अपने पौराणिक प्रक्रिया के अनुसार कृतयुग (सतयुग) त्रेता, द्वापर एवं कलयुग रूप में कालक्रम की ऐतिहासिक अवस्थाओं का भी उल्लेख करते हुए मनुष्य, यक्ष, विद्याधर, सिद्ध, गन्धर्व एवं महर्षियों के निवासमय रूपों की चर्चा की गयी है। यह (भारतवर्ष) एक विस्तृत देश है जिसके ६४ प्रादेशिक विभाग बताये गये हैं जिनमें नाना जनपदों की स्थिति स्वीकार की गयी है[1]। ये ६४ प्रदेश इस प्रकार हैं—पाण्ड्य, केरल, चोल, सिन्धु, सिंहल, पामर, कलिंग, यवन, म्लेच्छ, पारसीक, शक, गौड़, लाट, विदर्भ, कामरूप, आन्ध्र, कोंकण, कर्नाटक, सुह्म, काम्बोज, हूण, कारुष, गुर्जर, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, हिम्मीर, अवन्ती, अनूपज, अंग, बंग, बंगाल, काशी, कोशल, मैथिल, किरात, वर्धक, आरट्ट, कुरु, पांचाल, कैकय्य, औढ्र, मागध, सौवीर, दशार्ण, मगध, नेपाल, जैन, बाह्लीक, पल्लव, क्रथ-कैशिक, शूरसेन, काजान, कारुश, यवन, यदु, चक्र, कुरु, पर्वतीय, हैमन, काश्मीर, मरु, कंकाण, नगन, मंकण।

उपर्युक्त इन प्रादेशिक इकाइयों के मध्य बोली जाने वाली भाषाओं के स्वरूप में तो अन्तर रहता ही है साथ ही साथ इन प्रदेशों में निवास करने वालों की वेश-भूषा एवं अलंकारोपकरण की रूपात्मक अवस्थाएँ भी भिन्न-भिन्न रहती हैं। अभिनय प्रक्रिया में प्रत्येक पात्र की वास्तविक अनुभूति को उसकी बाह्य स्थितियों के साथ-साथ अनुकरण करते हुए प्रस्तुत किया जाता है। यह अनुकरण पात्र की यथार्थ स्थिति के जितने ही निकट होगा उतना ही अधिक प्रभावपूर्ण भी होगा। शारदातनय ने यथार्थ जीवन के अनुकरण मूलक इसी प्रभाव को ध्यान में रखकर भारतवर्ष की चौंसठ इकाइयों का उल्लेख किया है[2]।

इस सन्दर्भ में नाटक में सहयोगी रूप से उपस्थित होने वाले पात्रों की आन्तरिक एवं बाह्य विशेषताओं का वर्णन करते समय शारदातनय ने जो विचार व्यक्त किये हैं उनका विशेष महत्त्व है। भरत की चर्चा करते हुए आपने भाषा,

---

१. देशो भारतवर्षाख्यो नवसाहस्त्रयोजनः।

भा० प्र०—दशम अधि० पृ० ३०९ पं० ५।

२. अस्य भारतवर्षस्य चतुर्थो दक्षिणापथः।

चतुष्षष्टिभिदाभिन्नो नानाजनपदाश्रयः॥

भा० प्र०—दशम अधि० पृ० ३०९ पं० १५-१६।

वर्ण, उपकरण तथा नाना प्रकृतियों के साथ-साथ वेश, वय एवं कर्मचेष्टा की विशिष्ट दशा का उल्लेख किया है। आहार्य की दृष्टि से भरत विषयक प्रस्तुत मान्यता में उल्लिखित वेश, पद का अर्थ-परक संकेत महत्त्वपूर्ण है। यह पद-रूप, रचना-परक बाह्य स्थिति को सूचित करता है। इसी तरह नटों के सन्दर्भ में 'उज्ज्वलारूपवन्ताः' पद का भी रूप-परक उज्ज्वल वर्ण की स्थिति से सीधा सम्बन्ध प्रतीत होता है। यह पद आकृति की बाह्य दशा का ही संकेत करता है। विदूषक नामक पात्र के विषय में पिंगलाश 'हास्यानूकविभूषित' एवं पिंग-केश, 'हरितश्मश्रु' पदों का प्रयोग करते हुए इस पात्र की आहार्य परक अभिनयात्मक दशा का निर्देश किया गया है। इसी तरह विट के विषय में 'माल्यभूषोज्ज्वलः' पद का किया गया प्रयोग उसकी बाह्य साज-सज्जा के आहार्यपरक स्वरूप को ध्वनित करता है। इसी प्रकार काष्ठकी, देवी, आश्रिता, नाटकीया, आदिक विभिन्न पात्रों के विषय में जिन रूपात्मक तथा अभिनय परक दशाओं का वर्णन किया गया है उनसे इन पात्रों की आहार्य मूलक बाह्यस्थितियों का परिचय प्राप्त होता है जो अभिनय के आहार्यरूप को संकेतित करने वाले हैं। वस्तुतः शारदातनय जब कद्रुक, उष्णीष, वेत्रादि धारण की चर्चा करते हैं तथा फल, मूल, ओषधि, माल्य, गन्ध, आभरण, भाण्ड, विकटदन्त, तुन्दिल आदि विशेषताओं का उल्लेख करते हैं तो नाटक अभिनयात्मक स्वरूप की आहार्य स्थिति पर ही उनका ध्यान रहता है। इस प्रकार जहाँ कहीं अवसर उपस्थित हुआ है शारदतनय ने अभिनय के आहार्य सन्दर्भ के अनुरूप आवश्यक संकेत कर दिया है।

विद्वान् आचार्य ने नाट्य रचना में प्रवृत्त होने वाले साहित्यकारों को दृष्टि में रखकर पात्र विशेष की विविध अवस्थाओं के लिये सादृश्य रूप में जिन उपमानों का निर्देश किया है वे भी आहार्य गत सूक्ष्म संकेत के ही परिचायक हैं। उदाहरणार्थ देवताओं के वेषादि गत अंकों की विशेष स्थितियों का सादृश्य विधान करते समय[1] सूर्य-अग्नि एवं पवन, दैत्य-राक्षस उद्धतों के पूर्ववर्णित अंगों का विधान करते समय मेघ-पर्वत और सागर तथा सिद्ध-गन्धर्व और यक्षादि के सम्बन्ध में कुञ्जर, ऋषभ आदि के उपमान का निर्देश किया गया है। इसी तरह कालिका, मल्ली, सारसी, शिखिनी, मृगी आदि को उत्तम नायिकाओं के उपमान रूप में प्रस्तुत करने का विधान है। शारदातनय ने इस विषय में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि मध्यम तथा वेश्यादिक अधम पात्रों के लिये उपमान उपस्थित करते समय पात्र की विशेष प्रकृति

१. नेत्रादेर्देवतौपम्ये सूर्याग्निपवनाः स्मृताः।
रक्षोदैत्योद्धतानां च मेघपर्वतसागराः॥

भा० प्र०—दशम अधि० पृ० ३०४ पं० ७-८।

के साथ तादात्म्य-भाव प्रकट करने वाले उपमानों की ही योजना करनी चाहिए। पात्र के गुण-प्रकृति पर विचार किये बिना उपस्थित किये जाने वाले सादृश्यगर्भ उपमानों का निषेध भी किया गया है। इस विशेष विश्लेषण क्रम का एक मात्र उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि अभिव्यक्ति की भाव संप्रेषणीयता में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो। यद्यपि प्रस्तुत प्रसंग विषय वर्णन की शैली का ही एक अंग है, किन्तु सादृश्य के माध्यम से वर्ण्य-विषय की जिस विशेषता का इस प्रसंग से परिचय प्राप्त होता है वह अभिनय के आहार्य रूप को सशक्त माध्यम से व्यक्त करने में समर्थ प्रतीत होता है।

सात्त्विकाभिनय

अभिनय के सात्त्विक रूप में शारदातनय ने जिस प्रक्रिया का संकेत किया है उसका आधार रूप में सीधा सम्बन्ध अन्तःकरण की भावमूलक स्थितियों से रहता है। सात्त्विकभावों के वर्णन प्रसंग में सात्त्विक नाम से गिने जाने वाले जिन आठ रूपों की परिचयात्मक स्थिति, उत्पत्ति पर एक दशा, अनुभावगत अवस्था एवं रस सहायक परिणतियों का वर्णन किया जा चुका है उनकी अनुकरण मूलक अभिनयात्मक प्रक्रियाओं से ही सात्त्विक-अभिनय का सम्बन्ध कहा जा सकता है क्योंकि अन्तःकरण के अतिन्द्रिय भावों की सूक्ष्म अवस्थाओं का अनुकरण सम्भव ही नहीं है। इन भावों के फलस्वरूप बाह्य अंगों में जो विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं वे ही अन्तःकरण के जागृत भावों को सूचित करने में सहायक होते हैं। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, कम्प, वैवर्ण्य आदि अन्तःकरण के ही भावसूचक चिन्ह हैं, जिन्हें सात्त्विक भाव के रूप में ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अन्तःकरण के भाव ही सात्त्विक भाव रूपी कार्यों के कारण रूप हैं। फलतः सात्त्विकभावों की बाह्य स्थितियाँ, आन्तरिक भावों की सूक्ष्म दशाओं का बोध कराती हैं। इसलिये पात्र विशेष के अन्तःकरण में जागृत और उद्दीप्त होने वाले सूक्ष्म-भाव को सूचित करने के लिये सात्त्विक रूप में गृहीत बाह्य चिह्नों को अनुकरणपरक अभिनय की आवश्यकता होती है। अभिनय का यही रूप सात्त्विक अभिनय के रूप में गृहीत होता है। स्वेद, रोमांच आदिक सात्त्विक भावों में कुछ की स्थिति ऐसी रहती है जिन्हें स्वतः प्रसूत, (नैसर्गिक) भी कहा जा सकता है। ऐसी दशा में अभिनय की कलात्मकता का कृत्रिम एवं प्रयासलभ्य अनुकरणमूलक रूप जहाँ नैसर्गिक प्रभाव वाले बाह्य चिह्नों को यथार्थ रूप के ही समान व्यक्त कर देता है, वहाँ अभिनय की सफलता समझी जाती है। ऐसा कर सकना केवल उसी अभिनेता के लिये सम्भव हो पाता है जिसने अपनी वैयक्तिक विशेषता को भूल कर अनुकार्य की भावात्मक पृष्ठभूमि में लीन कर लिया हो। शारदातनय ने नायक-नायिकादि विविध पात्रों की विभिन्न भावात्मक स्थितियों का निरूपण करते हुए सात्त्विक

भावों के रूप में गृहीत होने वाले बाह्य चिह्नों का पृथक्-पृथक् संकेत करके अभिनेताओं के कलात्मक अभिनय का मार्ग प्रशस्त कर दिया है जिसे तत्-तत् प्रसंगों में देखा जा सकता है।

प्रकरण

शारदातनय ने प्रकरण नामक रूपक कथावस्तु के इतिवृत्त और उत्पाद्य दो रूप स्वीकार किये हैं। प्रकरण में नायक कोई वणिक्, सचिव अथवा ब्राह्मण होना चाहिए। धीर-प्रशान्त गुणों वाला यह नायक विरोधी स्थितियों के बीच में भी धर्म, अर्थ और काम में तत्पर रहता है। प्रकरण में सन्धि, प्रवेशक तथा रसादि का नाटक की ही तरह प्रयोग किया जाता है। इसमें नायक की कुलजा तथा गणिका दो प्रकार की नायिकाएँ स्वीकार की गयी हैं। कहीं केवल कुलजा और कहीं केवल वेश्या (गणिका) तथा कहीं दोनों की उपस्थिति एक साथ भी दिखायी जाती है। कुलजा को आन्तरिक और गणिका को बाह्य कहा गया है। इन्हीं के कारण प्रकरण के तीन भेद कहे गये हैं[1]। जहाँ दोनों की उपस्थिति एक साथ दिखायी जाती है उसे संकीर्ण प्रकरण कहा गया है। संकीर्ण प्रकरण में धूर्तों (विटों) का जमघट रहता है। कुलजा तथा वेश्या नायिका का समागम शिल्पादि के व्याज से कराया जाता है। वेश्या के लिये प्राकृत भाषा तथा कुलजा नायिका के लिये संस्कृत भाषा के प्रयोग का निर्देश किया गया है। प्रकरण रूपक की परिभाषा करते हुए हमारे आलोच्य ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है कि जहाँ कवि काल्पनिक (उत्पाद्य) पद्धति से कथावस्तु, नाट्य शरीर और नायक के चरित का वर्णन करता है उसे प्रकरण कहा जाता है। इस सम्बन्ध में इतिवृत्तात्मक कथावस्तु वाले प्रकरण का भी उल्लेख है। दास, विट और वणिक् से युक्त और तीन निमित्त कारणों से समन्वित वेश तथा नीच-पात्रों का वर्णन, प्रकरण में होता है। मध्यम पुरुषों द्वारा विष्कम्भक के प्रयोग का निर्देश दिया है।

विद्वान् आचार्य शारदातनय ने प्रकरण सम्बन्धी भोज की मान्यता को बताते हुए कहा है कि प्रकरण में सदा शुद्ध-विष्कम्भक होना चाहिए[2]। इस प्रकार के प्रकरण में उदात्त राजा, दिव्य चरित एवं राज सम्भोग का वर्णन नहीं होता क्योंकि प्रकरण बाह्य जनों द्वारा प्रयुक्त होता है। विट और चेटादि प्रकरण में सदा बाह्य पात्र माने जाते हैं। समुच्चय और विकल्पों से युक्त, सुन्दर-वेश से युक्त कुलांगना वाला, शकार, विट तथा चेटादि पात्रों से युक्त, राज सम्बन्धी सम्भोगों से मिश्रित, विष्कम्भक

१. आभिः प्रकरणं त्रेधा द्वाभ्यां सङ्कीर्णमुच्यते।

भा० प्र०—अष्टम अधि० पृ० २४२ पं० ४।

२. इति प्रकरणे शुद्धविष्कम्भो भोजनिर्मितः॥

भा० प्र०—अष्टम अधि० पृ० २४२, पं० १५।

से शून्य, कम से कम पाँच अंकों वाले रूपक को प्रकरण कहा जाता है। इस सम्बन्ध शारदातनय ने विट, शकारादि की कतिपय विशेषताएँ भी बतायी है। नायक और नायिकाओं के चरित्र के आधार पर शारदातनय ने ब्राह्मण नायक के लिए 'पद्मावती परिणय' एवं वणिक् नायक के लिये 'मृच्छकटिक' नामक रूपकों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार कुलजा नायिका के चरित्र रूप में 'मालतीमाधव' और गणिका नायिका के चरित्र को दर्शाने के हेतु 'तरङ्गदत्ता' रूपक का निर्देश किया है। कुलजा तथा गणिका के सम्मिलित चरित्र वर्णन के उदाहरण में 'मृच्छकटिक' का नाम निर्देश किया गया है।

भाण

'भावप्रकाशनम्' में भाण रूपक की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जहाँ अपने तथा दूसरे द्वारा अनुभूत धूर्त्त चरित का प्रदर्शन किया जाता है उसे भाण कहते हैं[1]। इसमें नायक अपने या दूसरे के वृत्तान्त को आकाशवाणी से व्यक्त करता है। शारदातनय ने भाण का लक्षण धनंजय, कोहल तथा भोज की पद्धति से किया है। आचार्य कोहल के मतानुसार भाण में एक विट का प्रयोग होता है जो आकाश वाणी का प्रयोग करता है। इसमें शौर्य एवं सौभाग्य की संस्तुतियों में वीर और श्रृङ्गाररस ही सूच्य होता है। भारती-वृत्ति का प्रयोग, एक अंक की कल्पित कथा-वस्तु, मुख और निर्वहण सन्धियाँ, लास्य के दस अंगों (गेयपद, स्थित, आसीन, पाठ्य, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिगूढ़, सैन्धव, विमूढक और उत्तमोत्तमक) का जहाँ निर्वाह होता है उसे कोहलादि आचार्यों ने भाण कहा है। आचार्य शारदातनय ने कोहल सम्मत उपर्युक्त लास्य के दस अंगों के अतिरिक्त एक 'भाविक' नामक नवीन अंग का भी विश्लेषण किया है। आपने भाण में केवल श्रृङ्गार रस को ही आवश्यक मानते हुए स्पष्ट रूप से अन्य रसों के निबन्धक का विरोध किया है, किन्तु अपनी इस रचना 'भावप्रकाशनम्' के नवम अधिकार में भाण के भेदों में 'उद्धत' भेद को भी स्वीकार किया है, जिसके लिये शौर्य प्रदर्शन अपेक्षित समझा जाता है।

भाण के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों की स्वीकृति के अनुसार इसमें दस लास्यांग तथा दशाओं से युक्त समुचित रूप में कल्पित कथावस्तु, भारती वृत्ति की प्रधानता, एक मात्र श्रृङ्गार रस का आश्रय, अपने या दूसरे द्वारा अनुभूति धूर्तचरित्र का वर्णन, भिन्न-भिन्न उक्तियों और प्रत्युक्तियों द्वारा उपस्थित किया गया आकाश भाषित एवं मुख और निर्वहण सन्धियों का होना आवश्यक बताया गया है। भोज ने भी इसी प्रकार के लक्षण का समर्थन किया है। शारदातनय ने किसी अन्य आचार्य के

---

१. भ्रूनेत्रपादचलनविलासाभिनयान्वितम्।

भा० प्र०—अष्टम अधि० पृ० २४५ पं० १९।

मत से स्वीकृत भाण के अन्तर्गत गुल्म, शृङ्खलिका, लता और भेदक, नामक इन चार भेदों का भी उल्लेख किया है। कुछ आचार्यों ने गुल्म और पिण्डीबन्ध को पर्याय माना है। गुल्म विलम्ब में, शृङ्खला लयान्तर में, लता मध्यम में और भेदक द्रुत में प्रयुक्त होता है। इनकी शिक्षा के लिये उपयोग में आने वाले भद्रासन तथा यन्त्र का भी उल्लेख शारदातनय ने किया है। इस विषय में ध्यान देने योग्य विशेष बात यह है कि हमारे आलोच्य ग्रन्थकार ने भाषा एवं कथावस्तु के आधार पर उप-रूपकों के प्रसंग में भाण के नौ भेदों का वर्णन किया है। भाषा के अधार पर सर्व-प्रथम शुद्ध, संकीर्ण और विचित्र नामक भेदों का वर्णन है। कथावस्तु के आधार पर पुनः इन तीन भेदों में से प्रत्येक के तीन-तीन उद्धत, ललित एवं ललितोद्धत भेद कहे हैं। इन नौ भेदों को हम इस प्रकार देख सकते हैं—शुद्ध उद्धत, शुद्ध ललित, शुद्ध ललितोद्धत, संकीर्ण उद्धत, संकीर्ण ललित, संकीर्ण ललितोद्धत, चित्र उद्धत, चित्र ललित, चित्र ललितोद्धत। इनका विस्तृत विवेचन उपरूपक प्रसंग में द्रष्टव्य है।

प्रहसन

शारदातनय ने प्रहसन की सामान्य विशेषताएँ भाण की तरह बतलायी हैं। आपने इसके तीन भेद—शुद्ध, संकीर्ण तथा वैकृत बताये हैं।[1] क्रमशः इन तीन भेदों का सम्बन्ध श्रोत्रिय, निर्ग्रन्थ और शाक्य से जोड़ने का उल्लेख किया है। भाषा द्वारा प्रयत्न सिद्ध तथा हास्य से युक्त चेट, चेटी एवं विट का जहाँ प्रयोग होता है उसे शुद्ध प्रहसन कहते हैं। संकीर्ण नामक प्रहसन में उद्घात्यक आदि वीथी के अंगों से युक्त अनेक प्रकार के पात्रों का मिश्रण होता है और जिसमें विकृत वेषधारी अनेक पात्र भाषा को विकृत करते हुए वार्तालाप एवं हाव-भाव प्रदर्शित करते हैं, उस प्रहसन को विकृत (वैकृत) कहते हैं।

शारदातनय ने प्रहसन के आवश्यक अंगों का उल्लेख करते हुए मुख और निर्वहण नामक दो सन्धियों, छः रसों तथा एक अंक के प्रयोग की अनिवार्यता बतायी है। उपर्युक्त प्रतिपादित शुद्ध, संकीर्ण तथा विकृत नामक तीन प्रहसन भेदों के उदाहरण रूप में क्रमशः 'सैरन्धिका', 'सागरकौमुदी' एवं 'कलिकेलि' नामक ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

डिम

'डिम' के लक्षणों का वर्णन करते हुए शारदातनय ने इसमें १६ प्रकार के नायकों का वर्णन किया है[2]। नायकों के नामोल्लेख में देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महा-

---

१. शुद्धं क्वाप्यथ सङ्कीर्णं क्वचिद् वैकृतमित्यपि।

भा० प्र०— अ० अधि० पृ० २४७, पं० २।

२. भूतप्रेतपिशाचाद्यैर्डिमः षोडशनायकः।
शृङ्गारहास्यविधुरै रसैर्दीप्तैर्निरन्तरः॥

सर्प, भूत, प्रेत आदि का वर्णन है जो उद्धत कहे जाते हैं। इसे शृङ्गार और हास्य से व्याप्त एवं उद्दीप्त रसों से रहित माना गया है। इसमें कैशिकी-वृत्ति का अभाव रहता है। भारती तथा आरभटी-वृत्ति, अवमर्श सन्धि को छोड़ शेष चार सन्धियों से पूर्ण, रौद्ररस की प्रधानता, बीभत्स रस का अभाव, विख्यात कथावस्तु एवं न्यायमार्ग पर चलने वाले नायक वाले, चन्द्र-सूर्य-उल्का आदि निर्घातों से परिपूर्ण, घोर संग्राम तथा आक्रमणों से व्याप्त उत्पात वाले, प्रवेशक तथा विष्कम्भक से युक्त चार अंकों वाले को डिम कहा गया है। डिम का यह लक्षण त्रिपुरदाह के समय ब्रह्मा द्वारा प्रतिपादित माना है। 'भावप्रकाशनम्' में डिम के उदाहरण रूप में 'वृत्रोद्धरण' तथा 'तारकोद्धरण' नामक ग्रन्थों का नामोल्लेख किया है (आज कल ये दोनों ग्रन्थ अप्राप्य हैं)।

व्यायोग

व्यायोग की कथावस्तु प्रख्यात इतिवृत्त वाली होती है[1]। इसमें नायक धीरोदात्त प्रसिद्ध देव या राजर्षि होता है। इसमें चार या पाँच पात्र होते हैं जिनकी अधिक से अधिक दस तक संख्या हो सकती है। व्यायोग में स्त्री परिवार स्वल्प होता है। इसमें गर्भ और अवमर्श सन्धियों के अभाव के कारण शेष तीन ही सन्धियाँ होती हैं। विष्कम्भकादिक इसमें रहते हैं। शारदातनय ने व्यायोग में एक अंक और एक दिवसीय वृत्तान्त की व्यवस्था स्वीकार की है। आरभटी तथा भारती वृत्तियाँ इसमें होती हैं। संग्राम एवं बाहु-युद्ध का सातत्य इसमें विद्यमान रहता है, किन्तु संग्राम का कारण कोई नायिका न होकर कोई और ही कारण रहता है। इसमें वीर और रौद्ररस की प्रधानता रहती है और सहायक रूप में कभी-कभी स्वल्प शृङ्गार भी प्रदर्शित किया जाता है। व्यायोग के लक्षण में हमारे आलोच्य ग्रन्थकार ने धनञ्जय का अनुसरण न करके भरत का अनुसरण किया है, किन्तु व्यायोग के किसी उदाहरण का 'भावप्रकाशनम्' में निर्देश नहीं है।

समवकार

समवकार में देव-दानव तथा लोकसम्मत विख्यात इतिवृत्त रहता है[2]। इसमें विमर्श को छोड़ कर शेष सन्धियाँ रहती हैं। मृदुल कैशिकी-वृत्ति और वीररस की अङ्गी-सन्धियाँ रहती हैं। मृदुल कैशिकी-वृत्ति और वीररस अंगी रूप में विद्यमान रहता

---

१. व्यायोगस्येतिवृत्तं यत्तत्प्रख्यातमितीरितम्।

भा० प्र० —अष्टम अधि० पृ० २४९, पं० ७।

२. जीवग्राहोऽथ मोहो वा कपटेन प्रकाश्यते।

भा० प्र०—अष्टम अधि० पृ० २४८, पं० १७।

है और शेष रस अंगभूत रहते हैं। प्रख्यात उदात्त चरित्र वाले देव-दानव भिन्न-भिन्न प्रयोजनवश मिलकर इस रूपक में बारह नायक (पात्र) होते हैं। शारदातनय ने 'नाडिका' और 'कपट' के स्वरूप के अंश को छोड़कर समवकार के अन्य अंशों के निरूपण में भरत एवं धनञ्जय का अनुसरण किया है। शारदातनय के अनुसार एक नाड़ी एक मुहूर्त का चतुर्थांश मानी गयी है जिसका प्रमाण दो घटिका (घड़ियाँ) स्वीकार किया गया है। वस्तु (स्वभाव) दैव और शत्रुकृत ये तीन प्रकार के कपट शारदातनय ने बताये हैं और कपट का रूप मोहात्मक भ्रमरूप बनाया है। वस्तुतः स्वभावात्मक कपट क्रूर प्राणियों से उत्पन्न होता है और दैविक कपट आग, पानी एवं हवा से तथा शत्रुकृत कपट संग्राम से होने वाला व्यक्त किया है। कपट के सम्बन्ध में शारदातनय ने दो विभिन्न आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है। प्रथम प्रकार के कपट का उदाहरण 'चित्रशालांक', द्वितीय प्रकार का उदाहरण 'नागानन्द' तथा तृतीय प्रकार के कपट के लिये 'पुंसवतांक' का उल्लेख शारदातनय ने किया है। यद्यपि वातादिजन्य विद्रवों की विशेष चर्चा 'भावप्रकाशनम्' में नहीं की गयी है तथापि कपट और विद्रव के अन्तर को स्पष्ट करते हुए विद्वान् आचार्य ने कहा है कि जहाँ जीव के मोह की अभिव्यक्ति हो उसे कपट एवं इस कपट के पलायन रूप फल की अनुभूति को विद्रव कहा गया है जो भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होता है। धर्म, काम एवं अर्थ के आधार पर शृङ्गार भी तीन प्रकार के कहे हैं और इनका विश्लेषणात्मक वर्णन भी किया है।

समवकार में तीन अंक, तीन कपट, तीन शृङ्गार, तीन विद्रवों (जीवोत्थ, अजीवोत्थ, जीवाजीवोत्थ) से पूर्ण सब नाड़िकाएँ होती हैं। इन नाडिकाओं से नियन्त्रित तीन दिन के तीन अंक होते हैं। प्रथम अंक में मुख और प्रतिमुख नामक दो सन्धियाँ होती हैं और इसका काल १२ नाडिकाओं का निर्धारित होता है। द्वितीय अंक में चार नाडिकाएँ रहती हैं और ये ही नाडिकाएँ तीसरे अंक को भी नियन्त्रित करती हैं। तृतीय अंक में मुख, प्रतिमुख तथा गर्भ नामक सन्धियाँ रहती हैं। समवकार में नाटकादि की तरह आमुख होता है। इसमें विन्दु सन्धि और प्रवेशक नहीं रहते। विद्वानों ने उपर्युक्त विशेषताओं से सम्पन्न को समवकार कहा है। 'अमृतमन्थन' नामक ग्रन्थ को इसका उदाहरण बताया गया है। इसके प्रथम अंक में शृङ्गाररस, कपट एवं विद्रव विद्यमान हैं। इसमें उष्णिक्, गायत्री आदि छन्दों के प्रयोग को स्वीकृति दी गयी है।

वीथी

शारदातनय ने 'वीथी' का लक्षण बताते हुए इसमें मुख और निर्वहण दो सन्धियाँ तथा कैशिकी वृत्ति की अनिवार्यता बतायी है। वीथी को दो पात्रों द्वारा पृथक्

वर्णन के बाद पुनरुज्जीवन का वर्णन करना चाहिए। इस प्रकार के रूपकों का नामोल्लेख करते हुए शारदातनय ने 'रामानुजाह्वय', 'नागानन्द' तथा बाण रचित कादम्बरी का संकेत करते हुए क्रमशः लक्ष्मण, जीमूतवाहन तथा चन्द्रापीड़ सदृश नायकों के पुनरुज्जीवन को दृष्टान्त रूप में उपस्थित किया है।

ईहामृग

ईहामृग का कथानक शारदातनय ने प्रख्यात उत्पाद्य (काल्पनिक) माना है[1]। इसमें मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण तीनों सन्धियाँ मानी गयी हैं। इसका नायक धीरोद्धत, प्रख्यात, दिव्य या मर्त्य दोनों में कोई भी हो सकता है जो दिव्यांगना के लिये बल पूर्वक संग्राम में प्रवृत्त होता है। इसमें गणना के अनुरूप ४,५,६ नायक तथा प्रतिनायक होते हैं। भयानक और बीभत्स से रहित बाकी ६ रस इसमें रहते हैं। विष्कम्भक और प्रवेशक के साथ-साथ इसमें चार अंक होते हैं। भीषण संग्राम आरम्भ होने पर नायक को हटा दिया जाता है और यशस्वी नायक का बध होने पर भी उस बध कर्म को प्रदर्शित नहीं किया जाता।

'ईहामृग' और 'व्यायोग' का अन्तर स्पष्ट करते हुए शारदातनय ने कहा है कि व्यायोग में संग्राम का आधार स्त्री नहीं होती जब कि ईहामृग में स्त्री ही संग्राम का मुख्य कारण मानी गयी है। शारदातनय ने ईहामृग के उदाहरण रूप में 'कुसुमशेखर' का नामोल्लेख किया है। ईहामृग नामक इस रूपक के लक्षण में हमारे आलोच्य ग्रन्थकार का भरत तथा धनञ्जय से कोई मतभेद नहीं है। विद्वान् आचार्य का नाटक और प्रकरण रूपी इन दो रूपकों से अन्य ८ रूपकों का अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है—नाटक और प्रकरण में पाँच सन्धियों की अनिवार्यता होती है किन्तु अन्य ८ रूपकों में यह नियम लागू नहीं है।

उपरूपक

नाट्य की उद्देश्यपरक स्थितियों के अनुसार शारदातनय ने दो वर्णों का विश्लेषणात्मक परिचय प्रस्तुत किया है। नाट्य वर्ग के जिस रूप का सम्बन्ध दर्शक के हृदय में रसात्मक भाव की स्थिति का बोध कराना होता है उसे रूपक कहा जाता है। जिसके दश रूपों का पृथक्-पृथक् विवेचन पिछले प्रकरण में किया गया है। जिस वर्ग का उद्देश्य अंगविन्यास के माध्यम से भावबोध की स्थिति को उत्पन्न करना अभीष्ट रहता है, उसे शारदातनय ने नृत्य कहते हुए उसके बीस रूपों का उल्लेख किया है[2]। स्मरणीय है कि शारदातनय के पूर्ववर्त्ती किसी भी आचार्य ने

---

१. ईहामृगस्येतिवृत्तं प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रितम्।

भा० प्र०—अ० अधि० पृ० २५३ पं० ८।

२. ते नृत्यभेदाः प्रायेण सङ्ख्यया विंशतिर्मताः।

भा० प्र०-- नवम अधि० पृ० २५५ पं० ९।

भावबोध मूलक नाट्यवर्ग के इन बीस रूपों की पूर्ण व्यवस्थित संख्या का इस रूप में उल्लेख नहीं किया है जिसे व्यवस्थित रूप में शारदातनय ने 'भावप्रकाशनम्' में किया है। परवर्ती आचार्यों ने इन रूपों को उपरूपक नाम से व्यवहृत किया है, किन्तु शारदातनय ने इन्हें नृत्य कहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से शारदातनय द्वारा प्रस्तुत की गयी इस सूची का बहुत अधिक महत्त्व है, क्योंकि उपरूपक विषयक परवर्ती समस्त विवेचनों का आधार इसी पृष्ठभूमि में निर्मित हुआ है। विद्वान् आचार्य ने स्वल्प भेदों के साथ इन भावगर्भ नृत्य रूपों की दो सूचियाँ उपस्थित की हैं—

(क) त्रोटक (नाटक), नाटिका, गोष्ठी, संलाप, शिल्पक, डोम्बी, श्रीगदित, भाणी, प्रस्थान, काव्य, प्रेक्षक, सट्टक, नाट्यरासक, लासक, उल्लोप्यक हल्लीस, दुर्मल्लिका, मल्लिका, कल्पवल्ली, पारिजातक[1]।

(ख) त्रोटक (तोटक), नाटिका, गोष्ठी, सल्लाप, शिल्पक, डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, काव्य, प्रेक्षणक, नाट्यरासक, रासक, उल्लोप्यक, हल्लीस, दुर्मल्लिका, कल्पवल्ली, मल्लिका, पारिजातक[2]।

शारदातनय द्वारा प्रस्तुत की गयी उल्लिखित दोनों ही सूचियों में अधिकांशतः साम्यपरक स्थिति के रहते हुए भी वैषम्य की स्थिति भी दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः सूची के प्रथम रूप में उपरूपक नाम से प्रसिद्ध जिन बीस नृत्य भेदों का उल्लेख किया गया है उनमें दिखाया गया सट्टक नामक भेद का दूसरी सूची के नामों में सर्वथा अभाव है। इसके साथ ही साथ दूसरी सूची में नृत्य के बीस भेदों में भाण की भी गणना की गयी है जिसका प्रथम सूची में कहीं भी उल्लेख नहीं है। प्रथम सूची में गिनाये गये रासक नाम के स्थान पर दूसरी सूची में लासक नाम का उल्लेख विद्यमान है जो दोनों की समानार्थकता को सूचित करता है।

वस्तुतः शारदातनय द्वारा प्रस्तुत की गयी प्रथम सूची के समस्त नृत्य भेदों को परम्परा प्राप्त कहा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी पूर्ववर्ती आचार्य की मान्यताओं को ध्यान में रख कर ही शारदातनय ने प्रथम सूची में दिये गये नृत्य भेदों का उल्लेख किया है। यद्यपि इस तरह का कोई भी ग्रन्थ अद्यावधि

---

१. नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।

भा० प्र०—अ० अधि० पृ० २२१ पं० ४।

२. तोटकं नाटिका गोष्ठी सल्लापः शिल्पकस्तथा।
डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणी प्रस्थानमेव च॥
काव्यश्च प्रेक्षणं नाट्यरासकं रासकं तथा।
उल्लोप्यकश्च हल्लीसमथ दुर्मल्लिकाऽपि च॥
कल्पवल्ली मल्लिका च पारिजातकमित्यपि।

भा० प्र०—नवम अधि० पृ० २५५ पं० १०-१४।

प्राप्त नहीं है। जहाँ तक शारदातनय की अपनी मान्यता का सम्बन्ध है, इन्होंने कतिपय विशेष स्थितियों का उल्लेख करते हुए भी 'नाटिका' एवं 'सट्टक' की साम्यभाव मूलक अवस्था को स्वीकार किया है। सम्भवतः इसीलिये 'सट्टक' को दूसरी सूची में स्थान नहीं दिया है। 'सट्टक' के विषय में दूसरे आचार्यों की मान्यताओं को प्रस्तुत करते हुए आपने 'सट्टक' को भी 'तोटक' का ही एक भेद बताया है। कारण चाहे जो भी हो शारदातनय ने 'सट्टक' को नृत्य भेद के स्वतन्त्र रूप में स्वीकार नहीं किया। इसीलिये नृत्यभेद के अन्य रूपों की तरह 'सट्टक' का स्वतन्त्र विवेचन नहीं किया। यद्यपि नाटिका के भेद रूप में 'सट्टक' की स्थिति बताते हुए उसकी परिचयात्मक अवस्था का उल्लेख भी (पृ० २६५ भावप्रकाशनम् में) किया गया है।

दोनों सूचियों में दिये गये नामों के साम्य एवं वैषम्य भावपरक रूपों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि प्रथम सूची में 'भाण' को नृत्य भेद नहीं माना गया है, किन्तु दूसरी सूची में उसका स्पष्ट उल्लेख विद्यमान है। स्मरणीय है कि अन्य आचार्यों के समान शारदातनय ने भी रूपक के पूर्व वर्णित दश रूपों में से 'भाण' को भी एक रूपक स्वीकार किया है और उसकी विशेषताओं का विस्तृत विवेचन भी किया है। इसे पुनः नृत्य भेद के रूप में ग्रहण करते हुए उसके भेदोपभेद सहित विवेचन का विस्तृत रूप भी यथास्थान शारदातनय द्वारा प्रस्तुत किया गया है। 'भाण' के विषय में प्रस्तुत की गयी दोनों ही विवेचनाओं से ऐसा प्रकट होता है कि शारदातनय ने इसे दोनों ही रूपों (रूपक तथा नृत्यभेद) में स्वीकार किया है। यदि कोहल आदि आचार्यों द्वारा प्रस्तुत की गयी 'भाण' विषयक मान्यता को ध्यान में रखते हुए देखा जाये तो रूपक के रूप में गृहीत 'भाण' सम्बन्धी शारदातनय की मान्यता से अन्य आचार्यों की मान्यताओं का अन्तर प्रतीत होता है। अन्य आचार्यों ने जहाँ शृङ्गार एवं वीर दोनों ही रसों की स्थितियाँ स्वीकार की हैं वहीं शारदातनय ने रूपक, रूप में गृहीत 'भाण' में केवल शृङ्गाररस को ही मान्यता दी है। जब 'भाण' का सम्बन्ध वीररस से रहता है तो उसकी स्थिति सर्वथा भिन्न हो जाती है, इसीलिये शारदातनय ने 'भाण' को पुनः नृत्यभेद प्रसंग में भी प्रस्तुत करते हुए उसका विस्तृत विवेचन किया है। इस विवेचन क्रम में उद्धत आदि गुणों की स्वीकृति सम्भवतः 'भाण' के इस नृत्य भेदात्मक स्वरूप की विशेष स्थिति को व्यक्त करने के लिये ही की गयी है जिसे 'भाण' विषयक आगे के प्रसंग में देखा जा सकता है। दोनों सूचियों की छान-बीन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दूसरी सूची में दिये गये नामों को ही शारदातनय की मान्यता प्राप्त है। इसीलिये दूसरी सूची के नामों का पृथक्-पृथक् विवेचनात्मक वर्णन आगे के प्रसंगों में आपने क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है—

तोटक

यद्यपि क्रमानुसार उपर्युक्त दोनों ही सूचियों में तोटक का उल्लेख विद्यमान है जो यह सूचित करता है कि इसे शारदातनय ने भावाश्रित नृत्य वर्ग के अन्तर्गत बताते हुए रूपक ही स्वीकार करने में बल दिया है[1]। इस सम्बन्ध में विद्वान् विचारक ने तोटक विषयक 'हर्ष' की मान्यता का भी उल्लेख किया है और यह स्पष्ट रूप में व्यक्त किया है कि 'हर्ष' के विचार से भी 'तोटक' नाटक का ही एक भेद है। अन्य विचारकों के विचार से तोटक की स्थिति नाटक अपेक्षा अव्यापक होती है। इसलिये इस विचार के आचार्यों ने 'हर्ष' की मान्यता के विपरीत अपना मत व्यक्त किया है। तोटक की परिचयात्मक स्थिति पर विचार करते हुए शारदातनय ने इसे अनेक रूपों में विभक्त विविध मत वाले विचारकों की विचार सरणि का अनुसरण करते हुए परिभाषित किया है। तदनुसार बहुत से आचार्यों ने तोटक को पाँच, सात, आठ तथा नौ अंकों वाला, दिव्य एवं मानुष के संगम से समन्वित नाटक से ही उत्पन्न बताया है। इस विचार के अनुसार तोटक एक ऐसा नाट्य रूप है जिसकी कथावस्तु में दिव्य एवं मानुष पात्रों का संयोग रहता है। यह ९,८,७ अथवा ५ अंकों में विभक्त रहता है। इस प्रकार तोटक को नाटक से ही उत्पन्न माना गया है।

तोटक विषयक अन्य मत का उल्लेख करते हुए शारदातनय ने इसे दिव्य-मानुष संयोग वाला नाट्य रूप बताते हुए भी नाटक से उत्पन्न मानने के बदले नाटक का अनुगमन करने वाला स्वीकार किया है[2]। नौ अंक वाले तोटक का उदाहरण 'मेनका नहुषाह्वय' बताया गया है। 'मदलेखा' एवं 'स्तम्भितरम्भक' को क्रमशः आठ तथा सात अंकों वाला तोटक माना है। इनमें विदूषक के अभाव का भी उल्लेख किया गया है। 'विक्रमोर्वशीय' को पाँच अंकों वाला तोटक स्वीकार किया गया है।

नाटिका

शारदातनय ने 'नाटक' तथा 'प्रकरण' नामक दो रूपकों के मिश्रण को ही 'नाटिका' की संज्ञा दी है[3]। यही कारण है कि इस 'नाटिका' का वर्णन भी आपने नाटक और प्रकरण के वर्णन के पश्चात् रूपकों में किया है। नाटिका की कथावस्तु

---

१. तदेव तोटकं भेदो नाटकस्येति हर्षवाक्।
....
तोटकं नाम तत्प्राहुर्भेदं नाटकसम्भवम् ॥
भा० प्र०—अ० अधि० पृ० २३८ पं० ५-८।

२. भा० प्र०—अ० अधि० पृ० २३८ पं० ९-१४।

३. नाटकस्य प्रकरणस्योभयोः सङ्करात्मिका।

काल्पनिक होती है। इसका नायक विख्यात कोई धीर, ललित गुणों वाला होता है। श्रृङ्गाररस प्रधान रूप में तथा वीर, रौद्रादि अन्य रसों का सन्निवेश सहायक रसों के रूप में यहाँ किया जाता है एवं नर्म, स्तम्भादि अंगों से युक्त कैशिकी-वृत्ति इसमें रहती है। नायक की प्रधान, नायिका तथा उसी के समान मुग्धा नायिका के अनुराग में साङ्कर्य रहता है। प्रधान नायिका के भय से नायक मुग्धा नायिका के समागम में शंकायुक्त रहता है। अवमर्श सन्धि को छोड़कर शेष चार सन्धियाँ इसमें रहती हैं। इसमें स्त्री पात्र प्रायः रहते हैं। चार अंकों तथा कल्पनाप्रसूत सौन्दर्य से देश और ऋतु वर्णन रहता है। काव्य के ३६ भूषण इसमें विद्यमान रहते हैं। नाटिका के इस वर्णन प्रसंग में शारदातनय ने 'सट्टक' का संक्षिप्त परिचय देते हुए कहा है कि अगर नाटिका सम्बन्धी उपर्युक्त विशेषताओं में प्रवेशक और विष्कम्भक का अभाव हो, अंक के स्थान पर चार पदों का वर्णन हो एवं प्राकृत भाषा बोली जाये तो उसे 'नाटिका' न कहकर 'सट्टक' कहा जायगा।

गोष्ठी

गोष्ठी नामक नृत्य भेद पर विचार करते हुए शारदातनय ने इसकी कथा वस्तु को उत्पाद्य बताया है। इसमें एक ही अंक स्वीकार किया गया है। गोष्ठी की कथावस्तु श्रृङ्गार-रसमयी होती है। इसमें रूप, सौन्दर्य, लावण्य गुण युक्त छः या पाँच नायिकाएँ होती हैं। यह नौ या दस प्राकृत (सामान्य) पुरुषों से अलंकृत रहती है। इसमें गर्भ एवं अवमर्श सन्धियाँ नहीं रहती तथा उदात्त वाणी व्यापार का भी अभाव रहता है। गोष्ठी में कैशिकी-वृत्ति स्वीकार की गयी है। गजों के समूह के आघात से सम्बन्ध रखने वाले कदली के खम्भों का प्रयोग नहीं होता। उदाहरण रूप में शारदातनय ने यमलार्जुनादि दैत्य निधन प्रसंग में श्रीकृष्ण के विहार करते समय की गयी चेष्टाओं को 'गोष्ठी' माना है[1]। वस्तुतः कृष्ण के विहार काल का सम्पूर्ण प्रसंग श्रृङ्गार रस से सम्बद्ध है। इस सन्दर्भ में यमलार्जुनादि के निधन की चेष्टा का स्वरूप श्रृङ्गार रस में मन्थरता उत्पन्न करता है। शारदातनय ने इसी स्थिति को गोष्ठी की रसमयता के स्वरूप में अंकित किया है।

सल्लापक

सल्लापक का इतिवृत्त प्रख्यात, काल्पनिक एवं उभयात्मक भी माना गया है[2]। इसमें शृङ्गार और हास्य रसों से भिन्न वीर और रौद्र रस भी विद्यमान रहते हैं। उसमें अन्य रस इन प्रधान रसों के सहायक मात्र रहते हैं। सल्लापक का नायक

१. यत्तु यमलार्जुनादिदानवनिधनकृतं तत्तु गोष्ठी स्यात्।

भा० प्र०—नवम अधि० पृ० २५६ पं० १५।

२. सल्लापस्येतिवृत्तं यत्ख्यातं चोत्पाद्यमेव वा।

भा० प्र०—नवम अधि० पृ० २५६ पं० १७।

क्रोधी, पाखण्डी, प्रायः शत्रुओं से शान्त होने वाला माना है। भाग्य से या शत्रुओं से उत्पन्न कपट, युद्ध एवं नगर-निरोध के दृश्य इसमें रहते हैं। इसमें सात्त्वती और आरभटी वृत्तियाँ रहती हैं। यह तीन अंकों का उपरूपक है। इसके द्वितीय अंक में ताल की प्रचुरता रहती है। तृतीय अंक में छल-छद्म रहता है। प्रथम अंक में विद्रव रहता है। चार सन्धियों से युक्त इसमें प्रतिमुख सन्धि का अभाव रहता है। उपर्युक्त इन विशेषताओं से अलंकृत नृत्य भेद को शारदातनय ने 'सल्लापक' की संज्ञा प्रदान की है।

शिल्पक

'शिल्पक' में चार अंक और चार वृत्तियों को स्थिति बतायी गयी है[1]। शारदातनय ने इसमें हास्यरस का विशेष तथा अन्य रसों का सामान्य समर्थन किया। इसका नायक ब्राह्मण एवं उपनायक हीन वंशोत्पन्न व्यक्ति बताया गया है। इसमें श्मशानादि का वर्णन भी माना गया है। इसमें नायिकाएँ ऊढा, पुनर्भू अथवा कन्या मानी गयी हैं जो किसी सचिव या ब्राह्मण की पुत्रियाँ होती हैं। उदाहरण रूप में हमारे आलोच्य ग्रन्थकार ने माधव की मालती एवं कमल की कलावती का नाम प्रस्तुत किया है। इस (शिल्पक) के सत्ताईस अंग होते हैं, जो इस प्रकार हैं—उत्कण्ठा, अवहित्था, प्रयत्न, आशंसा, तर्क, संशय, ताप, उद्वेग, मौर्ख्य, आलस्य, कम्प, अनुगति, विस्मय, साधन, उच्छ्‌वास, आतङ्क, शून्यता, प्रलोभन, नाट्य, सम्फेट, आश्वास, सन्तोषातिशय, प्रमद, प्रमाद, युक्ति, प्ररोचना और प्रशस्ति।

डोम्बी

'डोम्बी' को भाणिका मानने वाले कुछ आचार्यों के मत का भी शारदातनय ने उल्लेख किया है जिसका स्पष्ट संकेत 'डोम्ब्येव भाण्डिकोदात्तनायिका' इत्यादि से स्पष्ट संकेत मिलता है। डोम्बी में नायिका उदात्त होती है। इसमें एक अंक और कैशिकी एवं भारती वृत्तियाँ होती हैं। प्रायः वीर और शृङ्गाररस इसमें रहते हैं। सुन्दर वेषादि की रचना इस उपरूपक में रहती है। इसमें नायक एवं नायिकाएँ मन्दोत्साह वाली होती हैं। इस (डोम्बी) के विन्यास, उपन्यास, विबोध, साध्वस, अनुवृत्ति, संहार तथा समर्पण नामक सात अंग भी कहे गये हैं, जिनका परिचयात्मक विश्लेषण भी हमारे आलोच्य ग्रन्थकार ने किया है और इन अंगों के प्रयोग वाले 'कामदत्ता' नामक ग्रन्थ का नामोल्लेख भी किया है। इस उपरूपक में लास्य के दस अंगों का भी प्रयोग है।

श्रीगदित

शारदातनय ने प्रसिद्ध कथावस्तु वाले, उदात्त नायक एवं भारती वृत्ति से अलंकृत को 'श्रीगदित' माना है[2]। इसमें उदात्त वचनों का बाहुल्य तथा गर्भ और

---

१. भा० प्र०—नवम अधि० पृ० २५७ पं० २।

२. अथ श्रीगदितं विद्यात्प्रसिद्धोदात्तनायकम्।
भारतीवृत्तिबहुलमुदात्तवचनान्वितम्॥
भा० प्र०—नवम अधि० पृ० २५८ पं० ८-९।

अवमर्श नामक नाटक सन्धियों का अभाव रहता है। प्रख्यात नायक तथा उसमें एक अंक ही रहता है। प्रायः विप्रलम्भ शृङ्गार इसमें वर्णित होता है और कहीं-कहीं कुलीन स्त्री अपने पति के शौर्य, धैर्यादिक गुणों का सखियों के सामने प्रतिपादन करे या उपालम्भ रूप में कुछ कहे अथवा अपने नायक से ठगी हुयी नायिका संगम की प्रत्याशा में उत्कण्ठित होकर पढ़ने योग्य वस्तु को पढ़कर या गाकर सुनाये उसे 'श्रीगदित' नामक नृत्यभेद माना गया है। इस सन्दर्भ में शारदातनय ने उदाहरणार्थ 'रामानन्द' ग्रन्थ का नामोल्लेख किया है।

भाण

शारदातनय ने 'भावप्रकाशनम्' में भाण के निरूपण में दो विभिन्न श्लोकों द्वारा किसी अन्य आचार्य के मत का भी प्रतिपादन किया है। प्रथम श्लोकसंग्रह सम्बन्धी मत शारदातनय का निजी मत है जो भोज के शृङ्गारप्रकाश' में वर्णित मत के सदृश है, किन्तु द्वितीय मत के श्लोकसंग्रह का आधार पूर्णतया अज्ञात है। हमारे आलोच्य ग्रन्थकार ने स्पष्ट कर दिया है कि यह द्वितीय मत उन लोगों का है जो भरत के मत से अनभिज्ञ हैं। वस्तुतः इस द्वितीय मत में प्रतिपादित 'नन्दिमालि' नामक भेद का 'भाण' में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अपने इस कथन की सम्पुष्टि में शारदातनय ने अपने रूपक सम्बन्धी 'भाण' वर्णन प्रक्रिया की समता को व्यक्त करते हुए कवियों द्वारा वर्णित 'नन्दिमालि' का लक्षण भी बताया है। जहाँ अपने उच्चारण (पाठ्य) में, गीत में या क्रिया में आकाश पुरुष को लक्ष्य करके विशिष्ट कल्पना से कल्पित प्रयोग दिखाया जाता है उसे 'नन्दिमालि' भाण कहा जाता है। 'नन्दिमालि' का यह लक्षण रूपकों में वर्णित 'भाण' के सदृश है अतः शारदातनय ने इसे पृथक् रूप में स्वीकार नहीं किया।

'भाण' नामक इस नृत्य भेद में शारदातनय ने निम्नलिखित विशेषताएँ स्वीकार की हैं। विष्णु, हर, सूर्य, पार्वती, कार्तिकेय तथा शिव की स्तुति इसमें रहती है[1]। धूर्तों के चरित्रों वाली अनेक अवस्थाओं का वर्णन, स्त्री पात्र का अभाव, गाथाओं के माध्यम से राजाओं के गुणों का वर्णन, गायन और सहोक्तियों से युक्त उदात्त कथावस्तु इसमें रहती है। इस उपरूपक का कथानक तीन-चार पाँच त्रितालों और सात विश्रामों में विभक्त होता है। कहीं-कहीं अर्थोद्ग्राह, निवारण और संख्याओं द्वारा निर्धारित किया जाता है। पाँचवें परिच्छेद में अनेक प्रकार, सम विश्राम होते हैं। द्विपथक पाठ्य से अलंकृत सुन्दर वर्ण और मत्तपाली के भग्नतालों के बाद गाथा होती है। प्रथम विश्राम से सातवें विश्राम तक विभिन्न परिस्थितियों के

---

१. हरिहरभानुभवानीस्कन्दप्रमथाधिपस्तुतिनिबद्धः।

भा० प्र—नवम अधि० पृ० २५८ पं० १९।

अनुसार गाथा, वसन्तक, रथ्या, ताल, भग्नताल, मार्गणिका आदि की संख्याएँ भी निश्चत की गयी हैं। उपर्युक्त गुणों से युक्त भाण को शुद्ध भाण कहा गया है। संकीर्ण उक्तियों से मिश्रित होने के कारण कल्पित भाण संकरभाण एवं उपर्युक्त तालक्रम से रहित भाण को चित्रभाण कहा गया है। इस प्रकार शारदातनय ने शुद्ध, संकीर्ण और चित्र भेद से भाण के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है। शुद्ध भाषा के प्रयोग के शुद्ध, दो भाषाओं के मिश्रण से संकीर्ण तथा विभिन्न भाषाओं से निर्मित नाट्यरूप को चित्र कहा गया है। इस भाण के उद्धत, और ललितोद्धत नामक भेद भी शारदातनय ने स्वीकार किये हैं। इस प्रकार भाण के प्रकारों का विवेचन 'भाव-प्रकाशनम्' में किया गया है।

भाणिका

शारदातनय ने 'भाणिका' का 'भाण' से अन्तर स्पष्ट करते हुए 'भाणिका' की कथावस्तु को हरि के चरित से सम्बद्ध, स्वीकृत गाथा, वर्ण तथा मात्रा वाला कहा है। भाणिका का कथानक उद्धत न होकर सुकुमार (मसृण) होता है। 'भाव-प्रकाशनम्' में 'भाणिका' के सम्बन्ध में दो प्रकार के मतों का विवेचन मिलता है[1]। प्रथम मत के अनुसार भाणिका का अधिकांश भाग संगीत एवं नृत्य मय बताया गया है। दिव्यचारियों से रहित, ललित करणों (साधनों) से युक्त, तालों के मध्य नृत्य युक्त रथ्यादि का मेल रहता है। इसमें नौ या दश वस्तुएँ नियमपूर्वक करने को कहा गया है। द्वितीय मत के अनुसार भाणिका में प्रधान रूप में शृङ्गाररस, मुख आदि तीन सन्धियाँ रहती हैं और इसमें गर्भ और अवमर्श सन्धियाँ नही रहतीं। पीठमर्द, विट एवं विदूषक आदि का चरित्र दस लास्यांगों तथा पाञ्चालीवृत्ति से अवश्य युक्त रहता है। उदाहरण रूप में शारदातनय ने 'वीणावती' ग्रन्थ का नामोल्लेख यहाँ किया है।

प्रस्थान

शारदातनय ने प्रस्थान के विवेचन में दो प्रकार के लक्षणों की ओर संकेत किया है। प्रथम लक्षण जिसका आधार 'शृङ्गारप्रकाश' है जिसके अनुसार प्रस्थान में सुरापान की क्रीड़ाओं से मनोहर लय, ताल के विलास वाले संगीत और नृत्य का बाहुल्य रहता है एवं द्वितीय लक्षण जिसको शारदातनय के परवर्ती आचार्य विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में देखा जा सकता है। इस द्वितीय लक्षण के अनुसार इसमें कैशिकीवृत्ति होती है और इसका नायक विट, चेटादि कोई दास होता है। मुख और

---

१. भा० प्र०—नवम अधि० पृ० २६२।

निर्वहण नामक सन्धियों से युक्त इसमें दो अंक माने गये हैं। इस नृत्य भेद के उदाहरण में शारदातनय ने 'शृङ्गारतिलक' के नाम का उल्लेख किया है।

काव्य

काव्य के वर्णन प्रसंग में शारदातनय ने सम्पूर्ण वृत्तियों तथा हास्य एवं शृङ्गार से युक्त को 'काव्य' कहा है। यह भग्नताल, द्विपदी और खण्डमाला से परिष्कृत होता है। इसमें एक अंक होता है और गर्भ एवं अवमर्श नामक दो सन्धियों का अभाव रहता है। कहीं-कहीं यह लास्य से युक्त अथवा विट और चेटी से समन्वित रहता है। कुलांगना के वेश वाली नायिका तथा उदात्त नायक का वर्णन भी इसमें किया जाता है। उपर्युक्त गुणों वाले काव्य के लिये शारदातनय ने 'गौडविजय' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त 'काव्य' के अन्य लक्षण में शारदातनय ने ब्राह्मण मन्त्री एवं वैश्य सन्तति से सम्बद्ध उज्ज्वल नायक और नायिका को वर्णित किया है। कथानक के मध्य में प्रसन्न स्त्रियों की भाषा और चेष्टाओं का वर्णन इसमें रहता है और विट, चेटादि की भाषा एवं इनके वेशादि का ग्रन्थन भी रहता है। इस द्वितीय लक्षण के उदाहरण रूप में शारदातनय ने 'सुग्रीवकेलनम्' के नाम का उल्लेख किया है।

प्रेक्षणक

शारदातनय ने 'प्रेक्षणक' के वर्णन प्रसंग में दो प्राचीन आचार्यों के मतों का प्रतिपादन किया है[1]। प्रथम मत के अनुसार जहाँ पदार्थ का अभिनय लययुक्त ललित विधि से नर्तकी द्वारा सम्पादित होता है उस पृथक् माने जाने वाले 'नर्तक' को ही शारदातनय ने प्रेक्षणक के अन्तर्गत माना है। इस प्रकार 'नर्तनक' नामक अन्य किसी उपरूपक की मान्यता का हमारे आलोच्य ग्रन्थकार ने खण्डन किया है। यह प्रेक्षणक, छलिक और समरथ्या नामक दो लास्यों से युक्त होता है। सुताल और चतुरश्रा के माध्यम से जहाँ नायक कार्य में प्रवृत्त होता है वहाँ गर्भ और अवमर्श सन्धियाँ इसमें नहीं रहतीं और सभी वृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। मागधी और शूरसेनी का इसमें प्रचुर प्रयोग किया जाता है। इसमें रस-भाव का समन्वित रूप रहता है। इसमें उत्तम और अधम नायक की सत्ता मानने वाले इसे द्विसन्धि कहते हैं। भारती, आरभटी वृत्तियों वाले 'प्रेक्षणक' में कहीं-कहीं सात्त्वती वृत्ति भी स्वीकार की गयी है। उपर्युक्त इस लक्षण के उदाहरण में शारदातनय ने 'बालिवध' एवं 'नृसिंह-विजय' नामक ग्रन्थों का उल्लेख किया है। द्वितीय मत के अनुसार पूर्ण नेपथ्य या पाठविधि से जहाँ नान्दी का विधान किया जाता है, वहीं गर्भ और अवमर्श सन्धियाँ रहती हैं और कहीं कहीं चारों वृत्तियों रहती हैं एवं कहीं कहीं

---

१. पदार्थाभिनयं यस्य ललितञ्च लयान्वितम्।

भा० प्र०—नवम अधि० पृ० २६३, पं० ९।

नेपथ्य वचनावली का बाहुल्य रहता है, उसे प्रेक्षणक कहते हैं। इसमें सूत्रधार का सर्वथा अभाव रहता है। उदाहरणार्थ 'त्रिपुरमर्दन' नामक नाटक का नामोल्लेख किया गया है।

नाट्यरासक

नाट्यरासक में सोलह, बारह अथवा आठ नायिकाएँ नृत्य करती हैं। नायिकाओं द्वारा किया गया यह नृत्य, पिण्डी, शृङ्खला, मेघक एवं लता नामक चार प्रकारों द्वारा सम्पादित होने वाला माना है। पिण्डीबन्ध के विन्यास के कारण ही यह रासक कहलाता है। नाट्य रासक को शारदातनय ने एक विशेष प्रकार का नृत्य स्वीकार किया है जिसमें नायिकाएँ प्रेम से वसन्त को देखकर उपर्युक्त संख्याओं के क्रम से उपर्युक्त भावों के माध्यम से राजा के व्यवहारों को प्रदर्शित करती हैं। 'भावप्रकाशनम्' में 'नाट्यरासक' के विविध भेद बताये गये हैं। 'चर्चरी' नामक नृत्य भेद जिसे कुछ आचार्यों ने पृथक् माना है, उसे भी शारदातनय ने नाट्यरासक के स्वीकृत भेदों के अन्तर्गत माना है। पुष्पाञ्जलि, संयुक्तपिण्डीबन्ध, मल्लनामक ताल एवं मुरज नामक बाजे आदि का प्रयोग करते हुए चार प्रकार के अपसारों का प्रदर्शन इसमें किया जाता है, जिनके ताल क्रमादि का विवेचन शारदातनय ने किया है। नाट्य रासक के अन्त में सुन्दर अर्थ वाले वचन-क्रम को कहने का भी निर्देश दिया गया है।

रासक

रासक में प्रथम अनुराग से उत्पन्न प्रवास, शृङ्गार का वर्णन होता है। वर्षा और वसन्त ऋतुओं का वर्णन रहता है। उसके अन्त में वीररस का वर्णन रहता है और यह चार प्रकार के अपसारों से युक्त रहता है। इसमें मुख और निर्वहण सन्धियाँ रहती हैं एवं इसमें एक अंक का कथानक होता है। जहाँ मण्डल रूप में नृत्य का प्रयोग होता है उसे 'रासक' कहा गया है। इसमें जिस प्रकार अनेक गोपिकाओं से युक्त श्रीकृष्ण केवल एक मात्र नायक थे उसी प्रकार 'रासक' में भी एक ही नायक होता है शेष स्त्री पात्र रहते हैं। अनेक नर्तकियों से सम्पन्न करने योग्य, चित्र-ताल एवं लय से युक्त और चौंसठ संख्या पर्यन्त युगलों से होने वाला 'रासक' मसृणोद्धत रासक कहलाता है। रासक के वर्णन में प्रस्थान, काव्य, विचित्रराग, मसृणाडोम्बिका, शिल्पकभाणिका एवं समक्रीड़ आदि के लक्षणों का भी समन्वय दिखाया है।

उल्लोप्यक

शारदातनय ने इसका नामकरण उक्त उपरूपक में प्रयुक्त होने वाले उल्लोप्यक नामक संगीत के आधार पर किया है। इसमें अवमर्श सन्धि का अभाव रहता है और इसमें एक अंक की रचना होती है। इसका विधान प्रवृत्ति रहित एवं

'शिल्पक' के अंगों से विभूषित होता है। इसमें हास्य, श्रृङ्गार और करुणरस होते हैं।अनेक प्रकार के खिलौने से युक्त, चतुर, उज्ज्वल नायक और नायिकाओं का समागम रहता है। उदाहरण रूप में 'देवीमहादेव' और 'उदात्तकुञ्जरम्' नामक रचनाओं का नामोल्लेख शारदातनय ने किया है। अपने तीन अंगों से युक्त उल्लोप्यक नामक संगीत इसमें प्रयुक्त होता है जिसका लक्षण 'गान्धर्वनिर्णय' में स्पष्ट किया है।

हल्लीसक

शारदातनय ने 'हल्लीसक' के प्रतिपादन में दो प्रकारों के मतों का उल्लेख किया है। प्रथम मत के अनुसार 'हल्लीसक' में सात, आठ, नौ या दस नायिकाएँ होती हैं। कैशिकीवृत्ति से अलंकृत इसमें एक या दो अंक माने गये हैं। विमर्श तथा मुख नामक दो सन्धियाँ इसमें स्वीकृत हैं। गीत युक्त नृत्य और विश्रामयुक्त खण्ड, ताल और लय से सम्पन्न होने वाले उपरूपक को 'हल्लीसक' माना गया है। इसके उदाहरण में शारदातनय ने 'केलिरैवत' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। द्वितीय मत के अनुसार 'हल्लीसक' में ललित और दक्षिण नामक नायक के गुणों से सुशोभित पाँच या छः नायक होते हैं। सिद्धियाँ, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य पुत्रों के अधीन या मन्त्रियों की अधीन मानी जाती हैं। दो अंकों वाले इस उपरूपक में मुख और अवमर्श सन्धियाँ मानी गयी हैं, किन्तु एक अंक वाले 'हल्लीसक' में गर्भसन्धि होती है।

दुर्मल्लिका

शारदातनय ने 'दुर्मल्लिका' के लक्षण प्रतिपादन में प्राचीन आचार्यों के विभिन्न तीन मतों का उल्लेख किया है। प्रथम मत के अनुसार इसमें एक सुसंस्कृत नायिका, चार अंक तथा चार सन्धियाँ रहती हैं, इसमें गर्भ-सन्धि का अभाव माना गया है। इस उपरूपक के प्रथम अंक में विट स्वेच्छा पूर्वक तीन नाडिका तक विलास करता है, द्वितीय अंक में विदूषक पाँच नाडिका तक, तृतीय अंक में पीठमर्द सात नाडिका तक एवं चतुर्थ अंक में विट, विदूषक और पीठमर्द इन तीनों की दस नाडिकाओं तक की क्रीड़ाएँ होती हैं। इस प्रकार इस लक्षण के अनुसार 'दुर्मल्लिका' में पच्चीस नाडियाँ अवश्य रहती हैं। शारदातनय के परवर्ती आचार्य विश्वनाथ आदि ने प्रायः इसी मत का अनुसरण किया है। द्वितीय मत के अनुसार दुर्मल्लिका में चौर्य-रति, कहीं-कहीं युवक युवतियों का अनुराग वर्णन, ग्रामीण (असंस्कृत) भाषा में किसी दूती द्वारा वर्णित होता है। निम्नजाति की होने के कारण यह दूती बार-बार दर्शकों से धन पाने के बाद भी माँगती रहती है और एकान्त में मन्त्रणा करती है। इस प्रकार के लक्षणों से युक्त 'दुर्मल्लिका' को भोज ने अपने 'श्रृङ्गारप्रकाश' में तथा नाट्यदर्पणकार ने भी स्वीकार किया है। तृतीय मत में हमारे आलोच्य ग्रन्थकार ने उन आचार्यों की विचारसरणि को उपस्थित किया है जो इस प्रकार के लक्षणों वाले उपरूपक को 'दुर्मल्लिका' न मानकर 'मत्तमल्लिका' मानते हैं। इस 'मत्तमल्लिका' में पुरोहित, मन्त्री और तपस्वी

आदिकों के प्रारब्ध का उद्भावन किया जाता है। छोटी कथावली मतल्लिका का प्रयोग महाराष्ट्र की भाषा (मराठी) से सम्पन्न होता है। इसकी गोरोचना में कामकला युक्त भावरस विद्या का भी प्रदर्शन अवश्य होना चाहिए।

मल्लिका

'मल्लिका' नामक इस उपरूपक को केवल शारदातनय ने ही अपने 'भावप्रकाशनम्' में सर्वप्रथम उपरूपकों की श्रेणी में रखा है[1]। इसके सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं। प्रथम विचार के अनुसार इसका लक्षण प्रायः उपर्युक्त दुर्मल्लिका के समान माना गया है और द्वितीय विचार में शारदातनय ने श्रृङ्गारप्रकाश में वर्णित २४ श्रव्य-काव्यों में वर्णित 'मणिकुल्या' नामक भेद को 'मल्लिका' नामक इस उपरूपक के ही अन्तर्गत स्वीकार किया है। 'मल्लिका' के आवश्यक तत्त्वों का परिगणन करते हुए शारदातनय ने कहा है कि इसमें सम्भोग श्रृङ्गार, कैशिकीवृत्ति, एक या दो अंक, विदूषक और विट की आश्लिष्ट क्रियायें, गाथा और द्विपथक से युक्त अथवा सकल तालों से युक्त रथ्या होती है। पहले इसका कथानक अलक्षित, किन्तु बाद में लक्षित हो जाता है। गर्भ और अवमर्श से रहित शेष तीन सन्धियाँ विद्यमान रहती हैं। 'मणिकुल्या' की पृथक् सत्ता न मानते हुए शारदातनय ने स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार मणियों द्वारा निर्मित कुल्या (नहर) में पहले जल उसी के प्रभाव के कारण अपना स्वरूप पृथक् व्यक्त नहीं करता, किन्तु बाद में ध्यान देने पर जल की सत्ता दृष्टिगोचर होने लगती है, उसी प्रकार जिसकी कथावस्तु पहले अलक्षित, किन्तु बाद में लक्षित होती है कुछ आचार्यों द्वारा माना जाने वाला ऐसा उपरूपक इसी मल्लिका का ही रूपान्तर मात्र माना है।

कल्पवल्ली

'कल्पवल्ली' नामक उपरूपक की भी गणना शारदातनय ने ही सर्वप्रथम इस कोटि में की है[2]। 'कल्पवल्ली' में श्रृङ्गार और हास्य रसों की सत्ता रहती है। इसमें उदात्त तथा पीठमर्द नामक उपनायक होते हैं। कल्पवल्ली में वासकसज्जा और अभिसारिका नायिका होती है। यह द्विपदी खण्ड गेय से युक्त रथ्या वासक ताल से अलंकृत रहती है। तीन लयों से युक्त दस लास्यांग इसमें विद्यमान रहते हैं। इस उपरूपक के उदाहरण रूप में 'माणिक्यवल्लिका' का नामोल्लेख हमारे ग्रन्थकार ने किया है। मुख, प्रतिमुख एवं निर्वहण सन्धियों से सुशोभित, उदात्त वर्णनों से उत्कृष्ट रूप वाला उदात्त नायक इसमें स्वीकृत किया जाता है।

---

१. भा० प्र०—नवम अधि० पृ० २६७-२६८।

२. भा० प्र०—नवम अधि० पृ० २६८।

पारिजातक

'मल्लिका' एवं 'कल्पवल्ली' की तरह 'पारिजातक' का भी वर्णन सर्वप्रथम 'भावप्रकाशनम्' में ही शारदातनय द्वारा किया गया है[1]। इसमें एक अंक और मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ मानी जाती हैं। वर्ण-मात्रा एवं अखण्ड ताल वाली गाथा इसमें विद्यमान रहती है। वीर और शृङ्गार का अधिक प्रयोग होता है और नायक कोई देव, क्षत्रिय वंश का ही होता है। नायक उदात्त, किन्तु नायिका कलह में लिप्त रहती है अथवा भोगिनी, स्वीया, गणिका होती है। इसमें नायिकाएँ आठ रहती हैं और चार दण्डरासक नर्तकियाँ होती हैं। इसमें तीन अपसरण सहित विचित्र कथाओं और गीत का मेल होता है। कहीं-कहीं विदूषक की मनोहारी क्रीड़ाओं तथा हास्यों का अभिनय किया जाता है। अपनी उपर्युक्त विशेषताओं वाले इस उपरूपक को 'पारिजातक' कहा गया है, जिसके उदाहरण में शारदातनय ने 'गङ्गातरङ्गिका' ग्रन्थ का नामोल्लेख किया है। इसी को कुछ आचार्यों ने 'पारिजातलता' कहा है जो वस्तुतः पारिजातक ही है।

रङ्गमण्डप-निरूपण

नाट्य वर्णन प्रसंग में शारदातनय ने जहाँ नाट्य-रस से सम्बद्ध काव्य-परक स्थितियों का विस्तृत विवेचन किया है वहीं दृश्य-काव्य के अभिनयात्मक स्वरूप तथा उसकी प्रक्रियात्मक स्थितियों का भी महत्त्वपूर्ण विवरण उपस्थित किया है। आपकी विचार सरणि का मूल आधार भरत के नाट्य शास्त्र को ही कहा जा सकता है। अन्य प्रसंगों में शारदातनय द्वारा व्यक्त किये गये विचारों के ही समान अभिनय प्रक्रिया के प्रस्तुत सन्दर्भ में भी भरत के उक्त नाट्य शास्त्र को ही उपजीव्य रूप में अपनाया गया है। नाट्य की अभिनयात्मक सफलता के लिये 'रङ्गमण्डप' की व्यवस्थित प्रकृति की आवश्यकता होती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने 'रङ्गमण्डप' के विषय में भरत के नाट्यशास्त्र के अनुरूप अपने विचारों को व्यक्त किया है। आपने सर्वप्रथम रङ्गमण्डप की पारिभाषिक स्थिति का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। इस परिचय प्रसंग में अभिनेय पात्रों की स्थितियों तथा अभिनय में सहायक प्रतीत होने वाले उपकरणों का भी संक्षिप्त रूप में उल्लेख किया है। इसके पश्चात् रङ्गमण्डप के विविध रूपों का भी नामोल्लेख करते हुए आचार्य भरत की तद्विषयक मान्यताओं को पुष्ट कर दिया गया है। वस्तुतः आचार्य भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' के द्वितीय अध्याय में 'नाट्यगृह' का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। विवेचन क्रमानुसार नाट्यवेश्म के तीन रूप माने गये हैं। इसका प्रथम रूप देवताओं के लिये स्वीकृत माना गया है, जिसकी लम्बाई १०८ हाथ बतायी

---

१. भा० प्र०—नवम अधि० पृ० २६८।
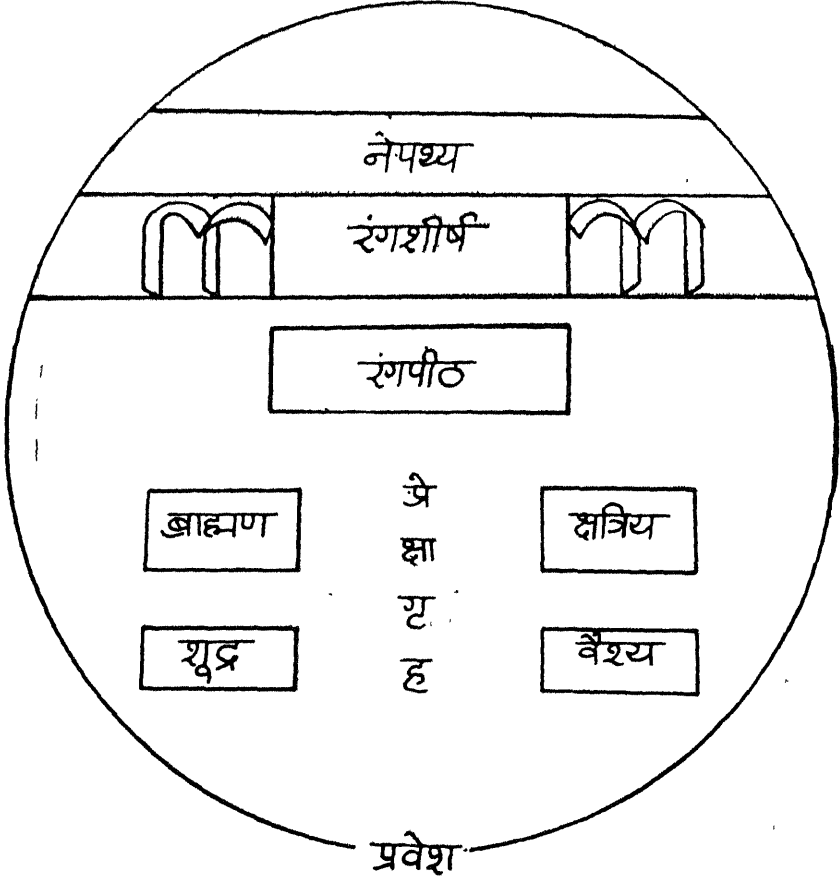
वृत्ताकार रंगशाला
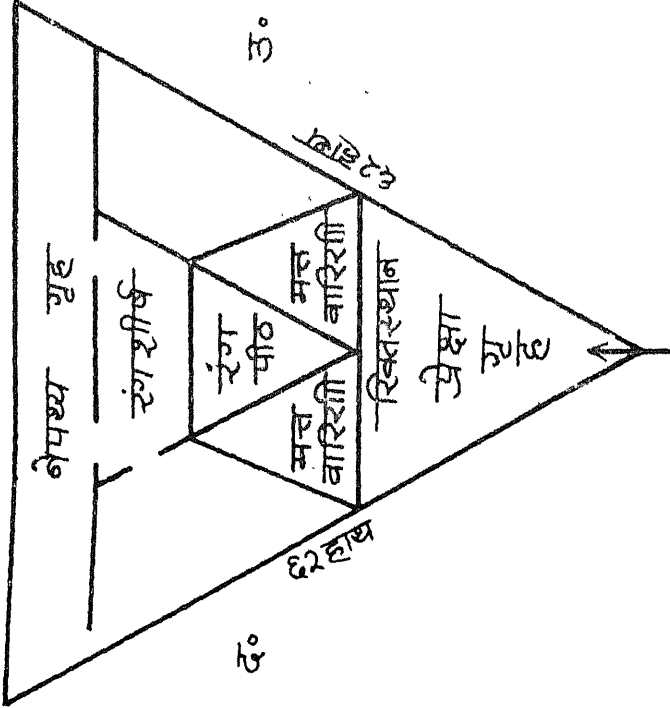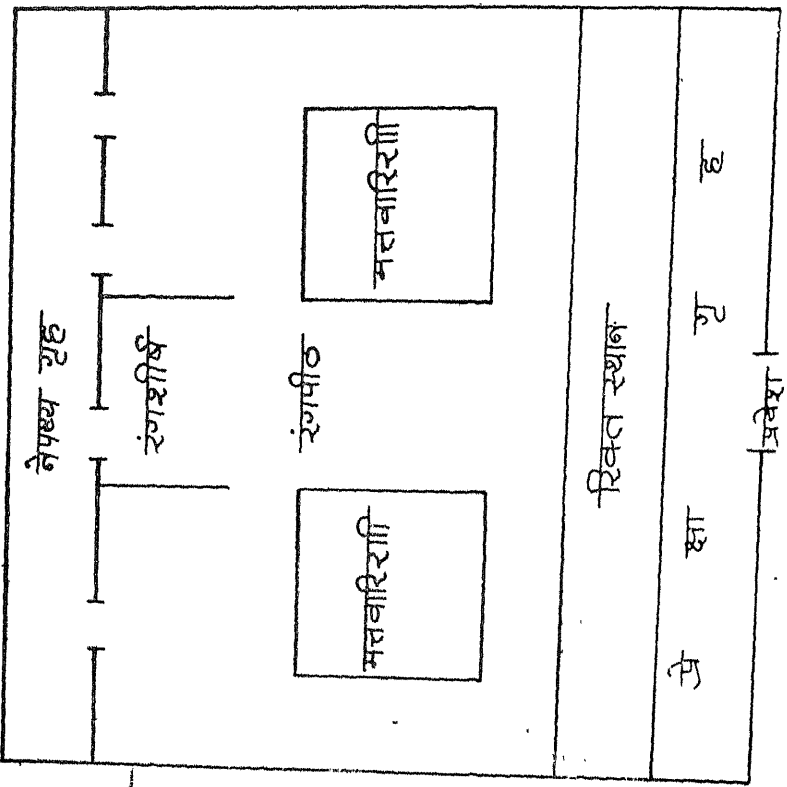
त्र्यस्र (कनिष्ठ) रङ्गशाला

चतुरस्र (कनिष्ठ) रङ्गशाला

गयी है। 'नाट्यगृह' का दूसरा रूप आयताकार कहा गया है, जिसे ६४ हाथ लम्बा एवं ३२ हाथ चौड़ा माना गया है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नाट्यगृह के इसी द्वितीय रूप को आदर्श मानकर इसका विवेचन अपेक्षाकृत विस्तृत रूप में किया है। इसकी समग्रभूमि को दो भागों में विभक्त किया गया है और इन भागों के एक अंश में दर्शकों के बैठने की व्यवस्था की जाती है तथा दूसरा भाग रंगशीर्ष, रंगपीठ नेपथ्यादि के लिये माना गया है। आचार्य भरत के अनुसार दर्शकों के बैठने के लिये जो स्थान नियत रहता है उसकी भी एक व्यवस्थित अवस्था स्वीकार की गयी है। इस व्यवस्था के अनुसार दर्शकों के वर्ण (जाति) क्रमानुसार स्थान नियत कर दिये जाते हैं। 'रङ्गमञ्च' के सामने एक श्वेत स्तम्भ के उपयोग की व्यवस्था रहती है। इसी स्तम्भ के पास ब्राह्मणों के बैठने का विधान किया जाता है। इस स्तम्भ से कुछ ही दूर हटकर एक रक्तवर्ण का स्तम्भ निर्मित किया जाता है जो क्षत्रियों के बैठने का स्थान सूचित करता है। उत्तर-पश्चिम दिशा में एक पीतवर्ण के स्तम्भ की व्यवस्था रहती है जो वैश्यवर्ण के लिये नियत किये गये स्थान की सूचना देता है। उत्तर-पूर्व में शूद्र वर्ण के लोगों के बैठने का स्थान सूचित करने के लिये नीलवर्ण के स्तम्भ की व्यवस्था की जाती है। रङ्गमञ्च के सामने अथवा उसके अगल-बगल जो वराण्डा रहता है उसे 'मत्तवारणी' कहा गया है। दर्शकों के सामने आठ हाथ लम्बे और इतने ही चौड़े रङ्गपीठ की व्यवस्था की जाती है। 'रङ्गपीठ' के पीछे 'रङ्गशीर्ष' का रहना बताया गया है। इन दोनों को विभिन्न प्रकार के चित्रों से सुसज्जित रखने का निर्देश किया है। इस स्थान के पीछे 'यवनिका' की व्यवस्था का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध होता है जिसके पटी, अपटी, तिरस्करिणी आदि नाम भी प्रचलित रहे हैं। 'यवनिका' के पीछे 'नेपथ्य' निर्माण का निर्देश किया गया है। दूर से पुकारने, आपसी वार्तालाप (बतकही) तथा तुमुलनाद के अभिनय करने का निर्देश नेपथ्य में ही किया गया है। देवताओं की वाणी या आकाशवाणी के अभिनय की भी नेपथ्य में ही व्यवस्था रहती है। नेपथ्य के दो द्वार बताये गये हैं। एक का उपयोग 'रङ्गमञ्च' पर पात्रों के प्रवेश करने में होता है और कभी-कभी शीघ्रता की दशा में पात्र 'यवनिका' (पर्दा) को भी हटाकर रङ्गमञ्च पर पहुँच जाता है। दोनों द्वारों के मध्य वाद्य-यन्त्रों का स्थान नियत किया गया है।

आचार्य भरत ने रङ्गमण्डप के तीन रूपों का वर्णन किया है जो क्रमशः 'विकृष्ट', 'चतुरश्र' एवं 'त्र्यश्र' कहे गये हैं। 'विकृष्ट' संज्ञक रङ्गमण्डप का उपयोग देवालयों, चतुरश्र का राजगृहों तथा त्र्यश्र का सर्वसाधारण गृहों में होता रहा है। 'रङ्गमण्डप' के लिये उत्तम भूमि की चर्चा के प्रसंग में काली, कठोर अथवा श्वेतवर्ण की मिट्टी वाली भूमि के उपयोग का निर्देश किया गया है। 'रङ्गशीर्ष' की भूमि का वर्णन करते हुए भरत ने कूर्मपृष्ठ (मध्य में ऊँची, तथा पृष्ठ-मध्य में नीची) भूमि

का निषेध किया है और दर्पण के समान समतल भूमि की उत्तमता बतायी है। इसे रत्न तथा बहुमूल्य धातुओं से विजड़ित करके सुसज्जित रखने का विधान किया गया है। इस सन्दर्भ में 'रङ्गशीर्ष' की साज-सज्जा के लिये कलात्मक कृतियों से परिपूर्ण काष्ठ के उपयोग का निर्देश किया गया है। भरतमुनि के अनुसार 'विकृष्ट' संज्ञक रङ्गमण्डप में 'रङ्गपीठ' का रूप उन्नत भूभाग वाला, 'चतुरश्र' में समतल तथा त्रिकोणाकार त्र्यश्र नामक रङ्गमण्डप में 'रङ्गपीठ की स्थिति मध्यभाग में बतायी गयी है। रङ्गपीठ में ही 'पूर्वरङ्ग' से सम्बद्ध अभिनय प्रक्रियाओं को सम्पन्न किया जाता है।

आचार्य भरत द्वारा वर्णित 'रङ्गमण्डप' की व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में शारदा-तनय द्वारा प्रस्तुत किये गये 'रङ्गमण्डप'-वर्णन पर विचार करते हुए यदि देखा जाय तो यह सर्वथा स्पष्ट है कि शारदातनय को भरत द्वारा वर्णित व्यवस्था पूर्णतया मान्य है। आपने भी रङ्गमण्डप के तीन रूपों का उल्लेख किया है जो क्रमशः वृत्त चतुरश्र एवं त्र्यश्र कहे गये हैं[1]। इस सन्दर्भ में आपने 'रङ्गमण्डप' की पारिभाषिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए इसे ऐसा गृह स्वीकार किया है जिसमें कुशीलव द्वारा राजा, राजपरिवार, सभ्य, सभापति, सखा आदि का अनुरञ्जन किया जाता है। शारदातनय ने प्रस्तुत सन्दर्भ में 'रञ्जयन्ति' पद का प्रयोग करते हुए 'रङ्ग' पद के रञ्जनात्मक अर्थ से 'रङ्गमण्डप' का सम्बन्ध स्थापित किया है। 'वृत्त' संज्ञक रङ्गमण्डप पर प्रकाश डालते हुए इसे रङ्गमण्डप का ऐसा रूप बताया गया है जहाँ 'परमण्डपिकों, सज्जनों, पौरों तथा जानपदों द्वारा राजा की संगीति की जाती है। 'चतुरश्र' में वारकन्या, अमात्य, वणिक्, सेनापति तथा मित्र पुत्रों द्वारा राजाओं के संगीत का विधान किया गया है। आपका कथन है कि ऋत्विजों, पुरोहितों तथा आचार्यों द्वारा अन्तःपुर के लोगों एवं 'महिषी' के साथ जहाँ संगीतक होता है उसी को त्र्यश्र नामक रङ्गमण्डप' कहा गया है। 'त्र्यश्र' में मार्ग प्रक्रिया द्वारा संगीत के विधान का निर्देश किया गया है और 'चतुरश्र' में मार्ग तथा देश मिश्रित संगीत के प्रयोग का विधान किया गया है। 'वृत्त' नामक रङ्गमण्डप में मिश्र के बीच चित्र के आयोजन का भी निर्देश किया गया है। विद्वान् आचार्य ने प्रस्तुत सन्दर्भ में मार्ग, देश-मिश्र एवं चित्रादि का परिचयात्मक उल्लेख भी किया है।

---

१. चतुरश्रत्र्यश्रवृत्तभेदात्सोऽपि त्रिधा भवेत्।

भा० प्र०—दशम अधि० पृ० २९५ पं० ९।

उपसंहार

उपसंहार

'भावप्रकाशन' के रचयिता शारदातनय ने इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय पर स्वयं विचार करते समय रस तथा नाट्य सम्बन्धी सिद्धान्तों के संग्रह में बड़ी तत्परता दिखायी है। अपनी शैली में विद्वान् आचार्य ने सामान्यतः भरत के नाट्यशास्त्र के क्रम का ही अनुसरण किया है और जहाँ अन्य आचार्यों ने भरत के मत से अपनी भिन्नता प्रदर्शित की है उनके मतों का उल्लेख किया है। ग्रन्थ के परिशीलन से यह कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ की रचना में लेखक का मुख्य उद्देश्य भरत के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का संग्रह करना एवं आवश्यक संशोधनों के साथ उन्हें एक परिनिष्ठित रूप में उपस्थित करना है।

साहित्यशास्त्र के विभिन्न प्रस्थानों (रस, अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, वक्रोति, अनुमिति तथा औचित्य) में रस प्रस्थान का निःसन्देह महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सिद्धान्त के अनुसार रस काव्य की आत्मा है एवं गुण, रीति, अलंकारादि उसी के उपकारक अंग हैं। वर्तमान समय में उपलब्ध आचार्य भरतकृत नाट्यशास्त्र में इस सिद्धान्त का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। अतः यह निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि इस सिद्धान्त का उद्भव भरत से पूर्व हुआ होगा। आचार्य भरत के परवर्ती समालोचकों में रस-सिद्धान्त को लेकर मतैक्य नहीं रहा जिसका परिणाम यह हुआ कि समय-समय पर इस सिद्धान्त में परिवर्द्धन होते गये। आचार्य शारदातनय रस सिद्धान्त के कट्टर समर्थक रहे हैं। अतः आपने भरत के बाद किये गये सभी परिवर्द्धनों तथा संशोधनों के साथ इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। अपने विषय प्रतिपादन में आचार्य शारदातनय ने एक ओर जहाँ भरत द्वारा निर्दिष्ट काव्य-शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह किया है वहीं कुछ निजी विशिष्टताओं को भी दिखाया है जिन्हें शारदातनय की देन कहा जा सकता है। 'भावप्रकाशन के प्रणेता की विशिष्ट उपलब्धियों को इस प्रकार देखा जा सकता है—

आचार्य शारदातनय ने साहित्यिक तत्त्व वर्णन की परम्परा के विपरीत रस से पूर्व भावों का विवेचन किया है। ग्रन्थकार की यह मौलिक सूझ है कि भाव ही तो सर्वप्रथम परस्पर सम्बद्ध होकर अनुभूति जागृत करते हैं और सामाजिक को आनन्द सागर में निमग्न कर देते हैं। यही प्रमुख कारण है कि 'भावप्रकाशन' के आरम्भ में ही प्रतिपाद्य विषय की प्रतिज्ञा करते हुए विद्वान् आचार्य ने 'एतस्मिन् प्रथमं भावस्तस्य भेदास्ततः परम्'—(भावप्रकाशन पृ० २, पं० २३) की स्पष्ट घोषणा की है। 'भावप्रकाशन' के पृष्ठ ३ पर विषय के वर्गीकरण को दर्शाते हुए भी १. भाव,

२. रस, ३. शब्दार्थ सम्बन्ध, ४. नाट्य के विविध रूप इस प्रकार चार भाग किये गये हैं। इस वर्गीकरण में भी 'भाव' को ही प्राथमिकता दी गयी है। शारदातनय का यह वर्गीकरण युक्तिसंगत है, क्योंकि भाव ही रस की अनुभूति की आधार शिला है। भाव और रस वर्णन के पश्चात् शब्दार्थ सम्बन्ध का विवेचन किया गया हैं, क्योंकि जब तक दर्शक शब्दार्थ से परिचित नहीं होगा उसमें रस-मूलक भावग्रहण की क्षमता एवं आनन्दानुभूति हो ही नहीं सकती और दूसरी ओर इसके ज्ञानाभाव में कोई भी कवि अपनी नाट्यकृतियों में उपयुक्त शब्दों का उपयोग भी नहीं कर सकता। अन्त में नाटक के विविध प्रकारों का वर्णन किया गया है जिनकी उपस्थापना से अनेक प्रकार के आनन्द का बोध दर्शकों को होता है।

भावनिरूपण के आधारभूत द्वादश तथ्य, भाववर्णन में व्युत्पत्तिपरक भाव-निरूपण की प्रक्रिया एवं भावजागरण की मूलभूत विविध (पदार्थ परक, कार्य व्यापार परक, मानसविकार परक) स्थितियों के विशद वर्णन को निश्चित ही शारदातनय का योगदान कहा जा सकता है। वस्तुतः 'भावप्रकाशन' में भावों की निरुक्ति का जैसा विस्तृत निरूपण किया गया है वैसा अन्य नाट्य शास्त्रीय ग्रन्थों में कहीं भी दृष्टि-गोचर नहीं होता। शारदातनय ने भावों के उन कार्यों का भी विवेचन किया है जो शारीरिक मुद्राओं द्वारा प्रदर्शित किये जाने पर दर्शक के मत में रसात्मक अनुभूति कराने में सक्षम होते हैं। भाव निरूपण सम्बन्धी शारदातनय की विशेषताएँ ये हैं—

(क) परम्परा प्राप्त विवरणों से सर्वथा भिन्न शारदातनय ने ललिता, ललिता-भास, स्थिर, चित्र, रूक्ष, खर, निन्दित एवं विकृत रूप में आठ उद्दीपन विभावों का वर्णन किया है और प्रत्येक की पृथक्-पृथक् परिभाषा प्रस्तुत की है (भावप्रकाशन पृ० ४-५) विभावगुणों का शृङ्गारादि रसों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही इन आठ उद्दीपन विभावों के तत्तत् गुणों का रसों की निष्पत्ति में सम्यक् निर्वाह दिखाया गया है। रस-निष्पत्ति में इन आठ उद्दीपन विभावों का सन्नियोजन इस ग्रन्थ की एक विशेषता कही जा सकती है।

(ख) अनुभाव वर्णन प्रसंग में शारदातनय ने मन, वाणी, शरीर तथा इन्द्रियों द्वारा उपस्थित किये जाने वाले चार अनुभावों का वर्णन किया है (भावप्रकाशन पृ० ६ पं० १३)। इस नवीन पद्धति को अपना कर विद्वान् आचार्य ने परम्परा प्राप्त नायिका के भाव, हाव, लीला, विलासादि बीस अलंकारों तथा शोभा, विलास आदि नायक के आठ प्रकार के गुणों को मनारम्भ तथा गात्रारम्भ अनुभावों में संगृहीत किया है। भरत द्वारा सामान्याभिनय के प्रकरण में गिने गये बारह प्रकार के वाचिकाभिनयों को शारदातनय ने वाणी की विशेषता के रूप में स्वीकार किया है और चार रीतियों, चार वृत्तियों, चार प्रवृत्तियों को बुद्ध्यारम्भानुभाव माना गया है। चार वृत्तियों को स्वीकार करते हुए मागधी और अवन्ती के स्थान पर 'सौराष्ट्री'

तथा 'द्राविड़ी' नामों को सुझाया गया है एवं 'मिश्र' नामक एक और वृत्ति की कल्पना की गयी है। इस कल्पित पाँचवीं वृत्ति का कार्य सभी अन्य चार वृत्तियों के संयुक्त रूप को व्यक्त करना प्रतीत होता है। अनुभाव भेद निरूपण में शारदातनय द्वारा प्रस्तुत किये गये चतुर्विध अनुभाव वर्गों को विवेचन की दृष्टि से सर्वथा वैज्ञानिक एवं व्यापक कहा जा सकता है, क्योंकि इसी वर्गीकरण द्वारा लीला, विलासादि का अनुभाव रूप में निरूपण सम्भव हो सका है। यह निरूपण प्रकार भी शारदातनय की निजी विशेषता मानी जा सकती है।

(ग) अन्य भाव भेदों के समान ही स्थायीभावों का निरूपण करते समय शारदातनय ने सूक्ष्म आन्तरिक अनुभूतियों की विविधता पूर्ण सामाजिक अन्तर्दशाओं पर भी विचार किया है। रति वर्णन प्रसंग में प्रीति आदि भेदोपभेदों के प्रभावमय स्वरूप का विवेचन इसी तथ्य का सूचक है। अन्य स्थायीभावों के निरूपण में भी विवेचन की इसी नूतन पद्धति का आश्रय लिया गया है जिसे 'भावप्रकाशन' की विशेषता के रूप में माना जा सकता है।

(घ) व्यभिचारी भावों के वर्णन प्रसंग में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों (रुद्रट और रुद्रभट्ट) के दृष्टिकोण के विपरीत शारदातनय ने यह सिद्ध किया है कि प्रत्येक प्रकार का व्यभिचारी भाव, रस रूप में विकास नहीं पा सकता है। व्यभिचारी भाव से शान्तरस में विकसित होने वाले सिद्धान्त को भी इसी आधार पर तिरस्कृत किया गया है। 'शम' और 'निर्वेद' को भी शान्तरस का स्थायीभाव न मानने का यही आधार है। श्रव्य-काव्य में यदि कोई अन्य भाव निर्वेद आदि के माध्यम से रस को जागृत करता है तो उसे भी आठ स्थायी भावों में ही स्वीकार किया गया है।

(ङ) भावभेदों पर विचार करते समय शारदातनय ने सात्त्विक अनुभाव के पूर्व स्वीकृत रूपों से सर्वथा विशिष्ट सात्त्विक भाव नामक स्वतन्त्र भावभेद का निरूपण किया है। इस सन्दर्भ में सत्व, मन तथा प्राणादि की विविध स्थितियों का मनोवैज्ञानिक विवेचन करते हुए सात्त्विक भावों के मौलिक रूप की प्रतिष्ठा पर बल दिया गया है। इस वर्ग के समस्त रूपों का सम्बन्ध सत्त्वज स्थितियों से है जिन्हें अन्तःकरण की सहजवृत्ति के रूप में ग्रहण किया गया है। इन वृत्तियों की अनुभूति जनित परिणति शरीर के विविध अवयवों तथा इन्द्रियगम्य चेष्टाओं के बीच भी परिलक्षित होती है जिसे जागृतभाव को सूचित करने वाले अनुभाव वर्ग में माना जा सकता है। यही एक मूलभूत तथ्य है जो अनुभाव नामक भाव भेद के सात्त्विक वर्ग का आधार प्रस्तुत करता है। शारदातनय की सूक्ष्म दृष्टि उन अन्तरवृत्तियों की गहनता तक पहुँची दिखायी देती है जो सात्त्विक अनुभावों के दृष्टिगोचर रूपों के कारणभूत है। इन्हीं आन्तरिक रूपों के आठ प्रकारों का निरूपण सात्त्विक भावों के विविध

रूपों में किया गया है। विश्लेषण एवं वर्गीकरण की प्रस्तुत दृष्टि को 'भावप्रकाशन' के रचयिता की मौलिकता कहा जा सकता है।

रस विषयक चर्चा करते हुए शारदातनय ने रस के स्वरूप तथा उससे सम्बधित विविध मतों का भी विवरण प्रस्तुत किया है जो भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नहीं है। विद्वान् आचार्य ने नाट्यरस की उत्पत्ति के ऐतिहासिक तथा पौराणिक आधारों का भरत सम्मत रूप में उल्लेख करते हुए तद्विषयक अपने मौलिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। इसी तरह रसोत्पत्ति एवं रसाश्रय से लेकर रसानुभूति की अभिव्यक्ति-मूलक अवस्थाओं की भी तुलनात्मक चर्चा की है और अपनी मान्यताओं को युक्ति संगत रूप में प्रस्तुत किया है। 'भावप्रकाशन' की रस विषयक चर्चा के विशिष्ट तथ्यों को इस प्रकार देखा जा सकता है—

(क) रसोत्पत्ति एवं रस के स्वरूप पर विचार करते समय वासुकि, नारद, पद्म एवं भट्टलोल्लट आदि विचारकों की तद्विषयक मान्यताओं का भी समुचित उपयोग किया गया है। इसी तरह 'योगमाला' के सैद्धान्तिक पक्ष को भी समुचित महत्त्व प्रदान किया गया है। इन पूर्ववर्ती विचारकों तथा ग्रन्थों की चर्चा ऐसे प्रसंगों को उपस्थित करती है जिनका उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में दृष्टिगोचर नहीं होता।

(ख) नाट्यरस की उत्पत्ति मूलक ऐतिहासिक अवस्था का विवरण देते समय शारदातनय ने जहाँ भरत के नाट्यशास्त्र में बताये गये वेदोक्त एवं व्यासोक्त आधारों का उल्लेख किया है वहीं मनु के प्रसंग द्वारा भरतों की अभिनयात्मक भूमिका के लौकिक रूप का भी विवरण प्रस्तुत किया है। 'भावप्रकाशन' का तद्विषयक निरूपण यही प्रमाणित करता है कि शारदातनय ने भरत की विवेचना पद्धति का अनुसरण करते हुए भी अपने विवेच्य क्रम के स्वतन्त्र स्थिति का यथावत् उपयोग किया है।

(ग) शारदातनय ने रस की निष्पत्ति के विश्लेषण क्रम में यह स्पष्ट कर दिया है कि रस मूलतः रामादि अनुकार्यों में उत्पन्न होते हुए भी रामादि के विभिन्न चरित्रों का अभिनय करने वाले नटों तथा अभिनेताओं के माध्यम से सामाजिक के लिये अनुभवगम्य होता है। इस प्रकार सामाजिक के रसबोध को रसानुभूति का मूल लक्ष्य स्वीकार करते हुए रामादि अनुकार्यों से लेकर अभिनेताओं तक के तद्विषयक महत्त्व का सम्यक् प्रतिपादन किया है।

(घ) 'भावप्रकाशन' के आचार्य ने रसानुभूति की प्रक्रियात्मक स्थितियों का भी तुलनात्मक दृष्टिकोण से युक्ति संगत विश्लेषण किया है। इसी प्रसंग में भट्ट लोल्लट, भट्टनायक तथा शंकुक आदि विचारकों की तद्विषयक विविध मान्यताओं की भी छान-बीन की गयी है। रस-विषयक इन विविध मतों का निरूपण करते

समय शारदातनय का समन्वय परक व्यापक दृष्टिकोण अनुभूत होता है जिसे मौलिक विशेषता कहा जा सकता है।

(ङ) रस-निष्पत्ति में शारदातनय ने 'योगमाला' द्वारा प्रस्तावित तथा नारद के मत से अनुरूपता प्रकट करने वाले अहंकार के रस विषयक महत्त्व पर पर्याप्त बल दिया है। इस प्रसंग में अहंकार की विशेष स्थिति का भी मनोवैज्ञानिक रूप से विश्लेषण किया गया है। इसी तथ्य को प्रमुखता देते हुए शारदातनय ने 'शम' तथा 'निर्वेद' नामक व्यभिचारियों के स्थायीभाव परक रूपों को असंगत सिद्ध किया है। शान्तरस की रसमयता का प्रतिवाद करते समय अन्य कारणों में से अहंकार के रस निष्पत्ति-मूलक महत्त्व को भी एक कारण बताया है। रस-निष्पत्ति में अहंकार की प्रस्तुत भूमिका को शारदातनय ने जिस रूप में प्रस्तुत किया है उसे रस सम्प्रदाय के अन्य विचारकों की विवेचन सरणि से सर्वथा पृथक् मानकर विशिष्ट महत्त्व दिया जा सकता है।

(च) 'भावप्रकाशन' में रस-बोध की अभिव्यक्ति-मूलक अवस्था पर विचार करते समय उसकी वाच्यता एवं व्यंग्यता आदि पर भी विश्लेषण किया गया है। इस सम्बन्ध में लेखक द्वारा प्रस्तुत की गयी तात्पर्यशक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है। शारदातनय के मत से दर्शकों के मन में रसोद्बोध शब्द की तात्पर्याशक्ति से होता है नकि ध्वनि सिद्धान्त के अनुयायियों द्वारा स्वीकृत व्यञ्जनावृत्ति से अपनी रचना द्वारा उपर्युक्त विभावादि के प्रस्तुतीकरण से दर्शकों के मन में रसोद्बोध कराने की कवि की इच्छा शक्ति को ही शब्दों की तात्पर्य शक्ति माना गया है। अभिधा तथा लक्षणा वृत्तियों को केवल विभावादिकों को प्रस्तुत करने तक ही सीमित माना गया है। इसके अनन्तर व्यञ्जना नामक एक नवीन शक्ति (जिसे ध्वनिवादी स्वीकार करते हैं) को न मानकर शारदातनय ने तात्पर्य को ही अभीष्टार्थ प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन स्वीकार किया है।

(छ) मम्मटादि अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों की परम्परागत पद्धति के सर्वथा विपरीत शारदातनय ने अपनी रचना 'भावप्रकाशन' में गुण, अलंकार रीति आदि की उपेक्षा कर भरत, कोहल आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित भट्टनायक, धनञ्जय, अभिनवगुप्त तथा भोज द्वारा संशोधित रस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

शब्दार्थ-सम्बन्ध निरूपण विषयक विवरणों में शारदातनय ने शब्द, अर्थ तथा इनके पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करते हुए परम्परागत मान्यताओं का शास्त्र-सम्मत वर्णन किया है। विद्वान् विचारक ने तात्पर्याशक्ति के रूप में काव्य एवं काव्यानुभूति के बीच की एक महत्त्वपूर्ण शक्ति का भी निरूपण किया है। विवेचन क्रम में वाक्य से लेकर पद एवं पद-रचना विषयक प्रकृति-प्रत्यादि की

स्थितियों का भी विश्लेषण किया है। शारदातनय की शब्दार्थ सम्बन्ध-विषयक कतिपय विशेषताएँ हैं—

(क) काव्य एवं काव्यानुमिति पर विचार करते समय वाक्य तथा वाक्यार्थ, पद तथा पदार्थ, प्रकृति एवं प्रत्यय की व्युत्पत्ति मूलक स्थिति आदि का सम्यक् विश्लेषण किया है। इस महत्वपूर्ण तथ्य को 'भावप्रकाशन' की विशेषता कहा जा सकता है।

(ख) शब्दार्थ-सम्बन्ध विषयक काव्य-शास्त्रीय मान्यताओं के सम्यक् संरक्षण की व्यापक दृष्टि को अपना कर शारदातनय ने परम्परागत मान्यताओं के स्वीकृत रूपों का समुचित निरूपण किया है। भोज के 'शृङ्गारशतक', अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती' तथा मम्मट के 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ में निरूपित शब्द और अर्थ की स्थितियों तथा तदनुरूप कार्यरत शक्तियों का यथावत् विवेचन उदाहरणों के साथ किया है।

(ग) शब्दार्थ सम्बन्ध निरूपण के समय तात्पर्यशक्ति की उद्भावना पर बल दिया गया है। ऐसा करते हुए काव्यानुभूति एवं रसबोध के मध्य विद्यमान कवि की उस विवक्षाशक्ति का निरूपण किया है जो सहृदय सामाजिक के अर्थ-बोध का मूल आधार है। इस प्रकार तात्पर्याशक्ति को व्यञ्जन आदि परम्परागत शक्ति-रूपों से पृथक् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार करना इनकी विशेषता है।

(घ) शब्दार्थ सम्बन्ध से सम्बद्ध तीन मतों का यहाँ विश्लेषण किया है। शारदातनय के अनुसार इस विषय का सम्यक् ज्ञान कवि तथा सहृदय दोनों को होना चाहिए। इस सम्बन्ध ज्ञान से अनभिज्ञ रहने पर उपर्युक्त शब्दों का प्रयोग तथा रसानुभूति दोनों ही उनके लिये जटिल समस्या के रूप में माने गये हैं। शब्दार्थ-सम्बन्ध विषयक तीन मत हैं—

भोज-मत

१. वृत्ति, २. विवक्षा, ३. तात्पर्य, ४. प्रविभाग, ५. व्यपेक्षा, ६. सामर्थ्य, ७. अन्वय, ८. एकार्थीभाव, ९. दोषाभाव, १०. गुणोपादान, ११. अलंकारयोग, १२. रसावियोग।

अभिनवगुप्त-मत

अर्थ—वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य, गम्य, प्रत्याय्य, द्योत्य।

शब्द—वाचक, लक्षक, व्यञ्जक, गमक, प्रत्याय्यक, द्योतक।

शक्ति—अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, गति, प्रतीति, द्युति।

मम्मट-मत

शब्द—वाचक, लाक्षणिक, व्यञ्जक।

अर्थ—वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य।

वृत्ति—अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना।

शारदातनय ने इस मत का वर्णन 'काव्यप्रकाश' के अनुसार ही किया है। इस बात की पुष्टि 'तच्च काव्यप्रकाशेन मयाप्यत्र प्रदर्शितम्'। (भावप्रकाशन पृ० १७५ पं० २०) से स्वतः सिद्ध है। काव्यप्रकाश के प्रथम पाँच उल्लासों का छन्दोबद्ध वर्णन थोड़े से शब्दों में करना अवश्य ही इस ग्रन्थकार का वैशिष्ट्य है।

'भावप्रकाशन' का वर्ण्य-विषय भाव से लेकर रस की समस्त प्रक्रियाओं तक व्याप्त दिखायी देता है। इस सन्दर्भ में शारदातनय की मूलदृष्टि भाव, रस आदि नाट्यरूपों की ओर ही विशेष रूप से प्रवृत्त रही है। नाट्यशास्त्र के विमर्श रूप में पायी जाने वाली विशेषताओं को इस प्रकार देखा जा सकता है—

(क) दृश्य-काव्य के रूपक वर्गीय नाटक का विस्तृत विवेचन तथा रस के रसात्मक प्रयोग का सांगोपांग निरूपण जैसा 'भावप्रकाशन' में दृष्टिगोचर होता है वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। शारदातनय के मत से नाटक अन्य समस्त रूपक भेदों में प्रधान है और समस्त आवश्यक अंगों से युक्त होने के कारण यह रस का प्रधान स्रोत भी है। 'भावप्रकाशन' में पाँच अर्थप्रकृतियाँ, पाँच अवस्थाएँ, चौंसठ अंग, चार वृत्तियाँ, पाँच सन्धियाँ, इक्कीस सन्ध्यन्तर, छत्तीस भूषण एवं नब्बे संगीतांगों से से युक्त होने पर पूर्ण नाटक माना गया है।

(ख) प्रस्तुत ग्रन्थकार ने चौंसठ अलंकारों के एक नवीन समूह का उल्लेख किया है एवं इन ६४ में से ५४ का विश्लेषण भी किया है। अपने इस अलंकार समूह में शारदातनय ने भरत के ३६ आभूषणों को समाविष्ट किया है, किन्तु अवशिष्ट अलंकारों के मूल उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट जानकारी नहीं दी है।

(ग) शारदातनय ने नाटक के स्वरूप एवं अंगों के सम्बन्ध में मुख्य रूप से भरत के मत का ही अवलम्बन किया है, किन्तु भरत के मत से भिन्नता रखने वाले आचार्य कोहल तथा मातृगुप्त के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर ग्रन्थकार ने अपने इस ग्रन्थ में वैशिष्ट्य ला दिया है। नाटक भेदों के वर्गीकरण में सुबन्धु के पूर्ण, प्रशान्त, भास्वर, ललित एवं समग्र नामक पाँच नाटक भेदों को क्रमशः कृत्यारावण, स्वप्नवासवदत्ता, बालरामायण, विक्रमोर्वशीय एवं महानाटक के उदाहरण रूपमें सन्नियोजन करना अवश्य ही इस ग्रन्थकार की निजी विशेषता है।

(घ) यहाँ नाट्योपकारक नृत्य, गीत एवं वाद्य को समुचित महत्त्व प्रदान किया गया है और इसके साथ ही साथ नृत्य संगीत की मौलिक स्थितियों तथा उनके रस

सन्नियोजनों पर भी प्रकाश डाला गया है। नृत्य, गीत एवं वाद्य भेदों का भी यथोचित उल्लेख किया गया है।

(ङ) संगीत की उत्पत्ति एवं विकास का विशद वर्णन 'भावप्रकाशन' के सातवें अधिकार में उपलब्ध होता है। गेय की उत्पत्ति में शैवागम के सम्बन्धी ३६ तत्त्वों का उल्लेख करते हुए उनके प्रमुख तीन भेद किये गये हैं–१. शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या ये पाँच शुद्धतत्त्व माने गये हैं। २. माया, काल, नियति, कला, विद्या, राग और पुरुष ये सात शुद्धाशुद्धतत्त्व स्वीकार किये हैं। ३. प्रकृति से लेकर पृथिवी तक के २४ (सांख्यदर्शन सम्बन्धी) तत्त्वों को अशुद्ध तत्त्व के रूप में माना गया है। इन ३६ तत्त्वों के उल्लेख करने के पश्चात् प्रकृति के तीन गुण अर्थात् रूप, नाम एवं क्रिया का वर्णन किया गया है जिनके संक्रमित होने पर पुरुष-प्राज्ञ, तैजस् एवं विश्वभेद से तीन प्रकार का हो जाता है। प्राज्ञ की अपनी पृथक् सत्ता बतायी गयी है, किन्तु तैजस्-बुद्धि, अहंकार, आकाश, वायु, वह्नि, जल एवं पृथिवी के रूप में कार्यकारण भाव ग्रहण कर लेता है। इन्हीं के समवाय में विश्व की अवस्थिति होती है और वह विराट् पुरुष और ईश्वर कहलाता है जो कि सोम, सूर्य और अग्नि का बीजभूत है।

प्राज्ञ, तैजस्, विश्व और विराट् पुरुष, ईश्वर के व्यापार से पार्थिव-अण्ड में चार प्रकार के जीवों की शरीरोत्पत्ति को बताकर शारदातनय ने कुण्डलिनी शक्ति तथा २२ नाड़ी एवं २२ श्रुतियों का उल्लेख किया है जो व्याप्त स्वरों की उत्पत्ति का कारण बनती हैं।

(च) संगीत वर्णन प्रसंग में स्वरोत्पत्ति विषयक नाडिज तथा धातुज दो सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। प्रथम मत के अनुसार २२ श्रुतियों के साथ सप्त स्वरों कि उत्पत्ति २२ नाड़ियों से होती है। इस प्रथम मान्यता की पुष्टि संगीत मकरन्द 'तथा' संगीत रत्नाकर आदि ग्रन्थों ने भी की है, किन्तु द्वितीय धातुज सिद्धान्त की पुष्टि के लिये अद्यावधि अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ। इस द्वितीय मान्यता के अनुसार त्वगादि सप्त-धातु ही (भावप्रकाशन पृ०१८६ पं० ८) नाभिस्थ स्थान से प्रारम्भ होने वाली २२ धमनियों से सम्बद्ध हैं और सप्त-स्वरों के मूल हैं। शारदातनय ने अपने इस नवीन सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कहा है कि जब प्राण आदि पाँच वायु मन से नियन्त्रित होकर नाड़ियों द्वारा धातुओं में अग्नि को उद्दीप्त करते हैं तब धातु तथा अग्नि के उक्त संयोग से नाद की उत्पत्ति होती। यही नाद स्वरों के नाम से जाना जाता है और इन स्वरों की विभिन्न संख्या का आधार भी धातु एवं धमनियाँ ही हैं।

(छ) प्रत्येक नाटक के आदि में प्राप्त होने वाली 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' की उक्ति के सम्बन्ध में प्रचलित विवाद का सामञ्जस्य तत्पुरुष समास एवं बहुव्रीहि समास के

माध्यम से जैसा शारदातनय ने किया है वैसा अन्यत्र किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। कुछ नाटकों में उक्त वाक्य नान्दी श्लोक के पूर्व प्राप्त होता है और कुछ नाटकों में नान्दी के अनन्तर सूत्रधार द्वारा पढ़ा जाता है। कालिदास आदि कवियों के नाटक प्रथम सिद्धान्त की और भास आदि की रचनाएँ द्वितीय सिद्धान्त की पुष्टि करती हैं।

(ज) उपरूपकों की बीस संख्या का क्रमबद्ध वर्णन केवल 'भावप्रकाशन' में ही दृष्टिगोचर होता है। इन उपरूपकों की उपयोगिता का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि इनका मुख्य लक्ष्य उपयुक्त अङ्ग-विन्यास के माध्यम से भावों की अभिव्यक्ति है और इसीलिये इन्हें नृत्य भी कहा गया है। नाट्यशास्त्र में उपरूपकों की चर्चा न होने के कारण इनके उद्भव के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा गया है। परम्परा प्राप्त स्रोतों से इतना ही ज्ञात होता है कि कोहल, हर्ष, धनिक एवं अभिनवगुप्त आदि ने इन उपरूपकों की यथास्थान अपनी रचनाओं में चर्चा की और यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उपरूपक लास्य एवं ताण्डव के ही प्रकार हैं। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं का समादर करते हुए शारदातनय ने उपरूपकों की सब से बड़ी नामावलि प्रस्तुत की है जो बीस-बीस नामों की गणना (भावप्रकाशन पृष्ठ २११ तथा पृष्ठ २५५) के रूप में दुहरायी गयी है। उपरूपकों की इन दो सूचियों में प्रथमसूची में 'सट्टक' को स्वतन्त्र स्थान दिया गया है और 'भाण' का उल्लेख नहीं किया, किन्तु द्वितीयसूची में भाण का उपरूपकों के रूप में उल्लेख किया गया है और सट्टक को 'नाटिका' में ही गतार्थ कर दिया गया है।

(झ) शारदातनय ने ६४ जनपदों, अनेक भाषाओं एवं उपभाषाओं के विषय में अत्यन्त ही सुरुचि-पूर्ण परिचय दिया है। यहाँ किया गया भौगोलिक स्थितियों का चित्रण भी अत्यन्त रोचक है, जिसमें शरदातनय ने भारतवर्ष की लम्बाई एवं चौड़ाई को क्रमशः ९ हजार तथा ७ हजार योजन (भावप्रकाशन पृष्ठ ३०९ में) बताया है। ग्रन्थकार ने सम्पूर्ण भारतवर्ष के चतुर्थ भाग को दक्षिणपथ कहा है जिसमें उस समय ६४ जनपद थे और इसमें १८ लोक भाषाएं प्रचलित थीं जो म्लेच्छ भाषाएँ मानी जाती थीं। इसके अतिरिक्त नाटकों में प्रयुक्त होने वाली ६ भाषाओं का तथा निम्न वर्ग के साथ समाजों की गणना की है जिनका अभिनय नाटक के दो अङ्कों के मध्य में दर्शकों के मनोरंजनार्थ होता था।

(न) ग्रन्थकार ने अपनी रचना के अन्तिम भाग में अभिनेताओं के ज्ञानवर्द्धन हेतु विभिन्न भागों में निवास करने वाले लोगों के आचार, व्यवहार, रहन-सहन पर प्रकाश डाला है। इस वर्णन ज्ञान की सहायता से किया गया अभिनय, नृत्य एवं संगीत निःसन्देह तत्-तत् देश वासियों के लिये लाभप्रद होता है, इसी उद्देश्य से प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ में यह प्रयास किया गया है। आचार्य पथ का अनुसरण करते हुए

शारदातनय ने नाटक, संगीत, नृत्यादि के वर्णन के पश्चात् तत्कालीन राजाओं को भी नाट्यशास्त्र की ओर रुचि लेने का उपदेश दिया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की उपादेयता

नाट्यशास्त्र की परम्परा में 'भावप्रकाशन' ग्रन्थ रस और नाट्य के सम्बन्ध में परिपुष्ट सामग्री का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें न केवल नाट्य की चर्चा है, अपितु अलङ्कार एवं ध्वनिशास्त्रीय आलोचना के साथ ही साथ समन्वयात्मक दृष्टि से भावशास्त्रीय विश्लेषण उपस्थापित किया गया है।

शारदातनय की दार्शनिक पृष्ठभूमि का आधार काश्मीरीय प्रत्यभिज्ञा-दर्शन तथा आचार्य अभिनवगुप्त की व्याख्याएँ हैं। आज यद्यपि रस सिद्धान्त की बहुविध चर्चा नये आलोक में हो रही है, परन्तु अभिनवगुप्त के सिद्धान्त की रेखा के आधार पर की गयी भावप्रकाशन की प्रगति के आगे किसी की गति लक्षित नहीं होती।

शारदातनय के गुरु दिवाकर स्वयं नाट्यशास्त्र के वेत्ता तथा नाट्यमण्डप के निर्माता थे। अपने आचार्य के माध्यम से प्रयोगज्ञान का पूर्ण अनुभव रखने वाले शारदातनय की इस कृति का महत्त्व स्वाभाविक है। 'शृङ्गार-प्रकाश' का पर्याप्त प्रभाव 'भावप्रकाशन' में दृष्टिगोचर होता है जिसके फलस्वरूप शारदातनय ने सर्वत्र कला को प्रधानता देते हुए शास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रायोगिक रूप सफलता के साथ प्रतिपादित किया है। सूक्ष्म विचारों के ताने-बाने के परिप्रेक्ष में अभिनय के माध्यम से ही रसाविर्भाव होता है इसकी झलक यहाँ स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

शारदातनय की प्रस्तुत रचना में 'नाट्यशास्त्र' दशरूपक 'शृङ्गारप्रकाश', 'अभिनवभारती' एवं 'काव्यप्रकाश' की सामग्री नये सिरे से संजोयी गयी है। साहित्य के अध्येताओं को 'नाट्यरसाः' इस वाक्य की ठीक व्याख्या के ज्ञान हेतु शारदातनय की इस कृति का विश्लेषणात्मक एवं समन्वयात्मक अध्ययन उपयोगी होगा इसी विचार से इस मार्ग में यह प्रयास किया गया है।

●

परिशिष्ट

(क) भावप्रकाशन में वर्णित प्रमुख आचार्य

(ख) भावप्रकाशन में उद्धृत ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार

(ग) भावप्रकाशन में उल्लिखित जनपदों की सूची

(घ) अनुशीलित-ग्रन्थ नामावली

(ङ) पारिभाषिक-शब्दकोश

(क) भावप्रकाशन में वर्णित प्रमुख आचार्य

आचार्य	ग्रन्थ-नाम	समय
भरत	नाट्यशास्त्र	ई० पू० पहली शती
दण्डी	काव्यादर्श	ई० पाँचवीं-छठी शती का मध्य
भामह	काव्यालंकार	ई० सातवीं शती
उद्भट्ट	काव्यालंकार सारसंग्रह	ई० आठवीं शती
वामन	काव्यालंकार सूत्र	ई० आठवीं शती
आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक	ई० नवीं शती
रुद्रट या रुद्रभट्ट	काव्यालंकार, शृङ्गारतिलक (रुद्रभट्ट और रुद्रट को एक ही माना गया है।)	ई० नवीं शती से पूर्व
भट्टनायक	भरत के रस सूत्र के प्रमुख व्याख्याकार। रस ही काव्य की आत्मा है, इसके प्रबल समर्थक।	दसवीं शती
अभिनवगुप्त	ध्वन्यालोक की लोचन टीका	ई० दसवीं शती का उत्तरार्द्ध
धनञ्जय	दशरूपक, काव्यनिर्णय	ई० दसवीं शती का उत्तरार्द्ध
कुन्तक	वक्रोक्ति जीवितम्	ई० ग्यारहवीं शती का प्रारम्भ
महिम भट्ट	व्यक्तिविवेक	ई० ग्यारहवीं शती का प्रारम्भ
भोज	शृङ्गारप्रकाश, सरस्वती-कण्ठाभरण	
,,		ई० ग्यारहवीं शती का पूर्वार्द्ध
क्षेमेन्द्र	औचित्यविचार चर्चा	ई० बारहवीं शती का उत्तरार्द्ध
प्रतिहार	काव्यालंकार के टीकाकार	

●

(ख) भावप्रकाशन में उद्धृत ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
महाभारत	वेदव्यास
वाल्मीकिरामायण	वाल्मीकि
रघुवंश	कालिदास
कुमारसम्भव	कालिदास
मेघदूत	कालिदास
विक्रमोर्वशीय	कालिदास
मालविकाग्निमित्रम्	कालिदास
अभिज्ञानशाकुन्तल	कालिदास
उत्तररामचरित	भवभूति
मालतीमाधव	भवभूति
महावीरचरित	भवभूति
अनर्घराघव	मुरारि कवि
औचित्यचर्चा	भट्टप्रभाकर
कादम्बरी	बाणभट्ट
काव्यालंकार	वामन
किरातार्जुनीयम्	भारवि
गाथासप्तशती	सप्तवाहन
जातकमाला	आर्यसूरि
बृहत्कथामंजरी	क्षेमेन्द्र
भोजप्रबन्ध	बल्लालसेन
मुद्राराक्षस	विशाखदत्त
रत्नावली	हर्षदेव
वेणीसंहार	नारायणभट्ट
शार्ङ्गरपद्धति	शार्ङ्गधर
शृङ्गारतिलक	रुद्रट

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
शृङ्गारप्रकाश	भोज
सरस्वतीकण्ठाभरण	भोज
सूर्यशतक	मयूरभट्ट
हेमचन्द्रकाव्य पद्धति	हेमचन्द्र

●

'भावप्रकाशन' में उल्लिखित ग्रन्थ

अब्धिमन्थन, अमृतमन्थन, अश्वत्थामाङ्क, इन्दुलेखा, उदात्तकुञ्जरम्, कल्पलता, कुन्दमाला, कुसुमशेखर, कृत्यारावणम्, केलिरैवतम्, गङ्गातरङ्गिका, गङ्गाभगीरथम्, गान्धर्वनिर्णय:, गौडविजय, तरङ्गदत्ता, तारकोद्धरणम्, त्रिपुरदाह, त्रिपुरमर्दनम्, देवीपरिणय, देवीमहादेवम्, नन्दिमालि, नलविक्रमम्, नृसिंहविजय, पद्मावतीपरिणय, पाण्डवानन्द, प्रियदर्शिका, बालरामायण, महानाटक, मारीचवञ्चितम्, मेनकानहुषम्, रामाभ्युदय, वालिवध ।

●

(ग) 'भावप्रकाशन' में उल्लिखित जनपदों की सूची

अंग—वर्तमान भागलपुर से मुंगेर तक का भूभाग जिसकी राजधानी चम्पापुरी थी।

अनूप—नर्मदा नदी का वह तट प्रदेश जहाँ हैहयों का राज्य था।

अवन्ती—वर्तमान मालवा जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी।

आन्ध्र—वर्तमान तैलंगाना का भू भाग इसके अन्तर्गत था।

आरट्ट—पंजाब का वह भू-भाग जिसमें शिमला और कालका हैं।

औढ़—वर्तमान उड़ीसा प्रान्त।

ककरा—कुरु प्रदेश ही ककरा था।

कलिंग—वर्तमान पुरी और गंजाम के आधुनिक भाग और समीपवर्ती क्षेत्र।

कर्णाट—वर्तमान कर्णाटक प्रान्त।

कारुष—तेउर और जबलपुर का भाग।

कारुष—सम्भवतः कारुष (करुष वन) का ही एक भाग रहा होगा।

काजान—वर्तमान कजकिस्तान का भू-भाग।

कामरूप—वर्तमान असम या आसाम प्रान्त जिसको प्राग्ज्योतिष कहा गया है।

काम्बोज—हिन्दूकुश पर्वत का उत्तर-पूर्व भू-भाग।

काशी—आधुनिक वाराणसी का भू-भाग।

काश्मीर—वर्तमान कश्मीर प्रान्त।

किरात—करतारपुर से नेपाल तक का भाग एवं पर्वतीय जातियों का निवासस्थान।

कुरव (उत्तर कुरु)—हिमालय का उत्तरभाग।

कुरु (कुरुक्षेत्र)—पंजाब में थानेश्वर का दक्षिणी भाग।

कैकय—पंजाब का वह भू-भाग जो व्यास और सतलज नदियों के बीच में है। भरत की माता कैकेयी यहीं की थी।

केकाण—सम्भवतः कोंकण का ही यह एक भाग है, जिसे लघुकोंकण कहा गया है।

केरल—वर्तमान दक्षिणभारत का प्रसिद्ध प्रान्त जो मालावार के तट पर स्थित है।

कोंकण—पश्चिमी घाट और अरब-सागर का मध्यभाग। इसके दो भाग थे—कोंकण और लघुकोंकण।

कोसल—अवध राज्य का दक्षिणी भाग, जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी।

क्रथकैशिक—वर्तमान विदर्भ का भू-भाग।

गुर्जर—मारवाड़ का दक्षिणी भाग।

गौड़—बंगालप्रान्त का उत्तरी भाग जो इस समय बंगलादेश में है।

चक्र (चक्रवर्ती क्षेत्र)—कन्याकुमारी से उत्तर में हिमालय तक का भाग।

चोल (चोड)—वर्तमान मद्रास के तंजपुर और तिरुचिरपल्ली इसके अन्तर्गत थे।

जैन—सम्भवतः उज्जैन तथा उसके समीपवर्ती भू-भाग इसमें रहे हों।

दशार्ण—वर्तमान मध्यप्रदेश के भूपाल से १३ मील उत्तर-पूर्व में बेतवा नदी के तट पर स्थित भिलसा का भू-प्रदेश।

मगन— वर्तमान तमिल प्रान्त।

नेपाल - भारत के उत्तर-पूर्व में स्थित स्वतन्त्र हिन्दू राष्ट्र।

पल्लव —दक्षिण का प्रसिद्ध राज्य, जिसकी राजधानी काञ्ची थी।

पाण्ड्य—दक्षिण का जनपद। आधुनिक मदुरा और तिनेवेल्ली इसी के अंग थे।

पंचाल— मध्यदेश का नाम वर्तमान फतेहगढ़, कानपुर, बरेली आदि इसी के अन्तर्गत थे।

पामर—वर्तमान पामीर पर्वत का भू-भाग।

पारसीक—फारस देश का भू-भाग।

पर्वतीय —पूर्व दिशा के पर्वतीय क्षेत्र।

बंगाल बंगाल प्रान्त।

मंकण (मांकण) पार्वती नदी के पास कुल्लूघाटी प्रदेश।

मरु—वर्तमान राजस्थान।

महाराष्ट्र—वर्तमान महाराष्ट्र प्रान्त।

मागध—सम्भवत: मगध का ही एक भाग रहा होगा।

म्लेच्छ—तुरकों द्वारा स्थापित प्रदेश जो पंचनद में था।

मैथिल—बिहार के मधुवनी एवं चम्पारन इसके अन्तर्गत थे।

यदु – प्रयाग का दक्षिण प्रदेश।

यवन—वर्तमान मुलतान (पाकिस्तान) का भू-भाग।

लाट—वर्तमान भड़ौच, बड़ौदा, अहमदाबाद आदि भाग इसके अन्तर्गत थे।

वंग—वर्तमान बंगलादेश के चटगाँव और ढाका इसी में थे।

वर्ध्रक—उत्तर भारत के वनायु प्रदेश का भाग।

वाह्लीक—कम्बोज और लम्पाक के समीपवर्ती भाग।

विदर्भ—वर्तमान बरार का भू-भाग।

शक - भारत के उत्तर-पश्चिम में स्थित था। वर्तमान स्यालकोट इसी का अंग था।

शूरसेन—वर्तमान मथुरा का भू-प्रदेश।

सिन्धु—वर्तमान सिन्ध प्रान्त।

सिंहल—यह लंकाद्वीप ही है। लंका, ताम्रपर्णी एवं मलयाचल इसके अंग थे।

सुह्म --पश्चिमी बंगला का भू-भाग। इसमें वर्तमान मिदनापुर, हुगुली और वर्दमान सम्मिलित थे।

सौवीर—सिन्ध का निचला भाग। वर्तमान रोड़ी इसकी राजधानी थी।

सौराष्ट्र —काठियावाड़ तथा गुजरात के कुछ भाग।

हिम्मीर—सम्भवत: उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध हमीर के भाग इसमें रहे हों।

हूण—सिन्धु नदी को पारकर पंजाब का भू-भाग।

हैमन—सम्भवत: हेमकूट पर्वत का भू-भाग इसमें रहा हो।

नोट—कोंकण-कंकण, यवन-म्लेच्छ, मगध-मागध, कारुष-कारुस शब्दों की आवृत्ति हुई है ऐसा प्रतीत होता है।

(घ) अनुशीलित-ग्रन्थ-नामावली

ग्रन्थ	ग्रन्थकार	प्रकाशन एवं स्थान	संस्करण	वर्ष
अग्निपुराण	वेदव्यास	आनन्दाश्रम, पूना	प्रथम	१९००
अनर्घराघव	मुरारि कवि	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	प्रथम	१९३७
अभिज्ञानशाकुन्तल	कालिदास	मास्टर खेलाड़ीलाल, काशी	द्वितीय	१९५७
अभिनवगुप्त	कान्तिचन्द्र पाण्डेय	चौखम्बा सं० सी०, वाराणसी	प्रथम	१९६८
अभिनव नाटयशास्त्र	पं० सीतारामचतुर्वेदी	किताब महल, इलाहाबाद	द्वितीय	१९६४
अभिनव भारती	अभिनवगुप्त	ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट	द्वितीय	१९१६
अलंकार-कौस्तुभ	कविकर्णपुर	वीरेन्द्र रिसर्च सोसायटी, राजशाही (बंगाल)	प्रथम	१९२६
अवलोक (दशरूपकटीका)	—	निर्णयसागरप्रेस, बम्बई	चतुर्थ	१९२८
अष्टांग-हृदय	वाग्भट	लक्ष्मीस्कूल बुकडिपो, मथुरा	—	१९४०
(दि) इण्डियन थियेटर	डॉ० ए० बी० कीथ	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	प्रथम	१९१३
उत्तररामचरित	भवभूति	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	प्रथम	१९६३
औचित्यविचारचर्चा	क्षेमेन्द्र	चौ० सं० सी०, काशी	प्रथम	१९६४
कविकण्ठाभरण	क्षेमेन्द्र	चौ० सं० सी०, काशी	प्रथम	१९३३
कादम्बरी	बाण	निर्णयसार प्रेस, बम्बई	प्रथम	१९४०
कामसूत्र	वात्स्यायन	चौ० सं० सी०, काशी	प्रथम	१९६४
कालिदासग्रन्थावली	सीताराम चतुर्वेदी	अखिलभारतीय विक्रम-परिषद्, काशी	द्वितीय	२००७वि
काव्यप्रकाश	मम्मट	ज्ञानमण्डल लिमिटेड, काशी	प्रथम	१९६०
काव्यप्रदीप	गोविन्द ठाकुर	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	प्रथम	१९९१वि
काव्यमीमांसा	राजशेखर	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	तृतीय	१९३४
काव्यसमीक्षा	डॉ० विक्रमादित्यराय	भारतीयविद्या प्रकाशन, काशी	प्रथम	१९६७
काव्यादर्श	दण्डी	पशुपत प्रेस, कलकत्ता	द्वितीय	१९११
काव्यालंकार	भामह	बिहार राष्ट्रभाषा, पटना	प्रथम	१९६२
काव्यालंकार	रुद्रट	वासुदेवप्रकाशन, दिल्ली	प्रथम	१९६५
काव्यालंकार सारसंग्रह	उद्भट	आर्यभूषण प्रेस, पूना	प्रथम	१९३२
काव्यालंकारसूत्रवृत्ति	वामन	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली	प्रथम	१९५५
किरातार्जुनीयम्	भारवि	विद्याविलास प्रेस, वाराणसी	प्रथम	१९१६
कुमारसम्भव	कालिदास	विद्याविलास प्रेस, वाराणसी	प्रथम	१९२३
कुवलयानन्द	अप्पयदीक्षित	क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई	प्रथम	१९५२वि
गाथासप्तसती	सातवाहन	प्रसाद प्रकाशन, पूना	प्रथम	१९५६

ग्रन्थ	ग्रन्थकार	प्रकाशन एवं स्थान	संस्करण	वर्ष
वेणीसंहार	नारायण भट्ट	रामनारायणलाल, इलाहाबाद	प्रथम	१९६५
शान्तरस एक विवेचन	परशुराम चतुर्वेदी	भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी	प्रथम	१९६८
शृङ्गारतिलक	रुद्रट	प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी	प्रथम	१९६८
शृङ्गारप्रकाश	भोज	गोमठरामानुज ज्योतिषी मैसूर	प्रथम	१९५५
संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास	पी० वी० काणे	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली	प्रथम	१९६६
संस्कृत साहित्य का इतिहास	ए० बी० कीथ	मोतीलालबनारसीदास काशी	प्रथम	
संगीतरत्नाकर	शार्ङ्गदेव	अड्यार लाइब्रेरी, अड्यार	प्रथम	१९४३
संगीतशास्त्र	वासुदेव शास्त्री	प्रकाशन विभाग, लखनऊ	प्रथम	१९५८
सरस्वती कण्ठाभरण	भोज	मेडिकल हाल, काशी	प्रथम	१९४३
साहित्यदर्पण	विश्वनाथ	मोतीलालबनारसीदास, दिल्ली	चतुर्थ	१९६१
साहित्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोष	राजेन्द्र द्विवेदी	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली	प्रथम	१९५५
सूर्यशतक	मयूर भट्ट	सरस्वती प्रेस, कलकत्ता	प्रथम	१९५४

अंग्रेजी ग्रन्थ

ग्रन्थ	ग्रन्थकार	प्रकाशन एवं स्थान	संस्करण	वर्ष
एट उपनिषदाज	अनु०—स्वामी गम्भीरानन्द	भारतभारती, काशी	द्वितीय	१९६५
एन्शियन्ट ज्याग्राफी आफ एशिया	एन० सी० दास	,, ,,	प्रथम	१९७१
एसपैक्ट ऑफ संस्कृत लिटरेचर	डॉ० एस० के० डे० मुखोपाध्याय	कलकत्ता		१९५८
ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर	एस० एन० दास गुप्ता एण्ड एस० के० डे०	कलकत्ता		१९४७
ज्योग्राफीकल कान्सेप्ट्स इन एनशियन्ट इण्डिया	बेचन दूबे	नेशनलज्योग्राफिकल सोसाइटी आफ इण्डिया बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी	प्रथम	१९६७
दि एन्शियट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया	ए० कनिंघम	इण्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी		१९६३
दि ज्योग्राफी ऑफ दि पुराणाज	एस० एम० अली०	पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली	प्रथम	१९६६
दि संस्कृत ड्रामा	ए० बी० कीथ	ऑक्सफोर्ड	प्रथम	१०२४
दि हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर	श्रीकृष्णमाचारी	मद्रास	प्रथम	१९३५
नम्बर ऑव रसाज	डा० राघवन्	अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास	प्रथम	१९४०

अप्रकाशित ग्रन्थ

ग्रन्थ	क्रमसंख्या	ग्रन्थकार	स्थान
तालविचार	४५५२०	(अपूर्णग्रन्थ)	सरस्वतीभवन (हस्तलिखित विभाग) वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी।
नर्तननिर्णय	४५५१९	पुण्डरीकविठ्ठल	,,
नाटयप्रदीप	४५६१८	सुन्दरमिश्र	,,
नाटयालोचन	४२९३६	त्रिलोचनादित्य	,,
षड्रागवर्णन	४५५०६	नारद	,,
संगीतदर्पण	४५५१३	दामोदर	,,
संगीतरत्नाकर	४५५०७	शार्ङ्गदेव	,,

कोश-ग्रन्थ

ग्रन्थ	ग्रन्थकार	प्रकाशन एवं स्थान	संस्करण	वर्ष
अमरकोश	अमरसिंह	भार्गव पुस्तकालय, काशी	प्रथम	१९३५
पद्मचन्द्र कोश	म० म० पं० गणेश-चन्द्रशास्त्री	मेहरचन्दलक्ष्मणदास, लाहौर	प्रथम	१९२५
मेदिनीकोश	श्रीमेदिनीकार	चौखम्बा सं० सी०, काशी	तृतीय	१९४०
वाचस्पत्यम्	तर्कवाचस्पति श्रीतारा-नाथ भट्टाचार्य	ज्यौतिष सं० सीरीज, वाराणसी	तृतीय	
शब्दकल्पद्रुम	राजा राधाकान्त देवै	चौ० सं० सी०, वाराणसी	तृतीय	२०२४वि
संस्कृत हिन्दी कोश	वामन श्रीराम आप्टे	चौ० सं० सीरीज, वाराणसी	प्रथम	१९६६

●

(ङ) पारिभाषिक–शब्दकोश

(अ)

अगूढ—गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेदों में एक, जहाँ व्यंग्यार्थ अभिधेयार्थ की तरह स्पष्ट होता है।

अङ्क—(१) रूपक के दस भेदों में एक, (२) नाटक का प्रमुख विभाग, (३) काव्य-विच्छेद एक भेद।

अङ्कास्य (अङ्कमुख)—सूच्य कथावस्तु के पाँच अर्थोपक्षेपकों में एक।

अङ्कावतार—सूच्य कथावस्तु के अर्थोपक्षेपकों (साधनों) में एक।

अङ्ग—(१) शरीर का अवयव (२) सम्बोधक अव्यय, जिसका अर्थ 'श्रीमान्' है।

अतिजगती—तेरह वर्णों वाले एक वर्णिक छन्द का नाम।

अतिदेश—बारह वागारम्भानुभावों में एक, जिसमें दूसरे की उक्ति को अपनी उक्ति बताया जाता है।

अतिहसित—हास्यरस के छः भेदों में एक।

अत्युद्धत—ताण्डव के तीन भेदों में एक।

अद्भुत—रसों के आठ भेदों में एक, जिसका अर्थ (अनोखा है)।

अद्भुताभास—अद्भुत रस का अनौचित्य वर्णन।

अधम (काव्य)—(१) निम्न कोटि का काव्य (२) गुणीभूत व्यंग्य का एक भेद।

अध्यात्म—इति और प्रतीति के सात भेदों में एक का नाम।

अनुचारिका—अन्तःपुरचारिणी सेविका।

अनुताल—तालभेद।

अनुनाद—ध्वनि के दो भेदों में एक।

अनुभाव—भाव के पाँच भेदों में एक।

अनुलाप—वागारम्भानुभावों के बारह भेदों में एक।

अन्तःपुरिका—रनवास

अपकृष्टक—मान पंचक में एक भेद।

अपत्रपा—व्यभिचारीभाव भेद।

अपदेश—वागारम्भानुभावों का एक नाम भेद।

अपस्मृति—व्यभिचारीभावों में एक नाम।

अपलाप—वागारम्भानुभावों का एक भेद।

अपहसित—हास्यरस के भेदों में एक।

अभिधा—शब्द-शक्तियों में एक भेद, जिसमें मुख्यार्थ प्रधान होता है।

अभिनय—हाव-भाव प्रदर्शन। इसके वाचिक, आङ्गिक, आहार्य और सात्त्विक भेद होते हैं।

अभियोग—रीति और प्रीति के भेदों में एक।

अभिमान—रीति और प्रीति के भेदों में एक ।

अभिसारिका—नायिका के अवस्थागत आठ भेदों में एक ।

अभ्यागार—नाटक का एक मूक पात्र ।

आयोग—शृङ्गाररस के तीन भेदों में एक ।

अर्थप्रकृति—नाटक में अर्थ की प्रकृति, जिसके बीज, बिन्दु आदि पाँच भेद होते हैं ।

अर्थान्तरसंक्रमित—व्यञ्जनावृत्ति का एक भेद, लक्षणामूलध्वनि का एक भेद ।

अर्थापत्ति—३६ भूषणों में एक ।

अलक्ष्यक्रम (व्यंग्य)—ध्वनिवृत्ति का एक भेद, इसमें पूर्वापर का क्रम दृष्टिगोचर नहीं होता ।

अलंकार—नाटक और काव्य में वर्णित विषय की बाहरी शोभा बढ़ाने वाले तत्व ।

अवतरण—पूर्वरंग के २२ अङ्गों में एक, जिसमें गायकों का प्रवेश होता है ।

अवमर्ष—व्यभिचारीभाव भेदों में एक ।

अवगलित—नाटक की प्रस्तावना का एक भेद ।

अवहित्थ—व्यभिचारीभाव के भेदों में एक ।

अविवक्षितवाच्य—ध्वनिवृत्ति का भेद ।

अश्राव्य—नाटक में संवाद का एक भेद, जो अन्य लोगों के सुनने योग्य नहीं होता ।

अश्रु—(१) सात्त्विकभावों में एक (२) नेत्रों से उत्पन्न जल ।

असत्प्रलाप—असम्बद्ध कथालाप ।

असूया—व्यभिचारीभावों में एक भाव ।

अहङ्कार—३६ तत्त्वों में अशुद्ध तत्त्वों का एक भेद ।

(आ)

आकाशभाषित—(१) दृश्य (श्रव्य) कथावस्तु का भेद (२) नाटक में प्रयुक्त होने वाला संवाद विशेष ।

आक्रोश—मिथ्या दोषारोपण द्वारा प्रकट किया क्रोध ।

आक्षेप—असूयादि द्वारा किया गया दोषारोपण ।

आख्यायिका—देवता और मर्त्य लोगों के युगपद् वर्ण्य कथा का नाम ।

आङ्गिक—अभिनय के चार प्रकारों में एक प्रकार ।

आतोद्यरञ्जन—एक प्रकार का वाद्य, जो दण्ड आदि द्वारा बजाया जाता है ।

आधिकारिक—कथानक का प्रमुख भाग ।

आभिरूप्य—अपनी उत्कृष्टता से अन्य पदार्थ को अपने जैसा बना लेना ।

आभ्यासिकी—प्रीति नामक रीति भेद को अभ्यासिकी कहा जाता है ।

आमुख—नटी, विदूषक या पारिपार्श्विक, सूत्रधार से ऐसी बात करते हैं, जिससे नाटक की कथा सूचित होती है ।

आयामभेद—गति आदि का भेद ।

आयुक्तिका—सेविका जो अन्तःपुर में काम करती है ।

आरभटी—बुद्धचारम्भानुभाव की वृत्ति का भेद ।

आर्य—नाटक में विद्वान् ब्राह्मण और गुरु को पुकारने का नाम ।

आर्यावर्त—भारतवर्ष ।

आलाप—वागारम्भानुभावों के द्वादश भेदों में एक ।

आवन्त्या—बुद्धयारम्भानुभाव के प्रवृत्ति भेदों में एक ।

आवेग—व्यभिचारीभावों में एक नाम ।

आशंसन—दम्पति में प्रार्थनापूर्वक सम्पर्क का कथन ।

आशी—(१) अभीष्टार्थ का सम्बर्द्धन (२) नाटकाश्रय ६४ अलंकारों में एक ।

आश्लेष—गति के आठ भेदों में एक ।

आश्वास—काव्यविच्छेद भेदों में एक।

आश्वासबन्ध—प्राकृत भाषा में रचित महाकाव्यों के सर्ग का नाम ।

आहार्य—अभिनय के चार भेदों में एक नाम ।

इच्छा—मन के स्पन्दन की एकाग्रता ।

(इ)

इडा—शिरजालधरा नामक तीन शिराओं में एक ।

इतिवृत्त—इतिहास प्रसिद्ध घटना ।

इन्द्रजाल—मन्त्रादि के प्रभाव से अपरोक्ष के परोक्षवत् दिखाना ।

(ई)

ईश्वर—३६ तत्त्वों में शुद्धतत्त्व का एक भेद ।

ईहामृग—दस रूपकों में एक भेद ।

(उ)

उक्ति—वास्तविकता का प्रतिपादन ।

उच्चण्ड—ताण्डव भेदों में एक भेद ।

उच्छ्वास—काव्यविच्छेद के भेदों में एक ।

उत्कण्ठा—सुखप्राप्ति की उत्कृष्ट अभिलाषा ।

उत्तमोत्तमक—लास्य नृत्य का एक भेद ।

उत्ताल—तालभेद ।

उत्थापक—वाक् एवं अंगादि द्वारा नान्दी पाठ के समय ज्ञान कराने वाला ।

उत्सृष्टिकांक—रूपक के दस भेदों में एक ।

उदान—शरीर में स्थित पाँच वायु भेदों में कण्ठ में रहने वाली वायु ।

उदाहरण—३६ भूषणों में एक नाम ।

उद्घात्य—वीथी रूपक के १३ अंगों में एक, जिसमें प्रश्नोत्तरमय वार्तालाप होता है ।

उद्दिष्ट—(१) परोक्ष तथा अपरोक्ष रूप में अर्थ निर्देश, (२) नाटकाश्रयभूत ६४ अलंकारों में एक ।

उद्धत—(१) २७ अलंकारों में एक, (२) ताण्डव भेदों में एक ।

उपक्षेप—मुख सन्धि के १२ भेदों में एक ।

उपगूहन—(१) निर्वहण सन्धि के १४ भेदों में एक, (२) अद्भुत की प्राप्ति।

उपचार—अत्यादर।

उपदिष्ट—३६ भूषणों में एक।

उपनायक—सहायक (उपनेता)।

उपन्यास—प्रतिमुख सन्धि के १३ भेदों में एक।

उपपत्ति—नाटक के ६४ अलंकारों में एक, अपनी बुद्धि से अर्थ में योग्यता लाना।

उपमा—रीति और प्रीति के भेदों में एक।

उपहसित—हास्य रस के भेदों में एक।

उपादान लक्षणा—लक्षणावृत्ति के भेदों में एक।

उपाधि—शब्द का स्वाभाविक संकेत ग्राहक, इसके दो भेद हैं—सिद्ध, साध्य।

उरस्तारम्—मार्ग गमकों में से एक भेद।

उल्लासि—६४ भावाश्रित तथा रसाश्रितों में एक।

उल्लोप्यक—बीस उपरूकों में एक।

(ऋ)

ऋषभ—संगीत के सात स्वरों में एक।

(ए)

एकार्थीभाव—शब्दार्थ-सम्बन्ध के १२ भेदों में एक।

(ओ)

ओज—(१) ओज नामक गुण, (२) २१ सन्ध्यन्तरों में एक भेद।

ओताकार—वाद्य विशेष।

(औ)

औद्रमागधी—प्रवृत्ति भेद का एक नाम।

औवस्थाविक—अन्तःपुरचारी एक सेवक, जिसका पेट बड़ा होता है।

(क)

कञ्चुकी—अन्तःपुरचारी एक सेवक, जिसके सिर पर पगड़ी तथा हाथ में दण्ड रहता है।

कटाक्ष—नेत्र प्रान्तों में दृष्टिपात।

कथोद्घात—प्रस्तावना का एक भेद, जहाँ सूत्रधार के वाक्य या वाक्यार्थ को लेकर किसी पात्र का प्रवेश होता है।

कन्द—९६ अंगुलियों के शरीर का मध्य भाग।

कपट—प्रवञ्चना।

करुणाभास—करुणरस का अनौचित्य वर्णन।

कल—२७ अलंकारों में एक।

कला—३६ तत्त्वों में शुद्ध-अशुद्ध तत्त्वों का एक भेद।

कलापक—शृङ्खलित पद्यमय वर्णन जो चार श्लोकों द्वारा किसी एक बात का प्रतिपादन करता है।

कल्पवल्ली—बीस उपरूपकों में एक।

काकु—(१) आर्थी व्यञ्जना के १० भेदों में एक, (२) काक्वादिव्यंग्या का एक भेद।

कान्दिशीक—जिसमें व्यक्ति की दिशा बदल जाये उसे 'कान्दिशीक' कहा गया है।

काम—स्त्री पुरुष का सुख।

कारु—शिल्पी—जिसकी अधम पात्रों में गणना की गयी है।

काव्य—उपरूपकों में एक भेद।

किरात—अन्तःपुरचारी सेवक।

किलिकिञ्चित—गात्रारम्भानुभावों में स्त्रियों का एक नाम।

कुञ्चित—२२ मार्ग गमकों में एक।

कुट्टमित—गात्रारम्भानुभावों में स्त्री पात्र का एक नाम।

कुट्टिणी—स्त्री पात्र दूती।

कुतप—मुरजादि वाद्य भाण्डों का संग्रह।

कुतुक—सौख्य।

कुशीलव—नाटक की विभिन्न भूमिकाओं में स्वाभाविक रूप से सन्धान करने वाला पात्र।

केलि—प्रिय के साथ नायिका की क्रीड़ा।

कैशिकी—वृत्ति का एक भेद।

कोरकित—२७ अलंकारों में एक।

कोश—अनेक प्रकार के प्रसंगों में निबद्ध रचना।

कौतुक—अननुभूत पदार्थ की अभिलाषा।

कौशल—कार्य में सुखपूर्वक प्रयोग।

क्रम—गर्भसन्धि के १२ भेदों में एक।

क्रिया—संकेत के चार प्रकारों में एक प्रकार।

क्रीड़ित—शैशावस्था में किया गया क्रीड़न, स्त्रियों के २० गात्रारम्भानुभावों में एक।

क्रोध—(१) रति भेदों में एक, (२) रौद्ररस का स्थायीभाव।

क्षण—दुःख को क्षीण करने वाला।

क्षमा—अनर्थ को दबाना।

क्षेत्रज्ञ—आत्मा।

(ख)

खण्डगेय—गीत भेद।

खण्डताल—ताल भेद।

खण्डमात्रा—गीत भेद।

स्वर—उद्दीपन विभाव के भेदों में एक।

(ग)

गण्ड—प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित सहसा उदित भिन्नार्थ।

गति—एक वृत्तिभेद, शब्दार्थ-सम्बन्ध के छः प्रकारों में।

गमक—गति वृत्ति का बोधन कराने वाला शब्द।

गम्यगमकत्व—शब्दार्थ-सम्बन्ध का एक सिद्धान्त ।

गर्भसन्धि—नाट्य सन्धियों के पाँच भेदों में एक ।

गाथा—गीत ।

गान्धार—संगीत के सात स्वरों में एक 'ग' ।

गुणीभूतव्यंग्य—अधम काव्य ।

गुण्डली—नृत्य भेद ।

गोत्रस्खलित—२१ सन्ध्यतरों में एक भेद ।

गोष्ठी—बीस उपरूपकों में एक ।

गौणी—लक्षणा भेद ।

ग्लानि—तैंतीस व्यभिचारीभावों में एक ।

(घ)

घोण्डा—वाद्य विशेष का नाम ।

(च)

चण्ड—ताण्डव नृत्य के तीन भेदों में एक ।

चतुरस्त्र—रङ्गमण्डप के तीन भेदों में एक ।

चम्पू—गद्य-पद्यमय काव्य का नाम ।

चर्चरी—वर्ण-ताल के साथ जहाँ दो स्त्रियाँ गायन करती हैं, (गीतभेद) ।

चारी—(१) एक वाद्य से किया गया पूर्वरंग का पूजन, (२) कार्य का विकास ।

चित्रगुण्डली—नर्तन भेद ।

चित्रतुरगधी—(न्याय) चित्र में दृष्टिगोचर होने वाले तुरग में तुरग की कल्पना ।

चित्रभाण—भाण नामक रूपक के तीन भेदों में एक ।

चूलिका—कथावस्तु के पाँच अर्थोपक्षेपकों में एक ।

चेटी—दासी पात्र ।

(ज)

जगती—बारह वर्णों वाले छन्द का नाम ।

जत्रु—ग्रीवास्थि (हंसुली) ।

जनान्तिक—दृश्य कथावस्तु का एक भेद ।

जाति—(१) ध्रुवा के पाँच हेतुकों में एक ।

जुगुप्सा—रति भेदों में एक ।

(ड)

डिम—दस रूपकों में एक ।

डोम्बिका—राजा की अनुरागमयी उक्तियों से जहाँ मन आकृष्ट होता है ।

डोम्बी—उपरूपक भेद ।

(त)

तत्त्व—शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन के ३६ तत्त्व ।

तत्सम—पदभेद में एक प्रकार ।

तद्भव—पदभेद का एक प्रकार ।

ताण्डव—नृत्य भेदों में देशी नृत्य का एक भेद ।

तात्पर्य—शब्दार्थ-सम्बन्ध के १२ भेदों में एक ।

तान—प्रधान टेक, विलम्बित स्वर ।

ताल—टेक देना, नियमित मात्राओं पर ताली बजाना ।

तैजस—पुरुष के (प्राज्ञ, तैजस् एवं विश्व) भेदों में एक, प्रकाशवान् ।

तोटक—उपरूपकों का एक भेद ।

त्रिगत—वीथी नामक रूपक भेद का एक अंग ।

त्रिनृत्त—वाक् अंग और सत्त्वाभिनय ।

त्रिपाणि—त्रिसाम का एक भेद ।

त्रिपुरमर्दन—ब्रह्मा के सामने अभिनीत नाटक (शंकरचरित) ।

त्रिभिन्न—गमक के ७ भेदों में एक ।

त्रिमूढक—लास्य नृत्य से १० भेदों में एक ।

त्रिरिपु—गमक के ७ भेदों में एक ।

त्रिलय—तीन लयों का समूह ।

त्रिसाम—त्रिनृत्त-त्रिलय एवं त्रिपाणि से युक्त नाम ।

त्र्यश्ररङ्ग—रङ्गमण्डप के तीन भेदों में तीसरा भेद ।

(द)

दक्षिण—नायक के ४८ भेदों में एक भेद ।

दण्डरासक—नृत्य के भेदों में देशी भेद के लता नामक भेद का एक उपभेद ।

दयावीर—वीररस का एक भेद ।

दीप्ति—मन-आरम्भानुभाव भेदों में एक ।

दुःख—क्लेश ।

दुर्मल्लिका—उपरूपकों का एक भेद ।

देशी—नृत्य के मार्ग और देशी भेदों में एक ।

द्युति—(१) अवमर्श सन्धि के १३ भेदों में एक, (२) विवक्षितार्थ को प्रकट करने वाली एक वृत्ति, शब्दार्थ-सम्बन्ध के छः भेदों में एक ।

द्वन्द्व—यति के तीन भेदों में एक जो गुरु तथा लघुओं से युक्त अव्यक्त वर्ण वाली होती है ।

द्विकल—दो मात्रा वाला छन्दोमय गीत ।

द्विखण्डक—गीत भेद ।

द्विपथक—गीत भेद ।

द्विपदी—गीत भेद ।

द्विमूढक—लास्य के १० भेदों में एक ।

(ध)

धीरललित—नायक भेद ।

धीरशान्त—नायक भेद ।

धीरोदात्त—नायक भेद ।

धैवत—संगीत के सात स्वरों में एक 'क' ।

(न)

नट—नाटक के अभिनेता का साधारण नाम ।

नटी—नाटक की अभिनेत्रियों का साधारण नाम ।

नन्दिमाली—विशिष्ट रचना वाले 'भाण' उपरूपक का एक भेद ।

नर्तन—गात्रविक्षेपमात्र ।

नर्मद्युति—प्रतिमुख सन्धि के १३ भेदों में एक ।

नवताल—संगीत भेद ।

नागरक—नागरिक ।

नाटक—रूपक के दस भेदों में प्रधान एक भेद ।

नाटकीया—नायिका भेद ।

नाटिका—नृत्त भेद (उपरूपक) २० में एक भेद ।

नाट्य—नट कर्म नृत्य या अभिनय के साथ कथोपकथन ।

नाट्यरसक—नृत्य भेदों के लता नामक भेद का एक उपभेद ।

नाद—ध्वनि, जिसे योगी समाधिस्थावस्था में सुनता है ।

नान्दी—देव-द्विजादि की आशीर्वादात्मक स्तुति ।

नायक—नाटक का नेता जिसके भेदोपभेद ४८ कहे गये हैं ।

नायिका—नाटक की प्रधान नेत्री जिसके भेदोपभेद ३८४ कहे गये हैं ।

नालिका—१३ वीथी के अङ्गों में एक, इसमें उपहास पूर्वक प्रहेलिका रहती हैं ।

निदर्शन—३६ आभूषणों में एक ।

निनाद—संगीत के सात स्वरों में एक 'नि' ।

नियताप्ति—पाँच अर्थ-प्रकृतियों में एक भेद ।

नियति—३६ तत्त्वों में शुद्धाशुद्धतत्त्वों का एक भेद ।

निरोध—प्रतिमुख सन्धि के १३ भेदों में एक ।

निर्ग्रन्थ—पात्र विशेष जिसे अधम माना जाता है ।

निर्मुण्ड—अन्तःपुरचारी सेवक जिसे अज्ञातकाम एवं निष्कोश कहा गया है ।

निर्वहण—सन्धि के पाँच भेदों में एक ।

निर्वेद—व्यभिचारीभावों में एक ।

निसर्ग—रति और प्रीति के भेदों में एक ।

नृत्त (रसाश्रित)—ताल और लय पर पद-संचालन ।

नृत्य (भावाश्रित)—अंग-विक्षेप द्वारा भाव-प्रदर्शन ।

न्यास—हावभाव से दिखाये जाने वाला ध्यान ।

(प)

पञ्चम—संगीत के सात स्वरों में एक ।

पणवताल—ताल भेद ।

पताका—नाटक की पाँच अर्थप्रकृतियों में एक 'प'।

पताकास्थानक—अचिन्तित रूप में आये पदार्थ से सादृश्य के कारण हुआ कार्य। पताकास्थानक के चार प्रकार हैं।

पद—अन्वित एक अर्थ का बोधक वर्ण समुदाय।

पद्धति—काव्य विच्छेद के भेदों में एक।

परिकर—मुख नामक सन्धि का एक भेद।

परिघट्टना—पूर्वरंग का एक भेद जिसमें तन्त्री-वादन तेज किया जाता है।

परिच्छेद—काव्य विच्छेद के भेदों में एक।

पर्युपासन—प्रतिमुख सन्धि के १३ भेदों में एक।

पाञ्चालरीति—रीति का एक भेद।

पारिजातक—उपरूपकों में एक।

पारिपार्श्विक—नाटक में सूत्रधार का सहायक।

पिङ्गला—शिरजालधरा नामक तीन शिराओं में एक।

पिण्डीबन्ध—नृत्य भेदो के उपभेदों में एक।

पीठमर्द—पात्र विशेष।

पुलिन्द—पात्र विशेष।

पुष्पगण्डिका—लास्य नृत्य के १० भेदों में एक।

पूर्वभाव—कार्य दृष्टि को पूर्वभाव कहा जाता है, निर्वहण सन्धि का भेद।

पूर्वरङ्ग—विघ्न निवारणार्थ नटों द्वारा रङ्गमण्डप में की गयी पूजा।

पैशाची—भाषा भेद।

पौरस्त्या—प्रवृत्ति भेदों में एक।

प्रकरण—दस रूपक भेदों में एक।

प्रचण्ड—ताण्डव भेदों के तीन भेदों में एक।

प्रच्छेदक—लास्य नृत्य के दस भेदों में एक।

प्रतारण—कपट।

प्रतिनाद—ध्वनि के दो भेदों में एक।

प्रतिमुख—पाँच सन्धि-भेदों में एक।

प्रतिश्रुत—मार्ग गमक भेदों में एक।

प्रतीहारी—राजदरबार की सेविका।

प्रयत्न—पाँच कार्यावस्थाओं में एक।

प्ररोचना—अवमर्श नामक सन्धि के १३ भेदों में एक।

प्रलाप—वागारम्भानुभावों के द्वादशभेदों में एक।

प्रविभाग—शब्दार्थसम्बन्ध के १२ प्रकारों में एक प्रकार।

प्रवेशक—पाँच अर्थोपक्षेपकों में एक।

प्रस्तावना—आमुख (भूमिका)।

प्राकृत—भाषा-भेदों में एक भेद।

प्रावेशिकी—ध्रुवा के पाँच भेदों में एक भेद ।

प्राश्निक—सभासदों में एक ।

प्रासङ्गिक—(अप्रधान) कथावस्तु का गौण भाग ।

प्रेक्षक—(उपरूपक का एक भेद) निष्पक्ष दर्शक ।

प्रेक्षणक—उपरूपक भेद तथा (त्रिपुरमर्दन) ।

(ब)

बिन्दु—पाँच अर्थप्रकृतियों में एक ।

बिब्बोक—गात्रारम्भानुभावों में स्त्रियों के एक भाव का नाम ।

बीज—पाँच अर्थप्रकृतियों में एक ।

बीभत्स—आठ रसों में एक ।

बृन्द—गायकों का समूह ।

(भ)

भग्नताल—गीतभेद ।

भट्टिनी—सेवक और सेविकाओं द्वारा महादेवी को पुकारने का नाम ।

भदन्त—बौद्धभिक्षुकों तथा दिगम्बर साधुओं को पुकारने का नाम ।

भद्रासन—यन्त्र-नाम, जिसके माध्यम से गुल्मबन्ध-पिण्डीबन्ध आदि नृत्य भेदों की शिक्षा दी जाती है ।

भायनक—रस के आठ भेदों में एक ।

भरत—नाट्य प्रयोक्ता ।

भाण—दस रूपकों में एक ।

भाणिक—उपरूपकों के २० भेदों में एक जिसमें बाल क्रीड़ाएँ आदि सूकर-सिंह आदि क्रीड़ाएँ होती हैं ।

भाणी—उपरूपक का एक भेद ।

भाण्ड वाद्य—अंगहारों से किये ताण्डव नृत्य में इस वाद्य का प्रयोग होता है ।

भारती—बुद्ध्यारम्भानुभाव की वृत्ति का एक भेद ।

भाव—(१) मन आरम्भानुभावों का एक विशिष्ट भेद (२) नाट्य प्रयोक्ताओं में से एक ।

भाविक—मनोभाव से व्यथित नायिका द्वारा व्यक्त किया गया भाव ।

भावुक—सहृदय ।

भाव्य-भावक—शब्दार्थ-सम्बन्ध का एक प्रकार ।

भाषा—भाव आदि अर्थ की प्राप्ति का साधन, निर्वहण का भेद ।

भास्वर—नाटक के पाँच भेदों में एक ।

भिन्न—मान पंचक का एक भेद ।

भूमिचारी—लास्ययुक्त नृत्यभेद ।

भैरव—शकारादि ७ वैभाषिकों में एक भेद ।

(म)

मज्जा—शरीर के सात धातुओं में एक।

मण्डलारासक—नृत्य भेदों के मधुर (लास्य) भेद के लता नामक भेद का एक नाम।

मत्तल्लिका—दुर्मल्लिका उपरूपक का अन्य नाम।

मन्द्र—स्थानत्रय (मन्द्र, मध्य, तार) में एक भेद।

मत्तपाली—गाथा भेद।

मल्लिका—उपरूपकों का एक भेद।

महत्तरी—संचारिकाओं में एक नाम।

महाचारी—समूह में मण्डलादि द्वारा पूर्व रङ्ग-पूजन।

मागधी—भाषा भेदों में एक।

माठरपूज्य—दक्षिण जनपद का एक ग्राम जहाँ 'शारदातनय' का जन्म हुआ था।

मात्रा—स्वरों के उच्चारण पर लगने वाले समय का परिमाण।

मान—वियोग शृङ्गार के दो भेदों में एक भेद जो नायिका द्वारा सकोप व्यक्त होता है।

मारिष—नाटकों में आदरणीय या पूज्य पात्र को 'मारिष' शब्द द्वारा सम्बोधित किया जाता है।

मार्ग—नृत्य के दो भेदों में एक।

मार्गणिका—नृत्य भेद।

मुक्तक—स्वतन्त्र रचना।

मुख—सन्धि के पाँच भेदों में एक।

मोट्टायित—गात्रारम्भानुभावों (स्त्रियों के) का एक नाम।

म्लेच्छभाषा—यवन जनपद में बोली जाने वाली भाषा।

(य)

यति—पद्य की पंक्ति के मध्य में और अन्त में रुकने का निश्चित स्थान।

यवनिका—रङ्गमण्डप का बाहरी परदा।

यामिनिकी—संचारिकाओं में एक जो रात्रि के समय सेवा करती है।

युक्ति—मुख सन्धि के १२ भेदों में एक।

युगल—दो पात्रों द्वारा किसी एक ही विषय का प्रतिपादन।

युद्धवीर—वीर रस के तीन भेदों में एक।

(र)

रङ्गद्वार—पूर्वरङ्ग का मुख्य द्वार जहाँ वाक् और अङ्गाभिनय होता है।

रङ्गपीठ—रङ्ग-मंच के बाहरी भाग का भीतरी लघु भाग।

रङ्गमंडप—रङ्गमञ्च।

रति—स्थायी भावों में शृङ्गाररस का स्थायीभाव।

रथ्याताल—गीत भेद।

रस—विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी भावों के संयोग से सहृदय के मन में होने वाली निष्पत्ति।

राग—३६ तत्त्वों में शुद्धाशुद्ध तत्त्वों का एक भेद।

रासक—उपरूपकों का एक भेद।

रीति—शैली इसके १०५ भेद माने गये हैं।

रूक्ष—उद्दीपन विभाव के भेदों में एक।

रूपक—दृश्य काव्य का सामान्य नाम।

रौद्र—आठ रसों में एक।

रौद्राभास—जहाँ रौद्ररस-वर्णन में अनौचित्य हो।

(ल)

लक्षणा—वृत्ति भेद का एक नाम जिसमें मुख्यार्थ बाधित होता है।

लक्षणलक्षणा—लक्षणा नामक शब्दशक्ति का एक भेद जो लक्ष्यार्थ को बताने के लिये अपने मुख्यार्थ का परित्याग करता है।

लक्ष्यक्रमव्यंग्य—ध्वनिभेद।

लम्बवच्छेद—प्राकृत भाषा में रचित काव्यों के भागों का नाम।

लय—श्रुतियों का आरोह-अवरोह।

ललित—(१) उद्दीपन विभाव के आठ भेदों में एक, (२) गात्रारम्भानुभावों का भेद, (३) नाटक के पाँच भेदों में एक।

ललिताभास—उद्दीपन विभाव के आठ भेदों में एक।

लाट—रीति के भेदों में एक।

लाटी—रीति का एक भेद।

लासक—उपरूपकों का एक भेद।

लास्य—नृत्य के भेदों में देशी का एक भेद।

लीन—(१) गति के आठ भेदों में एक (२) गमक के सात भेदों में एक।

लीला—गात्रारम्भानुभावों का एक भेद।

(व)

वक्त्रपाणि—पूर्वरंग के १२ अंगों में एक।

वन्दी—स्तुति पाठक।

वर्धमानक—अभिनय की उत्तरोत्तर वृद्धि।

वर्षवर—अन्तःपुरचारी सेवक जो स्त्री स्वभाव वाला माना गया है।

वसन्तक—विदूषक।

वाक्केलि—उक्ति-प्रत्युक्ति।

वाक्यानुच्चारण—हा वत्स! इत्यादि वाक्यानुच्चारण होते हैं।

वाचक—अभिधा वृत्ति को बताने वाला शब्द।

विच्छित्ति—गात्रारम्भानुभावों का एक नाम।

विट—पात्र विशेष (नीच पात्र)।

विताल—ताल भेद।

विदूषक—राजा का मित्र।

विद्या—३६ तत्त्वों में शुद्धाशुद्धतत्त्वों का एक भेद।

विद्युत—२२ मार्ग गमकों में एक।

विप्रिय—अङ्गीकृत को पूरा न करना।

विबोध—निर्वहण सन्धि के १४ भेदों में एक।

विभाव—५ भाव भेदों में एक जिसके आलम्बन और उद्दीपन दो मुख्य भेद हैं।

विभाषा—उपभाषा।

वियोग शृङ्गार—नायक-नायिका में अलगाव की स्थिति।

विलोभन—मुख सन्धि के १२ भेदों में एक।

विवक्षा—शब्दार्थ सम्बन्ध के १२ प्रकारों में एक।

विशोधन—परिवाद के भय से दोष-परिमार्जन क्रिया।

विश्राम—संगीत-प्रकार।

विष्कम्भ—पाँच अर्थोपक्षेपकों में एक।

विहसित—हास्यरस के भेदों में एक।

विहालिक—वैभाषिक भेद।

वीथी—रूपकों में एक भेद।

वीथ्यङ्ग—वीथी नाम के अंग समूह का नाम।

वीराभास—वीर रस का अनौचित्य वर्णन।

वृत्तरङ्गमण्डप—रङ्गमण्डप के तीन भेदों में एक।

वृत्ति—शब्दार्थ-सम्बन्ध के १२ प्रकारों में एक।

वैतालिक—सभासदों में एक।

वैशिक—नायक भेदों में एक नाम।

व्यपेक्षा—शब्दार्थ-सम्बन्ध के १२ प्रकारों में एक प्रकार।

व्यभिचारी (भाव)—भाव के पाँच भेदों में एक।

व्यायोग—दस रूपकों में एक।

व्रीडा—३३ व्यभिचारी भेदों में एक।

(श)

शकार—राजा की पत्नी का भाई।

शक्वरी—छन्द का नाम जिसका प्रयोग करुण रस में होता।

शबर—भील।

शम—शान्तरस का स्थायीभाव।

शान्तरस—रस का नाम जो नाट्य कर्म में अनुपयोगी माना गया है।

शिव—३६ तत्त्वों में शुद्धतत्त्व का एक भेद।

शिवौ—शिव और सदाशिव दो आचार्यों का बोधक पद।

शिल्प—कला।

शिल्पक—उपरूपक भेद।

शृङ्ग—समाज (गायकों का समुदाय)।

शैलूष—नाट्य प्रयोक्ताओं का एक नाम।

शौण्ड—पुरुष जिसकी भुजाओं में हाथी के सूड़ जैसा बल होता है।

शौरसेनी—भाषा भेद।

श्रीगदित—उपरूकों का एक भेद।

श्रुति—ध्वनि जिसके २२ प्रकार होते हैं।

(ष)

षड्जग्राम—संगीत के सात स्वरों में एक 'स'।

(स)

सङ्घट्टना—पूर्वरंग का एक भेद।

सङ्घात—विभिन्न सरस वाक्यों का संग्रह जो एक नियम से ग्रथित होने पर संघात कहलाता है।

सट्टक—बीस उपरूपकों में एक।

सन्धिबन्ध—अपभ्रंश भाषा में निबद्ध काव्य का नाम।

संभग्नताल—गीत भेद।

सभ्य—सामाजिक।

समान—शरीर में स्थित पाँच वायु भेदों में नाभि में रहने वाली वायु।

सर्गबन्ध—ऐतिहासिक वर्णन में निबद्ध काव्य का नाम।

संलाप—उपरूपकों का एक भेद।

सल्लापक—उपरूपकों के २० भेदों में एक।

संफेट—अवमर्श सन्धि के १३ भेदों में एक।

संस्कृत—नाट्य की ६ भाषाओं में एक।

सात्वती—बुद्ध्यारम्भानुभावों के वृत्ति नामक भेदों में एक, सत्त्वप्रधान वृत्ति।

सात्त्विक—अभिनय के चार भेदों में एक।

सामाजिक—दर्शक, पाठक और श्रोता का एक साधारण नाम।

सांप्रयोगिकी—रति को सांप्रयोगिकी कहा गया है।

सारोपा—लक्षणावृत्ति के उपभेदों में एक।

सुषुम्ना—शिरजालधरा नामक तीन शिराओं में एक।

सूच्य—कथावस्तु के दो भेदों में एक।

सूत—सभासदों में एक।

सूत्रधार—नाटक में नान्दी के बाद आने वाला पात्र जो वस्तु की सूचना देता है।

सैन्धव—लास्य नृत्य के १० भेदों में एक।

सौराष्ट्री—रीति का एक भेद।

स्थायी—भाव के पाँच भेदों में एक।

स्फोट—शब्दार्थ-सम्बन्ध में वैयाकरणों के बाद का नाम (स्फोट-ध्वनि)।

स्वप्न—(१) नींद में विषयानुभव (२) २१ सन्ध्यन्तरों में एक भेद ।

स्वर—(१) अच् वर्ण (२) संगीत के सा, रे, ग, म, प, ध, नि—सात स्वर ।

स्वरभेद—आठ सात्त्विक भावों में एक ।

(ह)

हञ्जा—दासी को बुलाने का नाम ।

हल्लीस—उपरूपकों का एक भेद ।

हालिक—सात वैभाषिकों में एक नाम ।

हाव—मन-आरम्भानुभावों के दस भेदों में एक ।

हास—रति भेदों में एक ।

हास्य—रसों के आठ भेदों में एक ।

हास्याभास—हास्यरस के विपरीत किया गया प्रदर्शन या वर्णन ।

हेतु—(१) ३६ भूषणों में एक, (२) २१ सन्ध्यन्तरों में एक ।

हेला—मन-आरम्भानुभावों में एक ।

●